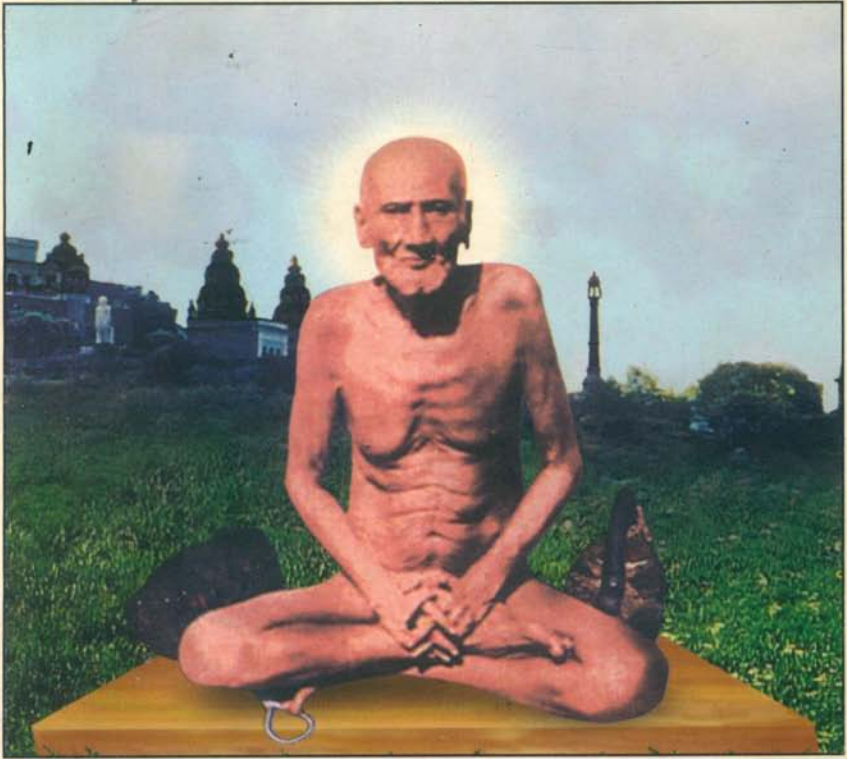


प्राकृत विद्या

समाधि-विशेषाङ्क

वर्ष 16, अंक 1-4, (संयुक्तांक) जनवरी-दिसम्बर 2004 ई.



सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पर
प.पू. चारित्र्यकवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज
ध्यानस्थ

धनतेरस या ध्यानतेरस ?

ॐ आचार्य विद्यानन्द मुनि

तीर्थकर महावीर का निर्वाणोत्सव प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीपावली के रूप में मनाया जाता है। यह प्रकाश का पर्व है, ज्ञान का पर्व है।

दीपावली से दो दिन पूर्व कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को हम 'धनतेरस' का पर्व भी मनाते हैं जो वस्तुतः धनतेरस नहीं है, ध्यानतेरस है, क्योंकि उस दिन तीर्थकर महावीर पूर्ण योग-निरोध करके परम शुक्लध्यान में स्थित हो गये थे।

यह विडम्बना ही है कि धनलोलुपी लोगों ने इस 'ध्यानतेरस' को भी 'धनतेरस' के नाम से विकृत कर दिया है और इस दिन 'ध्यान' की बजाय धन (रुपये-पैसे, लक्ष्मी) की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया है। इसे संसारी प्राणियों की वित्तैषणा का ही चमत्कार समझना चाहिये।

ध्यानतेरस एक अत्यन्त महान् पर्व है। इस दिन हमें ध्यान का स्वरूप एवं महत्त्व समझना चाहिये। ध्यान की पवित्र भावना करनी चाहिये और थोड़ा-बहुत समय निकाल कर, पाँच-दस मिनट ही सही, यथाशक्ति ध्यान भी अवश्य करना चाहिये। ध्यान में महान् शक्ति है। कहा गया है कि— 'ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।'।

अर्थ :— ध्यानरूपी अग्नि सर्वकर्मों को क्षण भर में भस्म कर देती है।

अज्ञानी जीव अनादि काल से वित्तैषणा एवं लोकैषणा में उलझे हुए हैं और इसीकारण वे इस महान् ध्यानपर्व ध्यानतेरस को भी धनतेरस समझकर इस दिन धन की पूजा करने लगे हैं, परन्तु इस विषय में उन्हें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि धन की प्रप्ति जीव के पूर्व पुण्योदय एवं प्रबल पुरुषार्थ से ही होती है, किसी की पूजा से नहीं। अनेक लोग ऐसे हैं जो प्रतिदिन लक्ष्मी की पूजा करते हैं फिर भी निर्धन हैं और अनेक लोग ऐसे भी हैं जो कभी लक्ष्मी-पूजा नहीं करते, फिर भी बड़े धनवान हैं। विचारणीय है कि डॉलर, पौण्ड, येन (जापानी-मुद्रा) कमाने वाले इतरदेशीय लोग कब किस लक्ष्मी की पूजा करते हैं? वस्तुतः लक्ष्मीपूजा का तात्पर्य प्रबल पुरुषार्थ ही से समझना चाहिये।

धन-लक्ष्मी की प्रप्ति का तो एक ही अमोघ मन्त्र है, जिस पर अत्यन्त गहराई से विचार करना आवश्यक है— 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी।'

अर्थ :— लक्ष्मी परिश्रमी एवं पराक्रमी पुरुष का ही वरण करती है।

लोग आज के दिन पात्र (बर्तन) खरीदते हैं, उसका भी असली अभिप्राय यही था कि ध्यान के पात्र बनो, पर लोग मात्र बर्तनादि खरीदकर इतिश्री समझ लेते हैं।

कहने का मूल तात्पर्य यह है कि आज कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को हम धनतेरस नहीं, ध्यानतेरस समझें और इस दिन धन की नहीं, ध्यान की उपासना करें। आज के दिन थोड़ी देर ही सही, अवश्य धर्मध्यान करें, आत्मध्यान करें। वर्ष में 365 दिन तो धनतेरस मनाते ही हैं, कम से कम आज एक दिन तो ध्यानतेरस अवश्य मनायें। गृहस्थ श्रावक धर्मध्यान हेतु दैनिक षट् आवश्यकों का भी पालन करें—

“देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दान चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।”





॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या

पागद-विज्ञा

PRAKRIT-VIDYA

Pagad-Vijna

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की वर्तमान राष्ट्रभाषा हिन्दी तक की विकस-यात्रा दर्शानेवाली समर्पित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The devoted quarterly research journal develop progress showing of
Prakrit Apbhramsha, Ancient Indian Languages & National Hindi Language

वीरसंवत् 2531 जनवरी-दिसम्बर '2004 ई. वर्ष 16 अंक 1-4
Veersamvat 2531 January-December '2004 Year 16 Issue 1-4

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2016

सम्पादक-मण्डल

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

प्रो. (डॉ.) प्रेमसुमन जैन

प्रो. (डॉ.) शशिप्रभा जैन

डॉ. वीरसागर जैन

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

श्री पारसदास जैन

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. सत्यप्रकाश जैन

प्रकाशक

श्री सुरेशचन्द्र जैन

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

मन्त्री

Secretary

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 26564510, 26513138

Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (011) 26564510, 26513138

★ मूल्य प्रति अंक - बीस रुपये (भारत में) 2.0 \$ (डालर) भारत के बाहर

माँ के संस्कार

‘पंचनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यालंबनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा।’

—आचार्य जयसेन, समयसार टीका, गाथा 326

भावार्थ :- पंचनमस्कारमन्त्रादि तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना धारणा है।

वस्तुतः धारणा ध्यान की पूर्व भूमिका है। संस्कार के उत्पन्न करनेवाले ज्ञान को ही धारणा कहते हैं।

जन्म के 49 दिन पश्चात् बच्चे को तिलक लगाकर णमोकार मन्त्र कान में सुना कर सुसंस्कारित करने की परम्परा है। बड़ा होने पर माँ/दादीमाँ बच्चे को सर्वप्रथम णमोकार मन्त्र ही सिखाती है।

‘A good mother is better than hundred teachers’

एक सुशिक्षित, सभ्य, सदाचारिणी एवं धर्मपरायण माता अपनी सन्तान को जैसा सुसंस्कारसम्पन्न, धीर, द्रौढ तथा चारित्र-मणि बना सकती है, वैसा सौ अध्यापक भी नहीं कर सकते, अतः माता ही बालक के लिए प्रथम आदर्श शिक्षिका है, बालक का अधिक समय जननी के पास ही व्यतीत होता है। अतः देश, धर्म और जाति के अभ्युत्थान के लिए उन्हें सर्वांगीण—उदात्त-सम्पदाओं से विभूषित करना और धर्म के प्रति अटूट आस्थावान् बनाना माताओं पर ही निर्भर करता है।

केवल बालक को जन्म देने मात्र से कोई ‘माँ’ नहीं कहला सकती। आचार्यश्री कुन्दकुन्द, आचार्यश्री समन्तभद्र, श्री अकलंकदेव, समाधिसम्राट् प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर एवं श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी जैसे लोकवन्दित पूज्यजन अद्वितीय महात्मा बन सके — यह सब माँ के संस्कारों का ही सुफल है। इस संक्रमण काल में माताएँ अपने इस आद्य कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहें — यह अत्यन्त आवश्यक पवित्र कर्त्तव्य है।

—आचार्य विद्यानन्द मुनि

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	मंगलाचरण : आचार्यश्रीशान्तिसागरस्तोत्रम्	आचार्य कुन्धुसागर	5
02.	सम्पादकीय : साधना का अभीष्ट	डॉ. सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली	6
03.	अनेकान्तवाद से आतंकवाद-निवारण	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	10
04.	समाधि और सल्लेखना	उपाध्याय निर्णयसागर	14
05.	सल्लेखना आत्मकल्याण है	आर्यिका बाहुबली माताजी	17
06.	सल्लेहणा थुदि	डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर	20
07.	जैनदर्शन में सल्लेखना : एक अनुशीलन	डॉ. दरबारीलाल कोठिया, बीना	22
08.	आत्म-साधना का शिखर : समाधिमरण	डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच	34
09.	सल्लेखना : जिज्ञासा और समाधान	प्रो. सुदर्शन लाल जैन, वाराणसी	39
10.	तत्त्वार्थसूत्र एवं श्रावकाचारों में सल्लेखना	डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	46
11.	मृत्यु के गीत	रामधारी सिंह 'दिनकर'	55
12.	जीवन साधना का फल : आत्मधर्म की प्राप्ति	पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी	57
13.	मृत्यु महोत्सव भारी	श्री नीरज जैन, सतना	63
14.	आत्मोत्थान में सल्लेखना की भूमिका	डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई	71
15.	सल्लेखना-विधि	पं. नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर	77
16.	समाधि और सल्लेखना	पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, जयपुर	80
17.	हर बार बदल देता मधुवन	पं. विनय कुमार पथिक, मथुरा	86
18.	सल्लेखना और समाधिमरण	प्रो. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर	88
19.	जैन पुराणों में प्रतिपादित सल्लेखना	डॉ. कस्तूरचन्द्र सुमन, श्रीमहावीरजी	99
20.	वीर मरण : कुछ विचार	डॉ. निर्मलकुमार फड़कुले, सोलापुर	103
21.	सल्लेखना : सार्वकालिक उपयुक्तता	डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे, जयसिंगपुर	107
22.	जैनेतर दर्शनों में सल्लेखना	डॉ. भागचन्द्र भास्कर, नागपुर	112
23.	सिद्ध नाम सत्य है	श्री मिश्रीलाल जैन, गुना	117
24.	मरण : एक निश्चित स्थिति	डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, दिल्ली	118
25.	सल्लेखना क्यों? और कब?	डॉ. कपूरचन्द्र जैन, खतौली	122
26.	जैनसघ में सल्लेखना का इतिवृत्त	डॉ. कामताप्रसाद जैन, अलीगंज	126
27.	जैन शिलालेखों में सल्लेखना	डॉ. रमेशचन्द्र जैन, विजनाौर	131
28.	जब प्राण तन से निकलें		143
29.	समाधिमरण : जीवन-सुधार की कुंजी	पं. रतनलाल कटारिया, केकड़ी	144

30. सल्लेखना की विधि	पं. मनोहरलाल शास्त्री, एटा	147
31. सल्लेखना आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं	पं. फूलचन्द जैन बरैया	151
32. सल्लेखना एवं भारतीय दण्ड-विधान	श्री अनूपचन्द्र जैन एड., फिरोजाबाद	155
33. समाधिमरण	पं. राकेश जैन शास्त्री, दिल्ली	162
34. क्षपक समाधि		169
35. समाधिमरण-पाठ	पं. दौलतराम कासलीवाल	188
36. समाचार-दर्शन		202

मैं नमों नगन जैन जन, ज्ञान ध्यान धन लीन।

मैंन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन।।

—(पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, प्रस्तावना, पृष्ठ 34)

मैं ज्ञान और ध्यानरूपी धन में लीन रहने वाले, काम और अभिमान से रहित, मेघ के समान धर्मोपदेश की वर्षा करने वाले, पापरहित (निष्पाप) क्षीणकषाय, नग्न दिगम्बर जैन साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजालमार्गाः, पुंसां चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहाः।

निःश्रेयसामृतरसागमनाग्रदूताः, शुक्लाः कचा ननु तपश्चरणोपदेशाः॥

—(यशस्तिलकधम्मू 2-104. पृष्ठ 225)

ये धवल केश तुम्हें तपश्चर्या का पाठ पढ़ाने आये हैं। ये मुक्तिलक्ष्मी के दर्शन के झरोखे के मार्ग तुल्य हैं, चतुर्थ-पुरुषार्थ मोक्षरूपी वृक्ष के अंकुर समान हैं, परमकल्याणरूप निर्वाण के आनन्दरस के आगमनद्योतक अग्रदूत हैं।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुर्कोभवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः।
तच्छ्वेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्, भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि॥

—(महाकवि कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5-140)

अर्थात् कभी-कभी सुखी प्राणी भी मनोरम पदार्थों का दर्शन, मधुर शब्दों का श्रवण करते हुए भी अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है; इससे प्रतीत होता है कि वह अन्तःकरण में अंकित पूर्वजन्म के प्रेम को स्मरण करता है।

हिमालयस्य ऋषीनुद्दिश्य वचः

अद्यप्रभृति भूतानामभिगम्योऽस्मि शुद्धये।

यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥

—(महाकवि कालिदास, कुमारसम्भव, 6-56)

आज से मैं उसी की शरण को प्राप्त करता हूँ जो सभी जीवों की शुद्धि के लिए बताया गया है, क्योंकि जो अरिहन्तों के द्वारा कहा गया है वही वास्तव में तीर्थ है।

॥ श्रीशान्तिसागराय नमः ॥

आचार्यश्रीकुन्थुसागरविरचितम्
आचार्यश्रीशान्तिसागरस्तोत्रम्

श्रेष्ठजातिकुलोत्पन्नो निर्ग्रन्थो दोषदूरगः।
 स्वान्तर्लीनः सदानन्दो दशधर्मपरायणः ॥ 1 ॥
 स्वाध्यायध्यानधर्मेषु भव्यानां स्थितिकारकः।
 प्रभावनाविधौ दक्षः सर्वेषां दुःखहारकः ॥ 2 ॥
 निःशल्यो निर्मदः शान्तो जीवानां प्रतिपालकः।
 निन्दास्तुतौ वियोगे च समतारसतत्परः ॥ 3 ॥
 षट्त्रिंशत्सुगुणैर्युक्तो मुनिवृन्दनमस्कृतः।
 द्रव्यक्षेत्रानुसारेण प्रायश्चित्तविधायकः ॥ 4 ॥
 सदाधीरः क्षमावीरो दयालुर्भक्तवत्सलः।
 शान्तिसिन्धुर्दयामूर्तिस्तत्त्वज्ञानपरायणः ॥ 5 ॥
 पूतात्मा सकलैः पूज्यः स्तुत्यात्मा योगतत्परः।
 मुनीनां श्रावकाणां च चारित्रप्रविधायकः ॥ 6 ॥
 येन स्वस्य विहारेण सर्वे विघ्नाः शमीकृताः।
 अत एव सदा वन्द्य आचार्यः शान्तिसागरः ॥ 7 ॥
 तस्याचार्यस्य शिष्येण कुन्थुसागरयोगिना।
 भवबीजविनाशाय स्तोत्रमेतत्कृतं मया ॥ 8 ॥
 भवभीतिविनाशाय लब्धुं शान्तिं सुखं तथा।
 इदं स्तोत्रं पठेन्नित्यं श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥ 9 ॥ ❖❖

साधना का अभीष्ट

डॉ. सत्यप्रकाश जैन

पाप पुण्य मिल दोइ पायनि बेड़ी डारी।

तन कारागृह बांही मोहि दिये दुख भारी।।

इन पंक्तियों में कवि भूधरदास ने तन को कारागृह माना है। एक दार्शनिक ने श्रीकृष्ण के विषय में लिखा था— लोग कहते हैं श्रीकृष्ण का जन्म जेल में हुआ। मैं कहता हूँ कि आत्मा के लिए यह शरीर जेल ही है। आत्मा ने शरीर धारण किया तो आत्मा को जेल हो ही गई। क्या अन्तर पड़ता है जेल जेल में हुई या जेल के बाहर हुई। आत्मा जब भी पर्याय धारण करती है आत्मा को जेल हो जाती है। पर्याय की परिभाषा करते हुए ध्वला में आचार्य कहते हैं— **परिसमन्तादायः पर्यायः**—जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो सो पर्याय है। जो स्वभाव विभाव रूप से गमन करती है अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है। नई पर्याय धारण करने में आयु व नाम, गोत्र कर्म का योगदान रहता है। आत्मा के लिए सबसे पहला बन्धन पर्याय है। आत्मा जब पर्याय धारण करती है तो किसी न किसी परिवार में उसका जन्म होता है। संसारी जीव के कर्म संकुल को ही परिवार संज्ञा दी जा सकती है। आत्मा के लिए दूसरा बन्धन परिवार है।

परिग्रह की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने लिखा है— **परि आ समन्तात् गृह्णाति आत्मानम् इति परिग्रहः**—जो आत्मा को चारों ओर से अपनी चपेट में ले ले वह परिग्रह है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य आगे कहते हैं— **मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः। ममेदं बुद्धिलक्षणः परिग्रहः।** अर्थात् यह मेरा है यह बुद्धि या ममत्व परिणाम ही परिग्रह है। आत्मा के लिए तीसरा बन्धन परिग्रह है।

यू तो मनुष्य पर्याय में धन धान्यादि बाह्य परिग्रह है अन्य पर्यायों में इनकी उपलब्धता नहीं होती अतः वहाँ कर्मोपाधिजन्य स्वपर्याय के प्रति ममत्व परिणाम ही उसका परिकर व उसका परिग्रह है। इसके वशीभूत होकर ही जीवन पर्यन्त नाना संकल्प-विकल्पों में जीव जीता है और नवीन कर्म बन्धन आगे के जन्म-मरण के दुष्क्रम में फँसता चला जाता है। मनुष्य पर्याय में विवेक एक विशिष्ट गुण

है, जिसे अभिव्यक्त करने के लिए आचार्यों ने प्रमुखता दी है। तत्त्वार्थश्रद्धान विवेक का ही रूपान्तर है। स्वयं की स्थिति को जानकर जीव के कर्मों से छूटने के उपक्रम को विवेक रूप आचरण को ही सम्यक्चारित्र संज्ञा से अभिव्यक्त किया गया है। व्रतादिकों को धारण करना विवेकाश्रित ही होता है। सामान्य जीवन भी विवेक के आधीन है किन्तु व्रतादिकों के माध्यम से जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की प्रेरणा आचार्यों ने दी है। इसीलिये जहाँ श्रावकों को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने की बात कही गई है, वहीं व्रतों के माध्यम से शरीर के प्रति चिरकालीन ममत्व को तोड़ने के लिए सल्लेखना-विधि का उल्लेख किया गया है। सल्लेखना का अर्थ जीवन को सम्यक् प्रकार से लेखित करना है क्योंकि जीवन भावों पर केन्द्रित होता है। इसलिये जैन-परम्परा में भावशुद्धि पर विशेष जोर दिया जाता है। मान्यता भी है भावना भवनाशिनी, भावना भववर्द्धिनी। शुद्ध भाव की प्राप्ति का आधार स्तम्भ भेद-विज्ञान है। सांसारिक अवस्था में भेदविज्ञान – वीतराग विज्ञान, स्व-पर विवेक के माध्यम से शुद्ध भाव की ही प्राप्ति हेतु सम्यक आराधना का अवलम्बन करने की बात कही गई है। सम्पूर्ण जैनदर्शन इसी के इर्द-गिर्द घूमता है। इसकी विचारणा, तर्कणा और निष्पत्तियाँ सभी जीवन के उच्च भावों को प्राप्त करने के लिए है। चाहे वह सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो अथवा सम्यक्चारित्र। यह बात निर्विवाद है कि दर्शन और ज्ञान की परम परिणति चारित्र से ही होती है। संयम, व्रत, आचरण का अभिधेय जीवन को उच्च भावों तक ले जाना है।

स्वभावतः आत्मा न तो जन्म लेता है, न उसकी मृत्यु होती है, न वह बँधता है, न व छूटता है। पर्याय, परिवार व परिग्रह संसारी जीव की नियति है। पर्यायातीत या परिग्रहातीत होने के लिए सबसे अधिक आवश्यक है भेदविज्ञान, सम्यक्दर्शन की प्राप्ति। आचार्यों ने सम्यक्दर्शन की महत्ता समझाते हुए लिखा है कि इसके बिना वृद्ध से वृद्ध व्यक्ति भी बाल है।

सम्यक्दर्शन के बिना व्रत को भी आचार्य व्रत न मानकर कुल परम्परा मानते हैं। आचार्य पाँचवें गुणस्थान से पहले जीव को श्रावक मानने को तैयार नहीं है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य समन्तभद्र आदि आचार्य और श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र आदि आचार्य पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव को ही श्रावक मानते हैं। पाँचवाँ गुणस्थान है— देशविरत सम्यग्दर्शन। इसका स्पष्ट अर्थ है कि आचार्य सम्यग्दर्शन से पहले देश जीव को व्रत, संयम आदि धारण करने के योग्य नहीं मानते।

सल्लेखना व्रत, संयमपूर्ण आचरण का अन्तिम पड़ाव है। सम्पूर्ण जीवन में संयम और व्रतों की आराधना इसी सल्लेखना की प्राप्ति के लिए की जाती है। जहाँ पाक्षिक, नैष्ठिक एवं साधक की श्रेणियों में विभक्त सभी श्रावक अपनी-अपनी

भूमिका के अनुसार समाधिमरण प्राप्ति की भावना भाते हैं वहीं श्रमणचर्या में रत साधु, आहार और कषायों को कृश करते रहने का निरन्तर उद्यम करते हैं। गुप्ति, समिति, मूलगुण आदि का पालन करते हुए अपनी चर्या के माध्यम से भावों को करने का निरन्तर प्रयास करते हैं।

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् की अवधारणा का प्रचार-प्रसार करने वाला था चार्वाक दर्शन, जिसका एक मात्र साध्य ऐहिक सुख प्राप्त करना था। उसी अवधारणा का आज पुनः प्रचार-प्रसार हो रहा है। भोग-उपभोग की प्रवृत्ति को वृद्धिगत करने वाले भाव विज्ञापन आदि के माध्यम से व्यंजित हो रहे हैं। अनेक भौतिक समृद्धियों के बीच भी आज मनुष्य एक विचित्र, किन्तु सत्याश्रित अनुभूति के धरातल पर रिक्तता की अनुभूति कर रहा है। उस रिक्तता की पूर्ति का उपाय आचार्यों ने श्रमण-परम्परा का पालन बताया है। उसे रत्नत्रय के माध्यम से पूर्ण करने की मात्र उद्धोषणा ही नहीं की है, वरन् जीवन में उतारने का उपक्रम भी किया है। पंचपरमेष्ठी का गुणानुवाद उसी रत्नत्रय का प्रारम्भिक सोपान है।

शाश्वत सुख प्राप्ति की लालसा प्राणिमात्र की स्वाभाविक लालसा है और धर्म ही उस लालसा को पूर्ण करने में सक्षम है। धर्म को उत्तम सुख प्राप्ति का साधन बतलाते हुए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है— संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। संसार के मूल में तृष्णा का भाव है और तृष्णा को जर्जर तथा निर्जर करने के उपाय के रूप में पूजा-भक्ति, जप-तप, संयम-साधना के मार्ग का प्ररूपण करना समस्त जिनवाणी का प्रतिपाद्य है। यही कारण है कि जिन-साधना सर्वोत्कृष्ट साधना मानी जाती है। सद्गृहस्थ से लेकर आचार्य मुनि इसी सर्वोत्कृष्ट साधना के पथिक हैं और उनका लक्ष्य है— परम सुख की प्राप्ति।

साधु संसिद्धौ धातु से निष्पन्न साधना व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। साधना का निहितार्थ है— मनुष्य के उद्देश्य की सिद्धि। विषय-वासना की पूर्ति की साधना भी एक सांसारिक साधना है, जिसके लिए मनुष्य अहर्निश समरम्भ समारम्भ और आरम्भ की क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, परन्तु अभीष्ट परम सुख ही प्राप्ति में ये बाधक हैं। इसीलिए आचार्यों ने सद्गृहस्थ के लिए अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को अनिवार्य रूप से आचरणीय माना है। महाव्रती साधु की साधना तो समस्त आरम्भादि के सम्पूर्ण त्याग से प्रारम्भ होती है।

साधना मार्ग में व्रत-नियम, संयम शक्तितः त्याग सब पाथेय हैं। इनके माध्यम से ही परम वीतराग अवस्था की प्राप्ति सम्भव होती है। जीवन की गति तो अबाध रूप से प्रवहमान है, परन्तु जीवन जीने की वास्तविक कला का आविर्भाव बिना संयम-साधना से सम्भव नहीं हो पाता, इसीलिए आचार्यों ने अवस्था विशेष में

सल्लेखना जैसी विधि का निरूपण किया है। सदगृहरथ को दुर्भिक्ष, उपसर्ग और जर्जर होती काया तथा रोग के निःप्रतिकार अवस्था में सल्लेखना को विधिपूर्वक धारण करने की प्रेरणा दी है। समस्त धार्मिक क्रियाकलापों तथा साधना का अन्तिम अभीष्ट भी समाधिपूर्वक मरण है। नित्य-प्रति पूजा करते हुए श्रावक यही भावना भाता है— दुःखदुःखओ कम्मखओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं निजगुणसंपत्ती होदु मज्झं।

प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में कायोत्सर्ग करना एक अनिवार्य अंग माना गया है। यह इस बात की संसूचक है कि काया के प्रति अत्यधिक राग का उत्सर्जन करने का भाव निरन्तर बना रहे। सप्त व्यसनों के त्याग के साथ अणुव्रतादि के परिपालन करने की अनिवार्यता भी कायोत्सर्ग के प्रति सचेष्ट रहने के अभिप्राय को इंगित करती है।

वस्तुतः समाधिमरण या सल्लेखना उत्कृष्ट अभिधेय है। यह निरन्तर साधना की अपेक्षा रखती है। जैन परम्परा में भाव-शुद्धि पर जितना बल दिया गया है उतना किसी अन्य परम्परा में नहीं। जीवन को त्यागमय बनाने की प्रेरणा के स्वर भी स्तुति-स्तोत्र, पूजा-भक्ति में गुंजित हुए हैं। इतना ही नहीं, जीवन में आचरण की पवित्रता का भाव सतत रूप से जीवन्त रहे इस तथ्य पर निरन्तर सचेष्ट रहने की अपेक्षा भी की गई है। पण्डित बनारसी दास जी ने द्रव्य रूप से सप्त व्यसन के त्याग के लिए गृहस्थों को सचेष्ट किया है।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति की साधना इन सप्त सप्त-व्यसनों, मनोविकारों, कषायों को छोड़े बिना सम्भव नहीं है। यों तो साधना के अनेक मार्ग हैं, परन्तु सल्लेखना साधना का वह मार्ग है जिस पर आरूढ़ होकर कर्मबन्धनों से मुक्त होकर जीव अपने जीवन को उच्चतम शिखर पर अधिष्ठित कर सकता है। मानव-पर्याय की सफलता भी इसी साधना में निहित है।

प्राकृतविद्या का प्रस्तुत अंक इसी सल्लेखना या समाधिमरण के हार्द को स्पष्ट करता है। संयोग की बात यह है कि इस युग के प्रथम आचार्य चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी मुनिराज के सल्लेखनापूर्वक मृत्यु का आलिंगन किए जाने का स्वर्ण-जयन्ती वर्ष है। संयम-साधना से हम सभी का जीवन आलोकित हो, जिससे अन्धकार के निविड़ तम हम सब बाहर निकल सकें, इन भावना के साथ इस अंक को माननीय विद्वानों के महनीय सहयोग से साकार किया गया है। कतिपय लेख जो दिवंगत मनीषी विद्वानों के हैं और जिनकी उपयोगिता सर्वकालीक होने से उन्हें हमने संकलित किया है। सभी विद्वानों के सहयोग के प्रति साधुवाद व्यक्त करता हूँ। संयम-साधना से हमारा जीवन आलोकित हो और अन्धकार के भंवर से उबारने में सहायक हो इसी भावना के साथ। ❖❖

अनेकान्तवाद से आतंकवाद-निवारण

✍ आचार्य विद्यानन्द मुनि

चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज ने समाधिमरण की अन्तिम बेला (18.9.1955) में जो अपना मंगल उपदेश दिया था उसमें संयम धारण करने की प्रेरणा थी, आत्मचिन्तन को कर्मनिर्जरा का साधन बताया गया था, संयम से ही समाधि का रास्ता सूचित किया गया था। उन्होंने कहा था कि जिनवाणी पर श्रद्धा के बिना सदगति नहीं है। सारांश के रूप में आचार्यश्री के वचन थे—

“धर्मस्य मूलं दया। जिनधर्म का मूल क्या है? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य बोलते हैं, पालते नहीं। मुख से कहो रसाई करो, भोजन करो; कहने से पेट भरेगा क्या? क्रिया किये बिना, भोजन किये बिना पेट नहीं भरता है बाबा। इसलिए क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिए, तब अपना कार्य सिद्ध होता है। बाकी कार्य छोड़ो, सत्य-अहिंसा का पालन करो। सत्य से सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दुःख नहीं दिया जाता। अतः संयम का पालन करो, सम्यक्त्व धारण करो, तभी आपका कल्याण होगा, इसके बिना कल्याण नहीं होगा।”

परमपूज्य आचार्यश्री के इन मंगल वचनों में सत्य पर जो जोर दिया गया वह अनेकान्तवाद की दृष्टि को सर्वोच्च मार्ग बताने का द्योतक है और जो आचार्यश्री ने अहिंसा की व्याख्या की है कि किसी जीव को दुःख नहीं देना अहिंसा है, वही दया धर्म है। इसी अहिंसा या दया के पालन द्वारा आतंकवाद से विश्व को छुटकारा मिल सकता है। अनेकान्त दृष्टि से सभी जीवों को जीने का अधिकार मिलता है एवं स्वयं अनेकान्ती जीव भी सुरक्षापूर्वक जी सकता है। ‘जीओ और जीने दो’ इसी अनेकान्त का विस्तार है। अहिंसा ही उसकी संजीवनी है। जबकि आतंकवाद मरने और मारने का विष फैलाता है। आचार्यश्री ने इन दो शब्दों में— सत्य और अहिंसा में सम्पूर्ण जैनधर्म की परम्परा और ज्ञान को समाहित कर दिया है।

विश्व के प्राणियों में विचार-भिन्नता दृष्टिगत होती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं, क्योंकि व्यक्तियों का चिन्तन स्वतन्त्र और बहुमुखी होना स्वाभाविक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के भिन्न चिन्तन को विरोध की दृष्टि से देखेगा

तो उसका ज्ञान अपने चिन्तन में ही सीमित रह जाएगा और बद्धमूल होने पर वह एकांगी विचार पारस्परिक द्वेष और असहिष्णुता को उत्पन्न करेगा। अतएव ज्ञान की समस्त उपासना चाहनेवाले को अपने और विरोधी दोनों दृष्टिकोणों पर चिन्तन करना होगा। स्यात् यह घट है, ऐसा अनेकान्त-विमर्श सत्य बिन्दु को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो। जैनधर्म में अनेकान्त दर्शन इसी एक भिन्न स्यात् की प्रतीति में सहायता पहुँचाने वाला तात्त्विक विमर्श पथ है।

यह अनेकान्तदृष्टि सम्यग्दर्शन है। समस्याओं के समाधान का स्तन-पुलिन है। इससे भिन्न विचारों पर आक्रोश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आक्रोश अथवा उत्तेजना अपने लघुत्व से उत्पन्न होती है। अनेकान्त विचारक अपने समत्व से इस त्रुटि पर सहज विजयी होता है। उसके स्थिरचित्त में इन विसंवादों से चलितभार नहीं आता, प्रत्युत अर्थ की सर्वांगपूर्णता प्रतीत कर और अधिक दृढ़स्थैर्य प्राप्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने धम्मो दयाविसुद्धो (बोधपाहुड, गाथा 25) कहकर दया के महत्त्व को रेखांकित किया था। पंचारितकाय (गाथा 137) में दया के सभी कार्य अनुकम्पा नाम से वर्णित हैं—

“तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दद्वूण जो दु दुहिदमणो।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेस होदि अणुकंपा।।”

अर्थात् प्यासे, भूखे अथवा दुःखी प्राणी को देखकर जो मनुष्य स्वयं व्यथित होता हुआ उसके प्रति दया का व्यवहार करता है, यही उसकी अनुकम्पा है।

दया के परिवार में दान, अनुकम्पा, करुणा, उदारता, वात्सल्य, उपकार, वैयावृत्य, मैत्री, प्रमोद आदि जीवन के स्वभाव की अनेक परिणतियाँ सम्मिलित हैं। तभी उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (7.11) में कहा कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव जीवन जीने की कला हैं। सर्वार्थसिद्धि (7.11) में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि दीनों पर अनुग्रह भाव कारुण्य है— दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। आचार्य वीरसेन ने करुणा को जीव का स्वभाव माना है। यथा—

“करुणाएँ कारणं कम्मं करुणे त्ति ण वुत्तं? करुणाएँ जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाएँ कारणं कम्मं वत्तव्वं? ण एस दोसो संजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।

—(षट्खण्डागम, धवला टीका, 5.5.97 पुस्तक 13, पृष्ठ 361-362)

जिज्ञासा — करुणा का कारणभूत कर्म करुणाकर्म है, यह क्यों नहीं कहा?

समाधान — यह इसलिए नहीं कहा क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है। इसे कर्मजनित (कर्म के उदय से) मानने पर विरोध आता है।

जिज्ञासा — तब फिर अकरुणा (करुणाहीनता) का कारण कर्म को मानना चाहिए?

समाधान- इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि अकरुणा संयमघाती कर्म (प्रत्याख्यानावरणीय कर्म) के फलरूप में स्वीकार है।”

करुणा जीव का स्वभाव है, धवलाकार की इस उद्घोषणा को आगे चलकर आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसार (8/9) में यह कहकर समर्थित किया कि सामान्य जीव का स्वभाव ही करुणामय नहीं है, अपितु मुक्त जीव भी, मुक्त होने के बाद भी करुणापूर्वक जगत् को जानते तथा देखते हैं-

‘जानतः पश्यतश्चोद्धं जगत्कारुण्यतः पुनः।’

दशभक्ति (15) में यह प्रार्थना की गयी है कि हे जिनेश्वर ! कारुण्यभाव से आप हमारी रक्षा करें- **तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वरः।**

आचार्य जिनसेन ने भी महापुराण (21.5.92) में धर्म का मूल दया को माना है और प्राणियों पर अनुकम्पा करने को दया कहा है- **दयामूलो भवेद्धर्मो, दया प्राण्यनुकम्पनम्।**

आचार्य वसुनन्दि ने अपने ‘तत्त्वविचार’ नामक ग्रन्थ में दया को सभी गुणों में प्रधान और केन्द्रबिन्दु माना है। वे कहते हैं कि जिसके मन में दया है वह तपस्वी है, जिसके दया है वह शील से युक्त है, जिसके दया है वह ज्ञानी है और जिसके दया है उसी का निर्वाण है-

“जस्स दया सो तवसी, जस्स दया सो य सीलसंजुत्तो।

जस्स दया सो णाणी, जस्स दया तस्स णिव्वाणं।।” - (गाथा 215)

जो व्यक्ति जीवदया से युक्त है उसका मनुष्य जन्म लेना सफल है, किन्तु जो जीवदया से रहित है, वह मनुष्य भेष में पशु है। यथा-

“जो जीवदया-जुत्तो, तस्स सुलद्धो य माणुसो जम्मो।

जो जीवदयारहिदो, माणुसवेसेण सो पंसवो।।” - (गाथा 216)

जिस व्यक्ति के हृदय में दया है उसके (अन्य) गुण (सार्थक) हैं, जिसके दया है उसके उत्तम धर्म है, जिसके मन में दया है वही सत्पात्र है और जिसके (जीवन में) दया है वह जग में पूज्य है। यथा-

“जस्स दया तस्स गुणा, जस्स दया तस्स उत्तमो धम्मो।

जस्स दया सो पत्तं, जस्स दया सो जगो पुज्जो।।” - (गाथा 214)

इसप्रकार परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज ने इस बीसवीं सदी में जैन शास्त्रों में वर्णित दया, करुणा, अनुकम्पा आदि जीव के स्वभाव को क्रियात्मक रूप में प्रकट करने की प्रेरणा दी है, यही अहिंसा की सार्थकता है। ऐसी क्रियात्मक अहिंसा आज के आतंकवाद का करारा जवाब बन सकती है। सत्य का अनुभव, भेदविज्ञान और अनेकान्तवाद का अनुभव बन सकता है। यही क्रियात्मक साधना समाधि का मार्ग बन सकती है।

आचार्य वादीभसिंह लिखते हैं—

“कृतः सर्वांग सौम्येऽपि केनचित् कश्चिद् ह्येते ।

मह्यते कोऽपि पक्ष्यादिर्भक्षकैरपि रक्षितः ॥”

—आचार्य वादीभसिंह, स्याद्वादसिद्धि, 1.5

क्या कारण है कि सर्वांग सुन्दर होने पर भी कोई किसी के द्वारा ताड़न-वध-बन्धनादि को प्राप्त होता है और कोई शुक-सारिकादि पक्षी जीवहिंसक व्यक्तियों से भी रक्षित एवं बड़े प्रेम से पाले-पोसे जाते हैं, अर्थात् मनुष्य सर्वथा हिंसक नहीं है। पशुवधजीवी व्याध और कसाई भी अपने परिवार की हिंसा नहीं करते। वे अपने गृह-पशुओं (गाय, भैंस, कुत्ता) तथा पालित शुक-सारिकादि को भी नहीं मारते। इस तरह यह सहज ही सिद्ध है कि अहिंसा का बीज उनमें मूलरूप में विद्यमान है। ‘यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्’ सिंहनी हिंसक होकर भी अपने शिशु-सिंहों को मुँह से उठाकर ले जाते समय दंष्ट्रा (दाँतों) से पीड़ा नहीं पहुँचाती। इस दृष्टि से एक-देश में हिंसक प्रतीत होनेवाले जीव भी कथञ्चित् दूसरे देश में अहिंसक हैं। ❖❖

मृत्युमहोत्सव – संसार से विदा

❖ रवीन्द्रनाथ टैगोर

मिल गई आज छुड़ी मुझको, इस जग से भाई जो असार।
जाता हूँ मुझको विदा करो, स्वीकार करो यह नमस्कार॥

मेरे घर की यह ताली लो, अधिकार सभी मैं रहा छोड़।
करता हूँ अन्तिम मृदु विनती, जाता हूँ निश्चय नेह तोड़॥

चिरकाल पड़ौसी बने रहे, हम तुम सब मिलकर रहे साथ।
मैं दे न सका उतना तुमको, जितना कुछ मेरे लगा हाथ॥

दिन निकला दीपक शान्त हुआ, जिससे होता था शुचि प्रकाश।
मेरे ही घर के कोने में, वह आज नहीं है रश्मिराश॥

अब मुझे बुलावा आया है, जाने दो मुझको शीघ्र पार।
जाने को मैं भी प्रस्तुत हूँ, लो मेरा अन्तिम नमस्कार॥

समाधि और सल्लेखना

✍ उपाध्याय निर्णयसागर

जिस प्रकार एक कृषक कृषि से उत्तम फसल प्राप्त करने के लिए परिश्रम करता है, विद्यार्थी वर्ष भर अध्ययन करके परीक्षा में उत्तीर्ण होने एवं विपुल ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करता है, कुशल व्यापारी का व्यवसाय में किया गया समस्त श्रम विशेष धन लाभ के लिए होता है, देश-भक्ति में समर्पित एक नौजवान सैनिक का शस्त्र-अस्त्र-प्रशिक्षण व विभिन्न व्यायाम आदि कार्य देशरक्षा व युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए होता है; उसी प्रकार एक सम्यग्दृष्टि भव्य जीव का सम्यक् पुरुषार्थ उत्तम समाधि को प्राप्त करने के लिए ज्ञान, ध्यान व संयम रूपी धन की विशेष उपलब्धि के लिए, कर्मों से विजय प्राप्त कर संसार का अन्त करने के लिए होता है।

वह सम्यग्दृष्टि भव्य जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य का परिपालन करता है। सप्त व्यसन का त्याग, अष्ट मूल गुणों का पालन, सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन करना एवं शंकादि पच्चीस दोषों का परिहार तथा सम्यक्त्व में कांक्षादि अतिचार नहीं लगाना, यही सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य है। इसके उपरान्त अणुव्रती वन श्रावक की दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों (पाँच अणुव्रत+सात शील व्रतों) का पालन करता है अथवा अहिंसादि महाव्रतों का यावज्जीवन परिपालन करता है।

भव्य जीव द्वारा यह सब साधना, बोधि (रत्नत्रय) एवं समाधि की प्राप्ति के लिए की जाती है। वह श्रावक प्रारम्भ से ही निरन्तर उत्तम समाधि की भावना भाता है। सल्लेखना व्रत का परिपालन सल्लेखना की विधि में दक्षता, कुशलता, निस्सीम समत्व भाव को प्राप्त करने के लिए व इन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण करने के लिए करता है।

समाधि और सल्लेखना दोनों एक नहीं हैं, दोनों भिन्नार्थक हैं। समाधि का अर्थ करते हुए आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी जी नियमसार में कहते हैं—

“वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।

जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ।।” —नियमसार, 122

वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को हटाता है उसे परम समाधि होती है।

“संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कज्ञाणेण।

जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।”—नियमसार, 123
संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि होती है।

आचार्य योगीन्दु देव ने कहा है—

“सयल वियप्पहँ जो विलउ, परमसमाहि मणंति।

तेण सुहासुह भावडा मुणि सयल वि मेल्लति।।”—परमात्मप्रकाश, 2/190
समस्त विकल्पों के नाश को परम समाधि कहते हैं, इसलिए मुनिराज समस्त शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ देते हैं।

“यत्सम्यक् परिणामेषु चित्तस्य धानमञ्जसा।

सः समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्।।”—महापुराण, 21/226
सम्यक् (उत्तम) परिणामों में चित्त का स्थिर रहना यथार्थ में समाधि या समाधान है, अथवा पंच-परमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।

धर्म शुक्लं च ध्यानं समाधिः। —स्वयम्भू स्तोत्र, टीका, 16/29
धर्मध्यान व शुक्लध्यान को समाधि कहते हैं।

बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणं समाधिः।

—स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 17

बाह्य और अन्तर्जल्प के त्याग का नाम योग है। उसमें योग में अथवा निज स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।

इस प्रकार समाधि का लक्षण कहा। अब सल्लेखना के सम्बन्ध में कहते हैं।

सल्लेखना का अर्थ है— सम्यक् रीति से संयम की साधना करते हुए, कषाय व काय को कृश करना। जब शरीर संयम-साधना, जिनाराधना, तप, प्रशस्त ध्यान व अध्ययन आदि क्रियाओं को करने में असमर्थ होने लगता है, तब साधक संयम का परित्याग न करते हुए, उत्तम भावों के साथ क्रमशः कषाय व शरीर को कृश करते हुए शरीर का ही परित्याग कर देते हैं, किन्तु धर्म का त्याग नहीं करते। जिस प्रकार कुशल नाविक नाव के जर्जर होने पर नाव की नहीं अपितु उसमें विद्यमान धन की रक्षा करता है। कुशल मानव मकान में आग लगने पर मकान की नहीं अपितु उसमें विद्यमान बहुमूल्य चेतन व अचेतन रत्नों की रक्षा करता है, उसी प्रकार सर्वात्म्य परिग्रह से रहित, यथाजातरूपधारी दिगम्बर सन्त, साध्वियाँ व अन्य उनके समीपस्थ साधनारत श्रावक अपने शरीर को संयम-साधना में अक्षम मानते

हुए उसे क्रमशः साधना करते हुए छोड़ते हैं, इस विधि का नाम ही सल्लेखना है।

आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—

सम्यक् कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यक्लेखना सल्लेखना। —सर्वार्थसिद्धि 7:22

अच्छी तरह से शरीर व कषाय को कृश करना सल्लेखना है। बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषाय को तथा इनको पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भली प्रकार से लेखन करना, कृश करना सल्लेखना है।

आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादिगुण-लक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यक्लेखनं तनुकरणं भाव-सल्लेखना, तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः।

—पंचारितिकाय टीका, 173/253/17

आत्मसंस्कार के अनन्तर उस आत्मसंस्कार के लिए ही क्रोधादि कषाय रहित और अनन्त ज्ञानादि गुण से सहित परमात्म पदार्थ में स्थिर होकर रागादि विकल्पों का कृश करना भाव सल्लेखना है, और उस भाव सल्लेखना के लिए कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इन दोनों रूप आचरण का काल सल्लेखना काल कहलाता है।

जिसका परिहार नहीं किया जा सके — ऐसा उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, वृद्धावस्था आ जाने पर, अनिवारणीय रोग के उपरिष्ठत होने पर, धर्मध्यानपूर्वक शरीर का परित्याग करना या नियमित काल के लिए चारों प्रकार के आहार व जल का त्याग करना चाहिए। सल्लेखना का उत्कृष्ट काल चारह वर्ष का होता है और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, इसके मध्य असंख्यात भेद मध्यम सल्लेखना के काल के हैं।

मरण के सत्रह भेद हैं, उनमें से पाँच भेद मुख्य हैं—

1. बाल-बाल मरण 2. बाल मरण 3. बाल-पण्डित मरण 4. पण्डित मरण 5. पण्डित-पण्डित मरण।

मिथ्यादृष्टि के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि के मरण को बाल मरण कहते हैं। देशव्रती के मरण को बाल-पण्डित मरण कहते हैं। सकल संयमी महाव्रती के मरण को पण्डित मरण कहते हैं। केवली भगवान् के मरण को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। पण्डित-पण्डित मरण करने वाला उसी भव से, पण्डित मरण करने वाला (उत्तम आराधक) तृतीय भव से, बाल-पण्डित या पण्डित मरण वाला (मध्यम आराधक) चतुर्थ से अष्टम भव तक, बाल मरण करने वाला जघन्य आराधना संख्यात भवों को धारण कर मुक्ति प्राप्त करता है।



सल्लेखना आत्मकल्याण है

✍ आर्यिका बाहुबली माताजी

सल्लेखना से ही समाधिमरण होता है और समाधिमरण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञानीजन सल्लेखना को धारण करते हैं। ज्ञानी को अपनी आयु पूर्ण होने के समय का आभास हो जाता है, इसलिए वे बारह साल, छह साल या एक अन्तमुहूर्त की अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य सल्लेखना धारण करते हैं। स्वेच्छापूर्वक शरीर का त्याग करते हैं।

ज्ञानी, साधु, सज्जन आत्मा का जीवन परोपकार से ओत-प्रोत (भरा हुआ) रहता है। वे 'परस्परपग्रहो जीवानां' इस सूत्र को अपने जीवन की आधारशिला बनाकर चलते हैं। साधु जीवन साधना के लिए होता है, साधुजन आत्मसाधना, स्वकल्याण के लिए करते हैं, परन्तु उस स्वकल्याण में परकल्याण निश्चित होता है। साधु की सल्लेखना से उनका उच्चकोटि का विचार जान सकते हैं। जैसे— शरीर के माध्यम से जब तक साधु आत्मसाधना कर सकते हैं तब तक शरीर को आहार देते हैं परन्तु जब शरीर या इंद्रियों के निमित्त से आत्मसाधना में बाधा आने लगती है तब वे इस बात को समझ लेते हैं कि अब शरीर हमें छोड़ने वाला है, तो स्वयं शरीर को छोड़ने के लिए धीर-वीर होते हैं, और आगम के अनुसार सल्लेखना धारण करते हैं।

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज भी 36 दिनों की सल्लेखना के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में अग्रसर रहे। सल्लेखनापूर्वक यदि मरण होता है तो उसे समाधिमरण कहा जाता है। हर जीव को समाधिमरण नहीं होता है। समाधिमरण उन्हीं जीव को होता है जो कुछ भव के बाद मोक्ष जाने वाले हैं।

सल्लेखना

'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यगलेखना सल्लेखना।'

अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करनेवाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात्

कृश करना सल्लेखना है।

सल्लेखना का महत्त्व व फल

स्वर्गों में अनुत्तर भोग भोगकर वे वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्यभव में जन्म धारण कर सम्पूर्ण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं। पीछे वे जिनधर्म अर्थात् मुनि धर्म व तप आदि का पालन करते हैं। शुक्ल लेश्या की प्राप्ति कर वे आराधक शुक्लध्यान से संसार का नाश करते हैं। कर्मरूपी कवच को तोड़ कर सम्पूर्ण क्लेशों का नाश कर मुक्त होते हैं।

इस गृहस्थ धर्म का पालन कर जो समाधिपूर्वक मरण करता है, वह उत्तम देवपर्याय को प्राप्त होता है और वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करता है। अधिक से अधिक आठ भवों में मुक्ति प्रदान करता है।

भगवती आराधना में कहा है कि जो यति एक भव में समाधि से मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसार में भ्रमण नहीं करता है। उसको सात-आठ भव धारण करने के पश्चात् अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी।

स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्।
—(सर्वार्थसिद्धि 7/22-/362/12) अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय—इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है।

आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् —(ध्वला, 1/1/234) आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है।

भगवती आराधना — प्राणों के परित्याग का नाम मरण है। अथवा प्रस्तुत आयु से भिन्न अन्य आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का विनाश होना मरण है। अथवा अनुभूयमान आयु नामक पुद्गल का आत्मा के साथ से विनष्ट होना मरण है।

ध्वला 6/1/477 — सूत्रकार भूतबलि आचार्य ने भिन्न-भिन्न गतियों से छूटने के अर्थ में सम्भवतः गतियों की हीनता व उत्तमता के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। नरकगति एवं भवनवासी, वानव्यंतर और ज्योतिषी—ये तीन देवगतियाँ हीन हैं, इसलिए इनसे निकलने के लिये 'उद्धर्तन' अर्थात् उद्धार होना कहा है? तिर्यच और मनुष्य गतियाँ सामान्य हैं, अतएव उनसे निकलने के लिये 'काल करना' शब्द का प्रयोग किया है और सौधर्मादिक विमानवासियों की गति उत्तम है, अतएव वहाँ से निकलने के लिये 'च्युत' होना इस शब्द का उपयोग किया गया है।

मरण के भेद

मरण पाँच प्रकार का है — पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल, बालबाल। पण्डितमरण तीन प्रकार का है— प्रायोपगमन, भक्तप्रत्याख्यान व इंगिनी।

राजवार्तिक में मरण दो प्रकार का बताया है— नित्यमरण और तद्भवमरण ।
भगवती आराधना में मरण 17 प्रकार के बताये गये हैं— अविचिमरण, अवधिमरण
आदि ।

मरण

लोकप्रसिद्ध मरण तद्भव मरण कहलाता है और प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना
नित्यमरण कहलाता है । यद्यपि संसार में सभी जीव मरणधर्मा हैं, परन्तु अज्ञानियों
की मृत्यु बालमरण और ज्ञानियों की मृत्यु पण्डित मरण है, क्योंकि शरीर द्वारा जीव
का त्याग किया जाने से अज्ञानियों की मृत्यु होती है और जीव द्वारा शरीर का
त्याग किया जाने से ज्ञानियों की मृत्यु होती है जिसे समाधिमरण कहते हैं ।

अतिवृद्ध या रोगग्रस्त हो जाने पर जब शरीर उपयोगी नहीं रह जाता तो
ज्ञानीजन जैसे चारित्र्यक्रवर्ती शान्तिसागर जी महाराज धीरे-धीरे भोजन का त्याग
करके इसे कृश करते हुए इसका भी त्याग कर देते हैं । अज्ञानीजन इसे अपमृत्यु
समझते हैं, पर वास्तव में कषायों के क्षीण हो जाने पर सम्यग्दृष्टि जागृत हो जाने
के कारण यह अपमृत्यु नहीं बल्कि सल्लेखना मरण है जो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य
के भेद से तीन विधियों द्वारा किया जाता है । यद्यपि साधारणतः देखने पर यह
पण्डितमरण अकालमरण सरीखा प्रतीत होता है, पर वास्तविक दृष्टि से देखने पर
अकालमरण नहीं है । विष खा जाने से, वेदना से, तीव्र भय से, शस्त्रघात से,
संकलेश की अधिकता से, आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु क्षीण
हो जाती है, उसे कदलीघात या अकालमरण कहते हैं ।

क्षीणकषाय केवली भगवान् पण्डितपण्डितमरण से मरते हैं । विरताविरत जीव
के मरण को बालपण्डितमरण कहते हैं । अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को
बालमरण कहते हैं । मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल बालमरण कहते हैं । अथवा
रत्नत्रय का नाश करके समाधिमरण के बिना मरना बालमरण है । चारित्रवान्
मुनियों को पण्डित मरण होता है । वह तीन प्रकार का है— भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी
व प्रायोपगमन । भोजन का क्रमिक त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा
तीनों समान है । अन्तर है शरीर के प्रति उपेक्षा भाव में । अपने और पर के उपकार
(वैयावृत्य) की अपेक्षा रहित समाधिमरण को प्रायोपगमन विधान कहते हैं ।

जिस संन्यास में अपने द्वारा किये गये उपकार, (वैयावृत्य) की अपेक्षा रहती
है, किन्तु दूसरे के द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं
रहती, उसे इंगिनी समाधि कहते हैं । जिस संन्यास में अपने और दूसरे दोनों के
द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान संन्यास कहते
हैं ।



सल्लेहणा युधि

डॉ. उदयचन्द्र जैन

उल्लास-दिव्य-रवि-तेज-सदा हि राजे ।
मुक्तिं सिरिं रस-णिमग्ग-खमं च भावं ॥
धारेज्ज मुत्ति-णिलयं लहिदुं च सम्मं ।
अंते समाहि-मरणं भव-णंद घादुं ॥ 1 ॥

इस जगत् में अंतिम समय में धारण किया गया समाधिमरण वास्तव में दिव्य, बढ़ते हुए सूर्य के तेज की तरह सुशोभित होता है; क्योंकि उस समय साधक संसार-सुख को घात करके मुक्तिश्री रूपी रस में निमग्न होने के लिए क्षमा भाव को धारण करता है, तथा मुक्ति-निलय को प्राप्त करने के लिए ही अच्छी तरह समभाव धारण करता है।

सल्लेहणा समसमं जगदेसरत्तं ।
णाणं च दंसण-चरित्त-तवं च ठाणं ॥
संतोस-चित्त-णिलए सुविसुद्ध-भावे ।
संसार-सागर-तरं तरिदुं च णावं ॥ 2 ॥

सल्लेखना सम-शम को प्रदान करती है। यह संसार-सागर से पार करने के लिए नौका है। उसमें संतोष चित्तयुक्त सुविशुद्धभाव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप को स्थान दिया जाता है अतः वह जगत् के ऐश्वर्य को प्राप्त कराती है।

साणंद-राजिद-सुदे मरणे हि काले ।
भव्वाणणं खमणिहिं च वीदरागं ॥
णाणाविभाव-परिणाम-सुमुत्त-जत्तं ।
कुव्वेज्ज सल्लिहण भाव-जिणं च धम्मं ॥ 3 ॥

सल्लेखना में सल्लेखन के भाव होने चाहिए; उसमें जिनधर्म को, वीतराग भाव को, क्षमानिधि को एवं भव्यानन को महत्त्व देना चाहिए। तभी नाना प्रकार के विभाव-परिणामों से रहित होकर साधक जीव सुखद यात्रा कर सकता है।

दिव्वं च तच्च-परमत्थ-वियार-पुव्वं ।
सल्लेहदे जग-ज्जगं ण कुवाद-वादं ॥

धम्मं सुणेज्ज दस मित्त-पवित्त-लाहं ।

सिद्धोसि बुद्ध-विणिमुत्त-सुसंकरो सि ॥ 4 ॥

सल्लेखना में जगत् के किरसी भी तरह के वाद-विवाद को स्थान न दें, अपितु उस समय दिव्य तत्त्व, परमार्थ पूर्ण विचार को महत्त्व दें। धर्म सुनें, उन्हें ही अपना पवित्र लाभ का कारण समझें और सोचें कि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, विनिर्मुक्त हूँ और शंकर भी हूँ।

अंते समाधिमरणे गुण विग्गहेहिं ।

मुत्तो विसुद्ध-सुद-भाव-सुणंद-जुत्तो ॥

ओत्तिं पडिक्कमण-कम्म-कुणंत-सम्मं ।

णो तं च होदि पडिक्कमणं पुणो वि ॥ 5 ॥

अन्तिम समय में समाधिमरण के समय में साधक गुण-विग्रह से मुक्त, विशुद्ध सद्भावपूर्वक अत्यन्त आनन्द के साथ औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण को करता हुआ फिर प्रतिक्रमण को नहीं प्राप्त होता है।

सव्वेसु कप्पतरु राजदि रुक्खएसुं ।

सल्लेहणा वि समएसु सुजप्पमंतो ॥

मव्वाण मव्व-मण-वंछिद-संपदंदु ।

दाएज्ज सा विहि सु सदा पवित्त-भावं ॥ 6 ॥

सभी वृक्षों में जैसे कल्पवृक्ष शोभित होता है, उसी तरह मंत्रजापपूर्वक सल्लेखना भी भव्यजीघ के लिए मनोवांछित सम्पदा को प्रदान करती है तथा वही सल्लेखना पूर्ण पवित्र भाव को प्राप्त कराएगी।

भावेण पूद-इणमं च पडिक्कमाइं ।

पुण्णोदएण सुविहिं सद-लेहणं च ॥

कुव्वेज्ज घाद-उवघाद-किदं च कम्मं ।

बधं ण होज्ज पुण एस वियारएज्जा ॥ 7 ॥

शुभ भावों से पवित्र प्रतिक्रमण आदि की विधि से सत् लेखन एवं कृत कर्म का घात-उपघात करें, ताकि पुनः बन्ध न हो और उत्तम विचारों को धारण करें।

अंते हि आउस-परं परमं च णंदं ।

सत्थं च सार-सुण उत्तम-दायगं च ॥

कम्मखयं खलु कुणेहिदि मण्ण तुम्हे ।

सल्लेहणा पयडि-जोग-सुजोग-जुत्ता ॥ 8 ॥

अन्त में आयु पूर्ण होते समय परम आनन्द के साथ निश्चय सल्लेखना करें, शास्त्रों के सार को अन्तरंग में उतारें, क्योंकि वही श्रेष्ठ फलदायक है। यदि साधक वास्तव में ऐसे उत्तम भाव प्राप्त कर ले तो मानिए कि निश्चय ही वह कर्मक्षय करेगा। ❖❖

जैनदर्शन में सल्लेखना : एक अनुशीलन

डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है।¹ इस तरह जन्म और मरण का प्रवाह तब तक प्रवाहित रहता है जब तक जीव की मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाह में जीवों को नाना क्लेशों और दुःखों को भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रिय-विषयों में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को जानते हुए भी उससे मुक्ति पाने की ओर लक्ष्य नहीं देते।² प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे जन्मोत्सव मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर आँसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तों की वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्यु को अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा मिल रहा है।³ अतएव जैन मनीषियों ने उनकी मृत्यु को मृत्युमहोत्सव के रूप में वर्णन किया है।⁴ इस वैलक्षण्य को समझना कुछ कठिन नहीं है। यथार्थ में साधारण लोग संसार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़ने में उन्हें दुःख का अनुभव होता है और उनके मिलने में हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्मा के भेद को समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को ही, अपितु अपने शरीर को भी पर-अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीर को छोड़ने में उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनिया को नहीं मानते, किन्तु मुक्ति को समझते हैं और सददर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणों को अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीर के त्याग पर मृत्यु-महोत्सव मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणों में जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने तथा नये शरीर को ग्रहण करने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्र

को छोड़ने तथा नवीन वस्त्र के परिधान में अधिक प्रसन्न होता है।⁵

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारने के लिए उक्त परिस्थितियों में सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेष की अग्नि में झुलसते हुए असावधान अवस्था में हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति में वीरों की तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनों के इसी उद्देश्य की पूरक है।

सल्लेखना और उसका महत्त्व

सल्लेखना शब्द जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है— सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना --सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृष करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समय में की जाने वाली जिस क्रिया-विशेष में बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषों का, उनके कारणों को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृषीकरण किया जाता है, उस उत्तम क्रिया-विशेष का नाम सल्लेखना है।⁶ उसी को समाधिमरण कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयम की संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृति में व्रतराज भी कहा है।

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है और उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकार का है। एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का हास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भव-मरण है।⁷ नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर तद्भव-मरण का कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही पर्याय के अन्त में सल्लेखना रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखना से अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिल्कुल सूख जाता है। आचार्य शिवाय सल्लेखना-धारण पर बल देते हुए कहते हैं⁸—जो भद्र एक पर्याय में समाधिमरणपूर्वक मरण करता है वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है। आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारक का महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक लिखते हैं⁹—सल्लेखना-धारक (क्षपक) को भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य

आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है। पण्डितप्रवर आशाधर जी ने भी इसी बात को बड़े ही प्रांजल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है¹⁰ कि स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचार के योग्य है परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट के समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। वे असावधानी एवं आत्म-घात के दोष से बचने के लिए कुछ ऐसी बातों की ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरण की सूचना मिल जाती है। उस हालत में व्रती को आत्मधर्म-रक्षा के लिए सल्लेखना में लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है।¹¹ एक अन्य विद्वान् ने भी प्रतिपादन किया है कि जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को यथाख्यात चारित्र (सल्लेखना) के समय को इंगित करता है।¹²

मृत्युमहोत्सवकार की दृष्टि में समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है। वे लिखते हैं¹³ :- जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषों को कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है वह फल अन्त समय में सावधानीपूर्वक किये गये समाधिमरण वाले जीवों को सहज में प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है, वह अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर-त्याग से प्राप्त हो जाती है। बहुत काल तक किये गये उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एकमात्र फल शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।

आचार्य समन्तभद्र की मान्यतानुसार जीवन में आचरित तपों का फल वस्तुतः अन्त समय में गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्ति के साथ धारण करने पर जोर देते हैं।¹⁴ आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते हैं¹⁵ -मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यवसाय करनेवाले किसी व्यापारी को अपने उस घर का विनाश कभी इष्ट नहीं है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाश का कारण (अग्नि का लगना, बाढ़ आ जाना या राज्य में विप्लव का हो जाना, आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता, तो घर में रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थों को बचाने का भरसक प्रयत्न करता है और घर को

नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणों का अर्जन करनेवाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नों के आधारभूत शरीर की, पोषक आहार-औषधादि द्वारा रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर दैववश शरीर में उसके विनाश-कारण (असाध्य रोगादि) उपस्थित हो जायें, तो वह उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीर की रक्षा अब सम्भव नहीं है, तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणों की वह सल्लेखना द्वारा रक्षा करता है और शरीर को नष्ट होने देता है।

इन उल्लेखों से सल्लेखना की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहज में जानी जा सकती है। लगता है कि इसी कारण जैन-संस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्य की 'भगवती आराधना' इस विषय का एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साहदीपक', 'समाधिमरणपाठ' आदि नामों से संस्कृत तथा हिन्दी में भी इसी विषय पर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

सल्लेखना का काल, प्रयोजन और विधि

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में सल्लेखना-धारण का काल और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है कि अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग -- इन अवरथाओं में आत्मधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है। जैन व्रती-श्रावक या साधु की दृष्टि में शरीर का उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्मा का है; क्योंकि उसने भौतिक दृष्टि को गौण और आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीर की उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओं में जो साधारण व्यक्ति को विचलित कर देनेवाली होती है, आत्मधर्म से च्युत न होता हुआ उसकी रक्षा के लिए साम्यभाव पूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देता है। वास्तव में इसप्रकार का विवेक, बुद्धि और निर्मोह भाव उसे अनेक वर्षों के चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी से सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है जिसे उच्च मनःस्थिति के व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्मा के मध्य का अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेने पर सल्लेखना-धारण कठिन नहीं रहता। उस अन्तर का ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है-- शरीर का नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्म का नाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीर का नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्मधर्म का नाश होने पर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है।¹⁶ अतः जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के

अन्तर को जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं। जैन-सल्लेखना में यही तत्त्व निहित है। इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है¹⁷ :- हे जिनेन्द्र ! आप जगद् बन्धु होने के कारण मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ। उसके प्रभाव से मेरे सब दुःखों का अभाव हो, दुःखों के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण की प्राप्ति हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।

जैन संस्कृति में सल्लेखना को ही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पद की उसमें कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधु ने जो अब तक व्रत-तपादि पालन का घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे हैं, आत्मशक्ति बढ़ाई है और असाधारण आत्म-ज्ञान को जागृत किया है उस पर सुन्दर कलश रखने के लिए वह अन्तिम समय में भी प्रमाद नहीं करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखना में प्रवृत्त होता है :-

सल्लेखनावस्था में उसे कौंसी प्रवृत्ति करनी चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्ध में भी जैन-लेखकों ने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने सल्लेखना की निम्न प्रकार विधि बतलाई है¹⁸ :-

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओं में राग, अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनों में ममत्व और धनादि में स्वामित्व का त्याग करके मन को शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियों से जीवन में हुए अपराधों को क्षमा कराये और स्वयं भी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे। इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरों से कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापों की निश्छल भाव से आलोचना (उन पर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतों का अपने में आरोप करे। इसके अतिरिक्त आत्मा को निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, क्लृप्तता और आकुलता जैसे आत्म-विकारों का भी परित्याग कर दे तथा आत्मबल एवं उत्साह को प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों द्वारा मन को प्रसन्न रखे। इप्रकार कषाय को शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीर को भी कृश करने के लिए सल्लेखना में प्रथमतः अन्नादि आहार का, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का त्याग करे। इसके अनन्तर गर्म जल पीने का अभ्यास करे। अन्त में उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इसतरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण विवेक के साथ सावधानी में शरीर को छोड़े। इस अन्तरंग और बाह्य विधि से सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्मा का साधन करता है और वर्तमान पर्याय के विनाश से चिन्तित नहीं होता, किन्तु भावी पर्याय को अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनाने का पुरुषार्थ करता है। नश्वर से अनश्वर का लाभ

हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना- धारक उन पाँच दोषों से भी अपने को बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रत में दूषण लगने की सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं¹⁹ जिन्हें अतिचार कहा गया है :-

1. सल्लेखना ले लेने के बाद जीवित रहने की आकांक्षा करना 2. कष्ट न सह सकने के कारण शीघ्र मरने की इच्छा करना 3. भयभीत होना 4. स्नेहियों का स्मरण करना 5. अंगली पर्याय में सुखों की चाह करना।

सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और लाभ लेने के कारण नियम से निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामी ने सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखा है²⁰ :- उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण समस्त दुःखों से रहित होकर या तो वह निःश्रेयस को प्राप्त करता है और या अभ्युदय को पाता है, जहाँ उसे अपरिमित सुखों की प्राप्ति होती है। पण्डित आशाधर जी भी कहते हैं²¹ कि जिस महापुरुष ने संसार-परम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे, जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जानेवाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय होने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्य से या पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेव ने इस समाधि-सहित पुण्य-मरण की बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चय से संसाररूपी पिंजरे को तोड़ देता है - उसे फिर संसार के बन्धन में नहीं रहना पड़ता है।

सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धा के साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधना में गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्य में, जिसे एक महान् यज्ञ कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथ से विचलित न होने देने के लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं। और समाधिमरण में उसे सुरिथर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो, जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़ने का संकल्प कर चुका है। उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्य ने भगवती-आराधना (गाथा 650-376) में समाधिमरण

करानेवाले इन निर्यापक मुनियों का बड़ा सुन्दर और विशद-वर्णन करते हुए लिखा है :- वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-भर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्त्व विवेकी, विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। ये निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि में पूर्ण प्रयत्न से सहायता करते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में काल की विषमता होने से जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणों के धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणों वाले निर्यापकों से भी समाधि करायें, अतिश्रेष्ठ है; पर एक निर्यापक नहीं होना चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की 24 घण्टे सेवा करने पर थक जाएगा और क्षपक की समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा।²²

इस कथन से दो बातें प्रकाश में आती हैं। एक तो यह कि समाधिमरण कराने के लिए दो से कम निर्यापक नहीं होने चाहिए। सम्भव है कि क्षपक की समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशा में यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता, अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि प्राचीन काल में मुनियों की इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनि की समाधि में बहुत मुनि निर्यापक होते थे और क्षपक की समाधि को वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ये निर्यापक क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देते हैं तथा उसे सल्लेखना में सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधर जी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।²³

- लोक में ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसका तुमने एक से अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका। परवस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है? आत्मा का हित तो उसी के ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं। अतः बाह्य वस्तुओं से मोह को त्यागो, विवेक तथा संयम का आश्रय लो। और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है। मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शन-रहित है। मैं आनन्दघन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है।
- जिस सल्लेखना को तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है। उस आत्महितकारी सल्लेखना में कोई दोष न आने दो। तुम परीषहों-क्षुधादि के कष्टों से मत घबराओ। वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असंख्यगुणी निर्जरा करो।
- अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्व का वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्व का आराधन करो, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करो, उनके गुणों में सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग में लीन रहो, अपने महाव्रतों की रक्षा करो, कषायों को जीतो, इन्द्रियों

को वश में करो, सदैव आत्मा में ही आत्मा का ध्यान करो। मिथ्यात्व के समान दुःखदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक में अन्य कोई वस्तु नहीं है।

- परीषहों और उपसर्गों को जीतकर महाव्रत का पालन करने से अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त होता है अतः धीरता-वीरता से सब कष्टों को सहन करते हुए आत्मलीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार से हो और तुम अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करो।

इसतरह निर्यापक मुनि क्षपक को समाधिमरण में निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं। क्षपक के समाधिमरण महान् यज्ञ की सफलता में इन निर्यापक साधुवरो का प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होने से उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवार्य ने लिखा है :- वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदर के साथ क्षपक की सल्लेखना कराते हैं।²⁴

सल्लेखना के भेद

जैनशास्त्रों में तीन प्रकार से शरीर का त्याग बताया है²⁵:- 1. च्युत 2. च्यावित 3. त्यक्त।

1. **च्युत** - जो आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वतः छूटना है, वह च्युत कहलाता है।
2. **च्यावित** - जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्तकारणों से शरीर छोड़ा जाता है, वह च्यावित कहा गया है।

3. **त्यक्त** - रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की व्यासन्नता ज्ञात होने पर जो विवेक-सहित संन्यासरूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त है। इन तीन प्रकार के शरीर-त्यागों में त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता। इस त्यक्त शरीर-त्याग को ही समाधि-मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीर-त्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है :- 1. भक्तप्रत्याख्यान 2. इगिनी 3. प्रायोपगमन।

1. **भक्तप्रत्याख्यान**- जिस शरीर-त्याग में अन्न-पान को धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से नीचे का काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओं से राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है।

2. **इंगिनी²⁶**— जिस शरीर-त्याग में क्षपक अपने शरीर की सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरे से नहीं कराता, उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है।
3. **प्रायोपगमन**— जिस शरीर-त्याग में इस सल्लेखना का धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही क्षपक का लक्ष्य रहता है और आत्मा के ध्यान में ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखना को साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना के दो भेद

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरह की होती है :- 1. सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान 2. अविचार-भक्तप्रत्याख्यान। सविचार-भक्तप्रत्याख्यान में आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखना का धारी अहं आदि अधिकारों के विचारपूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :- 1. निरुद्ध 2. निरुद्धतर 3. परम-निरुद्ध।

- **निरुद्ध**— दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने संघ में ही रुक जाय तो उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकार की है— (क) प्रकाश (ख) अप्रकाश। लोक में जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।
- **निरुद्धतर**— सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषों आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आ जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गार्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।
- **परमनिरुद्ध**— सर्प, व्याघ्रादि के भीषण उपद्रवों के आने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन में ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों के प्रति

अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरण की अपेक्षा समाधिमरण की श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्य ने सत्रह प्रकार के मरणों का उल्लेख करके उनमें विशिष्ट पाँच²⁷ तरह के मरणों का वर्णन करते हुए तीन मरणों को प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन²⁸ मरण ये हैं :- 1. पण्डित-पण्डितमरण 2. पण्डितमरण 3. बाल-पण्डितमरण।

उक्त मरणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है²⁹ कि चउदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान् का निर्वाण-गमन पण्डित-पण्डितमरण है, आचारांग-शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियों का मरण पण्डितमरण है, देशव्रती श्रावक का मरण बाल-पण्डितमरण है, अविरत-सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण और मिथ्यादृष्टि का मरण बाल-बालमरण है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन -इन तीन समाधिमरणों का कथन किया गया है वह सब पण्डितमरण का कथन है अर्थात् वे पण्डित-मरण के भेद हैं।

समाधिमरण के कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकों की प्रशंसा :

आचार्य शिवार्य ने सल्लेखना करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करनेवालों को पुण्यशाली बताकर उनकी बड़ी प्रशंसा करते हुए लिखा है³⁰:- वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघ के मध्य में जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताका को फहराया है। वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्हीं ने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है। जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, आराधना को जिन्होंने पूर्णरूप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं। जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं। वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैल को छुड़ानेवाले क्षपकरूपी तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दन और पूजन में प्रवृत्त होते हैं। यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनों से सेवित होने से तीर्थ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुण की राशि क्षपक तीर्थ क्यों नहीं कहा जायेगा? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है। यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना

करनेवालों को पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संघय क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा। जो तीव्र भक्तिसहित आराधक की सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुष की आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है, अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गति को प्राप्त होता है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है :

सल्लेखना आत्मघात नहीं है क्योंकि आत्मघात तीव्र क्रोधादि के आवेश में आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओं से किया जाता है, जबकि इन क्रियाओं का और क्रोधादिक के आवेश का सल्लेखना में अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सम्बन्धी सुयोजना का एक अंग है।

क्या जैनेतर दर्शनों में यह सल्लेखना है?

सल्लेखना का वर्णन जैनदर्शन के सिवा अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता। योगसूत्र आदि में ध्यानार्थक समाधि का विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है, पर उसका अन्तःक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियों के प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है। वैदिक साहित्य में वर्णित सोलह संस्कारों में एक 'अन्त्येष्टि-संस्कार' आता है³¹, जिसे ऐहिक जीवन के अन्तिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है³² और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-संस्कार' है। तथा इस संस्कार का अन्तःक्रिया के साथ सम्बन्ध हो सकता था, किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिकों अथवा सामान्य लोगों का किया जाता है, सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओं का नहीं, क्योंकि उनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती³³। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है³⁴। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्म में अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती,³⁵ पर जैन-सल्लेखना में पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओं की उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमुर्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात् चौर-व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिए भी संन्यास का विधान करनेवाले कतिपय मतों का उल्लेख किया है³⁶। उनमें कहा गया है कि संन्यास लेनेवाला आतुर अथवा दुःखित यह संकल्प करता है— मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उसे

मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवों को अभयदान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा किन्तु यह कथन संन्यासी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नहीं बतलाया, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञा का दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यास का वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन-सल्लेखना का अर्थ है। संन्यास का अर्थ यहाँ साधु-दीक्षा — कर्मत्याग-संन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है। और सल्लेखना का अर्थ अन्त (मरण) समय में होनेवाली क्रिया-विशेष³⁷ (कषाय एवं काय का कृशीकरण करते हुए आत्मा को) कुमरण से बचाना तथा आचरित संयमादि आत्मधर्म की रक्षा करना है। अतः सल्लेखना जैनदर्शन की एक विशेष देन है, जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनाने का लक्ष्य निहित है। इसमें रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होने के कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षण का अन्तिम और विचारपूर्ण प्रयत्न है।

सन्दर्भ :-

1. गीता, 2-27 2-3. मृत्युमहोत्सव, श्लोक 17 4. मृत्युमहोत्सव, श्लोक 10
5. मृत्युमहोत्सव, श्लोक 15, गीता, 2/22 6. सर्वार्थसिद्धि, 7/22, तत्त्वार्थसूत्र, 7/22
7. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/22 8. भगवती आराधना, 681 9. भगवती आराधना, 680
10. सागारधर्मांमृत, 8/6 11. सागारधर्मांमृत, 8/10 12. आदर्श सल्लेखना, पृ. 19
13. मृत्युमहोत्सव, श्लोक 21, 23 14. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 123 15. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
16. सागारधर्मांमृत, 8/7 17. भारती, पू पृ. 87 18. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 124-128 19. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 129 20. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 130 21. सागारधर्मांमृत, 7/58, 8/27-28 22. भगवती आराधना 645, 646, 672 23. सागार धर्मांमृत 8/48 से 8/107 24. भगवती आराधना, 2000 25. गोमटसार कर्मकाण्ड, गाथा 56-58 26. वही, गाथा 61 27. भगवती आराधना, गाथा 26 28. भगवती आराधना, गाथा 27 29. भगवती आराधना, 28-30 30. भगवती आराधना, गाथा 1997-2005 31-32. हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 296 33. वही, पृष्ठ 303 34. वही, पृष्ठ 303 तथा निर्णयसिन्धु, पृष्ठ 447 35. हिन्दू संस्कार, पृष्ठ 346 36. निर्णयसिन्धु, पृष्ठ 447 37. वैदिक साहित्य में यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदि के रूप में मिलती है, जैसा कि माघ के शिशुपाल-वध (4/23) की टीका में उद्धृत निम्न पद्य से जाना जाता है— अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधीयते।। किन्तु जैन संस्कृति में इसप्रकार की क्रियाओं को मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढ़ता बतलाया गया है :- आपंगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्। गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार 22



आत्म-साधना का शिखर : समाधिमरण

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

जैनधर्म के अनुसार जन्म-मरण होना एक असाध्य व्याधि है, जिसका मूल कारण मोह है, उसका प्रतिकार समाधिमरण है। केवल शरीर या घर-द्वार छोड़ कर संस्तरण-मरण करने का नाम सल्लेखना या समाधिमरण नहीं है; किन्तु अंतो समाधिमरणं बोहिलाहं च अर्थात् मानव-जीवन में आत्मसाधना के विकास-क्रम में बोहिलाहं बोधि का लाभ अर्थात् रत्नत्रय (शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) प्राप्त करना ही समाधिमरण का कार्य है, अतः सम्यग्दर्शन हुए बिना समाधिमरण नहीं होता।

जिनागम में आराधना दो प्रकार की कही गई है— 1. दर्शन आराधना 2. चारित्र आराधना। सम्यक्त्व की आराधना होने पर ज्ञान की आराधना नियम से होती है, क्योंकि श्रद्धा का ज्ञान के साथ अविनाभाव है। अतः समीचीन श्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। आचार्य अमितगति (द्वितीय) का कथन है कि सम्यक्त्वााराधना के फल का यह अतिशय है कि जो जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व से संयुक्त थे, वे भी अल्प काल में इस आराधना के प्रभाव से सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं।¹ सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञान का आराधक नहीं होता।² जो संसार के विषय-भोगों में मग्न हैं, जिनको राग-रंग भले लगते हैं और पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जुटाने में आसक्त हैं, उनको आत्मज्ञान तथा आत्म-साधना कैसे रुच सकती है? अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि की रुचि संसार में है, इसलिए संसार के कार्यों में उसकी संलग्नता होती है। आत्मधर्म का कार्य लौकिक या सांसारिक नहीं है। धर्म तो जन्म-मरण का अभाव करनेवाला है। कहा है— जिसमें जन्म-मरण रूपी जल का प्रवाह भरा है, दुःख-संक्लेश एवं शोक रूपी लहरें उठा करती हैं, उस संसार रूपी समुद्र को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूपी नाव से पार करते हैं।

यद्यपि जैन कथाओं में यह वर्णन किया गया है कि अन्त समय में सर्प, हाथी तथा चोर, डाकू, चाण्डाल आदि षण्मोकार मन्त्र के प्रभाव से सुगति को प्राप्त हुए। वास्तव में उन सबमें परिणामों की विशुद्धि अन्तरंग कारण है। जीवन के अन्तिम समय में जीव के जैसे परिणाम होते हैं, वैसी ही गति प्राप्त होती है— जैसी मति,

वैसी गति। इसलिए यदि तपस्वी भी अन्तिम काल में संन्यासमरण नहीं करता तो उसका तप निष्फल कहा जाता है। चाहे गृहस्थ हो या साधु, त्यागी हो या ब्रह्मचारी, धर्म की रक्षा के लिए देह का विसर्जन करना तो सल्लेखना है। आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में— असाध्य रोग, भयंकर दुर्भिक्ष तथा उग्र उपसर्ग एवं प्राकृतिक आपदाओं के आने पर जिनका निवारण सम्भव न हो तो धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग करना सल्लेखना कहा गया है।

स्थिरता के साथ आत्मा के स्वभाव में रहना धर्म है। जिनको रोकना सामर्थ्य के बाहर है, जो क्षण-क्षण में चित्त को चंचल करते हैं, ऐसे मोह के सागर में डुबा देने वाले राग-द्वेषादि विकारी भावों से अन्तरंग में महान् क्षोभ उत्पन्न होता है तथा धर्म का अभाव होता है। अतः धर्म की स्थिति बनाये रखने के लिए प्रसन्नतापूर्वक देहादि से ममत्व बुद्धि छोड़कर समाहित होना ही समाधिमरण का प्रथम सोपान है। आचार्य अमितगति (द्वितीय) का कथन है—

“समाहितं मनो यस्य, वश्यं त्यक्ताशुभास्रवम् ।

उह्यते तेन चारित्रमश्रान्तं नापदूषणम् ।।” —मरणकण्डिका, 5/139

जिसका मन अशुभ आस्रव के प्रवाह से रहित है तथा अपने वश में है, वह समाहित कहा जाता है। समाहित चित्त वाला ही निर्दोष चारित्र को धारण करता है।

समाधिमरण का अर्थ है— ऐसे ज्ञानानन्द जीवन की उपलब्धि, जो आज तक कभी एक बार भी प्राप्त नहीं हुई। अनादिकाल से लेकर अब तक संसारी जीव ने मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से क्लेशकारक एवं सन्तापजनित सुखाभास रूप जिस इन्द्रियसुख को अनन्त बार प्राप्त किया है वह आकुलता किंवा दुःखदायक ही सिद्ध हुआ है। अतः सुख क्या है? वह परम सुख आज तक क्यों प्राप्त नहीं हुआ? इसका विचार कर ! जन्म-जन्मान्तरों में किए गए तप से भी आज तक जन्म-मरण का अभाव क्यों नहीं हुआ? आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि अन्तक्रिया रूप जो संन्यासमरण होता है, उससे ही तप सार्थक होता है। तप करनेवाले के यदि अन्त समय में संन्यासमरण नहीं होता है तो उसका तप निष्फल कहा जाता है। पण्डितप्रवर सदासुखदास जी के शब्दों में— “जातैः कौटिपूर्वं पर्यन्तं तप किया, अर अन्तकाल में जाका मरण बिगड़ि गया, ताका तप प्रशंसा-योग्य नाही। तप करने तै देवलोक, मनुष्यलोक की सम्पदा पा जाय, परन्तु मरणकाल में आराधना के नष्ट होने से संसार-परिभ्रमण ही करेगा। जैसे अनेक दूर देशनि में बहुत भ्रमण कर बहुत धन उपार्जन किया, परन्तु अपने नगर के समीप आय धन लुटाय दरिद्री होय है, तैसे समस्त पर्याय में तप-व्रत-संयम धारण करिकै हू जो अन्तकाल में आराधना नष्ट करि दीनी तो अनेक जन्म-मरण करने का ही पात्र होयगा।”

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, भाषा, पृष्ठ 453

वास्तविकता यह है कि केवल शरीर छोड़ने का नाम समाधि नहीं है, किन्तु

निज ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव कर उसमें ही स्थिर व लीन होने से समाधि होती है। यथार्थ समाधि वही है जो अतीन्द्रिय आनन्द परलोक में भी निज शुद्धात्मा में लीन होकर उसके साथ रहता है। इसप्रकार समाधिमरण हमारे जीवन का वह महोत्सव है जो दिव्य, अलौकिक, सत्य का साक्षात्कार कराता है और सदा-सदा के लिए हमें लोकोत्तर आह्लाद से भरपूर कर देता है।

केवल सम्यग्दर्शन होने से भी समाधिमरण नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि समाधिपूर्वक मरण सम्यग्दृष्टि को ही होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ ब्रतों का परिपालन भी आवश्यक है, क्योंकि अनादिकाल से अनन्तानन्त मिथ्यात्व सहित अनन्त बार बालमरण किया है, यदि एक बार भी पण्डितमरण किया होता तो फिर बार-बार मरण का पात्र नहीं होता। जब तक दृष्टि में से राग नहीं छूटा है, तब तक प्रवृत्ति में से राग नहीं छूट सकता है। इसलिए सर्वप्रथम चिन्तन में से राग-द्वेष हटाकर दृष्टि निर्मल करनी चाहिए। निरन्तर वीतरागता की भावना भानी चाहिए। यथार्थ में किसी भी वस्तु में राग-द्वेष नहीं पाया जाता, क्योंकि किसी भी द्रव्य का स्वभाव राग-द्वेष नहीं है। हमने मिथ्या कल्पना में राग-द्वेष-मोहादि विकारी भावों को अपना मान रखा है, किन्तु राग-द्वेष-मोहादि कोई वस्तु नहीं है। निज शुद्धात्म स्वभाव से ये विकारी भाव सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए अनादिकाल से प्रत्येक वस्तु को हमने पर्यायबुद्धि से देखा है जो मिथ्याभाव है। मिथ्यादृष्टि होने से यह मिथ्याभाव है। अतः सन्यासमरण करने का इच्छुक प्रारम्भ में क्या करे? सत्लेखना व समाधिमरण का धारक सर्वप्रथम क्षमा करे और क्षमा माँगे कि प्रत्येक प्राणी को मैंने यदि भगवान् आत्मा से कम माना हो, समझा हो, उसकी अवज्ञा या अनादर किया हो, अपने से हीन या तुच्छ समझकर कष्ट दिया हो या पीड़ा पहुँचाई हो, तो एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख कुल कोडि जीवों से **मिच्छामि दुक्कडं एवं सव्वे जीवा खमेइ मे** कहकर क्षमा-याचना कर और सभी जीवों को **खम्मामि सव्वजीवाणं** कहकर क्षमा भाव करे। आचार्य समन्तभद्र ने (स्तनकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 124 में) स्पष्ट रूप से कहा है कि स्नेह, वैर, संग, परिग्रह का त्याग कर स्वजन-परिजनों से क्षमा माँगे और स्वयं प्रिय तथा हितकारी वचनों से क्षमा प्रदान करे। किसी भी प्राणी के प्रति वैर, अभिमान, कपट, ईर्ष्या तथा स्नेह का भाव न रखे।

आराधना की सिद्धि

जिनागम में चारित्र का सार आराधना कहा गया है। आराधना की सिद्धि के लिए समाधिमरण किया जाता है। समता, गुप्ति, ध्यान, योग (आत्मस्वभाव में लीनता) की साधना से तथा अन्तकाल में समाधि से सिद्धि उपलब्ध होती है। इस सिद्धि के लिए सतत अभ्यास करना होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप—ये चार आराधनाएँ कही गई हैं। ध्यान, योग आदि इनके ही परिकर हैं। जैसे नेत्रों से अवलोकन करते हुए यदि उपयोग सावधान नहीं रहे तो प्राणी गर्त में

गिर जाता है, वैसे ही सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान रूपी नेत्र होते हुए आत्मस्वभाव में स्थिरता रूप चारित्र की सावधानी न हो, तो जीव संसार के गर्त में गिर जाता है, किन्तु सावधान होते ही अनन्त संसार में भटकने से बच जाता है। अतः सभी आगमों का सार आराधना है। मरणकाल में भक्तप्रत्याख्यानपूर्वक समाधिमरण करने से आराधना का सार प्राप्त होता है।⁴

संन्यासमरण के भेद

आगम में विस्तारपूर्वक मरण के सत्रह प्रकार कहे गए हैं। जीवन जन्मपूर्वक होता है, जन्म में प्राण-ग्रहण होता है, इसलिए प्राण-ग्रहण को जन्म और प्राण-त्याग को मरण कहा गया है। मरण इसप्रकार हैं— 1. आवीचिमरण (निषेक उदय में आकर खिरना) 2. तदभवमरण (भवान्तर-प्राप्ति) 3. अवधिमरण (लोक-परलोक में समान मरण) 4. आदि-अन्त-मरण (अभी से अगला असमान मरण होना) 5. बालमरण (चारित्रहीन तत्त्वश्रद्धानी का मरण) 6. पण्डितमरण (चारित्रवान सम्यग्दृष्टि का मरण) 7. अवसन्नमरण (पाशर्वस्थ आदि साधुओं का मरण) 8. बाल-पण्डितमरण (सम्यक्त्व सहित देशचारित्री का मरण) 9. सशल्यमरण (शल्यपूर्वक मरण) 10. बलाकामरण (संस्तरारूढ़ होने पर भी शुभोपयोग से दूर रहना) 11. वोसट्टमरण (इन्द्रियाधीन होकर मरण) 12. विष्पासणमरण (दुर्भिक्ष, उपसर्ग, चोर आदि, शील-संयमादि दूषित होने के भय से प्रायश्चित्तपूर्वक मरण) 13. गिद्धपृट्टमरण (आत्मविशुद्धिवान मुनि का शस्त्र द्वारा प्राण-त्याग करना) 14. भक्तप्रत्याख्यानमरण (काय व कषायों को कृश करते हुए संन्यासयुक्त विधिपूर्वक मरण) 15. इगिनीमरण (साथी मुनि की सेवा लिए बिना आहार-जल आदि का त्याग कर मरण) 16. प्रायोपगमन मरण (सेवा तथा आहार-जलादि का त्याग कर एकान्त वन में काष्ठ के समान उत्तम ध्यान में लीन होकर शरीर-विसर्जन) 17. केवलीमरण (निर्वाण गमन)।

मरण के पाँच भेद भी कहे गए हैं— 1. पण्डित-पण्डितमरण 2. पण्डितमरण 3. बाल-पण्डितमरण 4. बालमरण 5. बाल-बालमरण। इन पाँच प्रकार के मरणों में से प्रथम तीन प्रशस्त हैं, क्योंकि उनसे जन्म-मरण का अभाव होता है। बालमरण और बाल-बालमरण अनन्त संसार की वृद्धि करनेवाले अप्रशस्त हैं तथा हेय हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हमें अपने जीवन में यथासाध्य अधिक से अधिक समय धर्म-चिन्तन तथा धर्मध्यान में लगाना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा कुबुद्धि जीवों का प्रथम-द्वितीय गुणस्थान में बाल-बालमरण होता है। तृतीय गुणस्थान में मरण नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान में बालमरण तथा पंचम गुणस्थान में बाल-पण्डितमरण एवं छठे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पण्डितमरण कहा गया है। बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में मरण नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में पण्डित-पण्डितमरण होता है।

यथार्थ में मिथ्यात्व अनन्त संसार को बाँधने वाला है। इसलिए मिथ्यादृष्टि का

मरण अनन्त जन्मों का कारण है। आगम की भाषा में उसे बाल-बालमरण कहा गया है। यद्यपि असंयत सम्यग्दृष्टि का संसार अनन्त-पुद्गल परावर्तन रूप सीमित हो जाता है, किन्तु वह भी अनन्त है। इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ व्रत-चारित्र्य हुए बिना कोई भी जीव संन्यासमरण व पण्डितमरण का अधिकारी नहीं होता।

जिसका संयोग मिला है, उसका वियोग अवश्य होता है। संयोग और संयोगी भावों में आसक्त होकर प्राणी यह भूल जाता है कि घर-द्वार की भाँति एक दिन शरीर भी छूटने वाला है। भला यही है कि सहसा, बलात् वियुक्त होने के पूर्व स्वेच्छा से संन्यासपूर्वक देह का भी त्याग कर दिया जाए। जो अपना नहीं है, उसमें अपनत्व-ममत्व बुद्धि करके इतना समय बिताया, यही भूल-चूक हुई है। इस भूल को सुधारने के लिए ही आत्म-साधनापूर्वक संन्यासमरण करना ही सम्पूर्ण जीवन की आलोचना के साथ निर्दोष होने का अमोघ उपाय है। साधुओं के लिए तो यह अनिवार्य है, किन्तु गृहस्थ भी इस विधि को अपना कर अपना जीवन सुधार सकता है। इतना अवश्य है कि घर-गृहस्थी में आज के वातावरण में समाधिमरण दुःशक्य है, क्योंकि घर ममता का स्थान है। समाधि के इच्छुक के लिए मोह-ममता छोड़कर शुद्धात्मस्वभाव की लौ लगाना ही सर्वप्रथम एवं अनिवार्य आवश्यक कहा गया है। गृहस्थ को भी सल्लेखनापूर्वक मरण का उपदेश दिया गया है। सल्लेखना का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से काय और कषायों को कृश करना। अन्तरंग और बहिरंग के भेद से यह दो प्रकार की है। निज शुद्धात्म स्वभाव में स्थिर हो जाना अन्तरंग सल्लेखना है तथा शरीर व कषायों को कृश करना बहिरंग सल्लेखना है।

सल्लेखना अहिंसा धर्म है। इससे अहिंसा की सिद्धि होती है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

“नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।

सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धयर्थम्।।”

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 179

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति आदि कषाय भाव हैं। इनके वश में होकर प्राणी सब तरह की हिंसा करता है। हिंसा का मूल स्थायी भाव राग-द्वेष है। अतः मूल में मिथ्यात्व और कषाय ही हिंसा का अन्तरंग कारण है। सल्लेखना में कषाय को क्षीण किया जाता है। अतः इससे अहिंसाव्रत की सिद्धि व शुद्धि होती है। इसकारण सल्लेखना को अहिंसा के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। यह जीवन की पूर्ण शुद्धि का एकमात्र उपाय है।

सन्दर्भ :-

1. मरणकण्डिका, 1/20
2. भगवती आराधना, गाथा 5
3. वही, गाथा 6
4. मरणकण्डिका, श्लोक 21



सल्लेखना : जिज्ञासा और समाधान

प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन

सल्लेखना (सत्+लिख+ल्युट्+टाप) शब्द का सामान्य अर्थ है- सम्यक् प्रकार से कर्मों को तथा कर्मों के कारणों को खुरचना या जीवात्मा से अलग करना। किसी भी प्रकार से इसका अर्थ 'प्राणों का घात करना नहीं' है। अपरिहार्य मृत्युकाल के उपस्थित होने पर जबकि प्राणों की रक्षा करना संभव न हो, शान्तभावों से सदाचरणपूर्वक प्राणों का विसर्जन होने देना सल्लेखना है- ऐसी जैनाचार्यों की मान्यता है। इसमें प्राणों का त्याग नहीं किया जाता अपितु जब वे स्वतः शरीर से अलग होने लगते हैं तब हम धर्माचरण का परित्याग न करते हुए, हर्ष-विषाद तथा राग-द्वेषादि से परे रहते हुए उन प्राणों को जाने देते हैं। अतएव सल्लेखना लेने के कारणों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कहा है-

अतिवृद्धावस्था होने पर अथवा असाध्य रोग हो जाने पर अथवा अपरिहार्य उपसर्ग के उपस्थित हो जाने पर अथवा भीषण दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक जब मृत्यु को अवश्यम्भावी देखे तो सम्यभावपूर्वक क्रोधादि कषायों का सम्यक् प्रकार से संयमन करते हुए तथा भोजन-पान आदि का शनैः-शनैः त्याग करते हुए शरीर का विसर्जन करे।²

इस तरह आयु की पूर्णता को देखते हुए सहजभाव से आकांक्षा-रहित होकर वीरतापूर्वक शरीर का विसर्जन होने देना सल्लेखना है, आत्मघात नहीं।

संसार में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जिसका मरण (शरीर-त्याग) न होता हो। आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना गया है अथवा भुज्यमान आयु से भिन्न आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का विनाश होना मरण है। यह मरण कई भेदों वाला है। लोकप्रसिद्ध मरण तद्भव मरण है, प्रतिक्षण आयु का क्षरण होना नित्य मरण है। ऐसी स्थिति में हम जितेन्द्रिय होकर क्यों न मरण को प्राप्त हों? संसार में कई तरह के प्राणी हैं जिन्हें हम मरण की दृष्टि से मूलतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं-

(1) बालमरण वाले- संसार के विषयों में आसक्त रहते हुए जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनका बालमरण कहलाता है। विषादि का भक्षण करके मृत्यु को

प्राप्त होने वालों की गणना अधम बालमरण में की जाती है।

(2) पण्डितमरण वाले— संसार के विषयों से अनासक्त रहने वाले प्राणी की मृत्यु पण्डितमरण कहलाती है। विषय-भोगों की अनासक्ति के तरतम भाव की दृष्टि से इसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है— उत्तम, मध्यम और अधम। सल्लेखनापूर्वक मरण को ही पण्डितमरण कहते हैं। सल्लेखना धारण करनेवाले आराधक (साधक) की तीनों शुभ लेश्यायें संभव हैं, अशुभलेश्या वाला आराधक दिखावटी सल्लेखना धारण करता है। अतः कहा है— शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश से परिणत होकर मरनेवाला साधक उत्कृष्ट आराधक है। शुक्ल लेश्या के मध्यम अंश व जघन्य अंश तथा पद्मलेश्या के समस्त अंशों से परिणत होकर मरनेवाला साधक मध्यम आराधक है। पीतलेश्या के समस्त अंशों से परिणमित होकर मरनेवाला साधक जघन्य आराधक है।¹ जो उत्कृष्ट आराधक है वह उसी भव में मुक्त हो जाता है। जो मध्यम आराधक है वह तृतीय भव में मुक्त होता है। जो जघन्य आराधक है वह सातवें भव में मुक्त हो जाता है।² समाधि मरण वाला जीव अधिक से अधिक इक्कीस भवों के भीतर मनुष्य व देवलोक के सुखों को भोगकर मुक्त हो ही जाता है।³

यह सल्लेखनापूर्वक मरण या समाधिमरण या पण्डितमरण बाह्य (शरीराधीन और आभ्यन्तर कषायाधीन) के भेद से दो प्रकार का है—

“सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चव ।

अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरिरे।।”⁴

इन्हें ही क्रमशः द्रव्य सल्लेखना (बाह्य सल्लेखना) और भाव सल्लेखना (आभ्यन्तर सल्लेखना) कहते हैं।⁵

प्रश्न : बाह्य और आभ्यन्तर सल्लेखना में कौन प्रधान है?

उत्तर : परिणामों की विशुद्धि (कषाय-सल्लेखना) यदि न हो तो साधक शरीरकृश करनेवाला कितना ही बड़ा तप क्यों न करे, उसे संसार-परिभ्रमण से मुक्ति नहीं मिलती। अतः आभ्यन्तर सल्लेखना ही प्रधान है, बाह्य नहीं। बाह्य यदि आभ्यन्तर की साधक है तो कार्यकारी है, अन्यथा निरर्थक है, क्योंकि कषायों से कलुषित मन में परिणामों की विशुद्धि नहीं होती।⁶

प्रश्न : क्या बलात् (जबरदस्ती) किसी को सल्लेखना दिलाई जा सकती है?

उत्तर : नहीं, सल्लेखना प्रीतिपूर्वक ली जाती है अन्यथा वह बाह्यक्रिया मात्र होगी।⁷

प्रश्न : वृद्धावस्था, असाध्य रोग आदि कारणों के न होने पर क्या सल्लेखना ली जा सकती है?

उत्तर : नहीं। ऐसा करने पर आत्मघात हो सकता है।⁸

प्रश्न : संयम-विनाश के भय को देखकर क्या सल्लेखना ले सकते हैं?

उत्तर : नहीं, क्योंकि ऐसा करने से सल्लेखना भयपूर्वक होगी जो मंगलप्रदा नहीं है।¹¹ सल्लेखना तो प्रीतिपूर्वक और वीरता के साथ होती है। भयपूर्वक सल्लेखना लेना कायरता है और आत्मघात है।

प्रश्न : देश की आजादी और खुशहाली के लिए लड़ने वाले स्वतन्त्रता सेनानी मृत्युदण्ड प्राप्त होने पर प्रीतिपूर्वक व वीरता के साथ मृत्यु का वरण करते हैं। क्या उन्हें पण्डित मरण या सल्लेखना मरण कहा जा सकता है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि वहाँ रागादि का सद्भाव है। रागादि के सद्भाव में सल्लेखना नहीं होती।¹² यदि उस समय उसके परिणामों में किसी के भी प्रति रागादि भाव नहीं रहते हैं तो वह स्वयं सर्व परिग्रह का त्याग करके सल्लेखना धारण कर सकता है, और तब वह न तो गमनादि क्रिया करेगा और न अपनी अन्तिम इच्छा को व्यक्त करेगा। वह तो मृत्युकाल जानकर आत्मलीन या समाधिस्थ हो जायेगा।

प्रश्न : सल्लेखना में अन्न, जल आदि का त्याग करके तथा शरीर को क्षीण करके प्राणों को त्यागा जाता है, अतएव यह आत्मवध क्यों नहीं है?

उत्तर : आत्मवध में प्राणी विवेक खो देता है। वह प्रमादवश जड़ीभूत हो जाता है और विष-भक्षण आदि के द्वारा आत्महत्या कर लेता है। यदि अविवेकावस्था का वह काल बीत जाता है तो वह आत्मवध का विचार छोड़ देता है। आत्मवध के कारण हैं— प्रमाद, राग, द्वेष आदि। सल्लेखना में यदि ये कारण आ जायें तो वह आत्मवध ही होगी।¹³

प्रश्न : सल्लेखना क्यों धारण करनी चाहिए?

उत्तर : यह सच है कि मृत्यु किसी भी प्राणी को प्रिय नहीं है। परन्तु मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतएव जब मृत्यु को किसी ओषधि आदि से न रोका जा सके तो नश्वर शरीर की उपेक्षा करके अपने बहुमूल्य गुणरत्नों को बचाना ही सल्लेखना है। जैसे कोई व्यापारी घर में आग लगने पर पहले तो वह आग बुझाने का प्रयत्न करता है, फिर आग पर काबू न होने पर वह बहुमूल्य वस्तुओं को निकालकर उन्हें बचाने का प्रयत्न करता है और शेष (तुच्छ वस्तुओं) को जल जाने देता है। इसी में बुद्धिमानी है। इसीलिए सल्लेखना लेना चाहिए।¹⁴

प्रश्न : सल्लेखना लेने पर क्या नहीं करना चाहिए?

उत्तर : जीविताशंसा (जीने की आशा), मरणाशंसा (शीघ्र मर जाने की इच्छा),

मित्रानुराग (अभीष्ट जनों के प्रति राग और शत्रुओं के प्रति द्वेष), सुखानुबन्ध (पूर्वभूत सुखों का स्मरण) तथा निदान (अगले जन्म में सल्लेखना से प्राप्तव्य फल की कामना) – इन पाँच बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए। इन्हें ही सल्लेखना के पाँच अतिचार (दोष) कहा गया है।¹⁵

प्रश्न : कर्मों को कृश (क्षीण) करने का प्रयत्न हमेशा करना चाहिए, फिर यह सल्लेखना मृत्युकाल में क्यों महत्त्वपूर्ण है?

उत्तर : अन्त समय में धारण की जाने वाली सल्लेखना को मारणान्तिकी सल्लेखना कहा गया है। मृत्यु के समय धारण करने पर इसका एक विशेष महत्त्व है। जैन शास्त्रों की मान्यता है कि मरते समय जीव जिस लेशया से युक्त होता है वह लेशया उसके अगले भव में जाती है। सल्लेखनाधारी शुभ लेशया वाला होता है जिससे उसके अगले भव में शुभ लेशया होती है।¹⁶ सागारधर्मावृत्त में भी कहा गया है कि चिरकाल से आराधित धर्माचरण को यदि मरण के समय छोड़ दिया जाता है या उसकी विराधना की जाती है तो वह निष्फल हो जाता है। यदि मरण के समय उस धर्म की आराधना करता है तो चिरकाल के उपार्जित पापों का विनाश कर देता है।¹⁷ लोकोक्ति भी है— ‘अन्त भला सो सब भला।’

प्रश्न : तब तो अन्त समय में ही धर्माराधना करनी चाहिए, पहले नहीं?

उत्तर : नहीं, सल्लेखना वही धारण कर सकता है जिसने जीवन पर्यन्त सल्लेखना की भावना की हो और धर्माचरण किया हो, अन्यथा मरण-समय में वह सल्लेखना नहीं कर सकता है।¹⁸ निरन्तर अभ्यास करने वाले भी कभी-कभी चूक जाते हैं, क्योंकि उस समय शरीर-इन्द्रियाँ आदि शिथिल हो जाती हैं। अपवाद रूप में घुणाक्षर न्याय से अव्रती को भी सल्लेखना-प्राप्ति कदाचित् हो सकती है।¹⁹

प्रश्न : सल्लेखना-धारण करने का अधिकारी कौन है?

उत्तर : महाव्रती साधु और श्रावक (गृहस्थ) दोनों सल्लेखना धारण कर सकते हैं, परन्तु कोई-कोई व्रती ही इसे धारण कर पाते हैं।²⁰

प्रश्न : क्या सल्लेखना एक ही प्रकार की है? यदि उसके कई प्रकार हैं तो वे कौन-से हैं और उनकी क्या विधियाँ हैं?

उत्तर : कषायों और भोजन का क्रमिक त्याग करते हुए कर्म और शरीर को कृश करना सभी प्रकार की सल्लेखनाओं में समान होते हुए भी अपेक्षाभेद से (स्व और पर के उपकार की अपेक्षा) तीन प्रकार की सल्लेखना है— भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन।²¹

(1) **भक्तप्रत्याख्यान**— भक्तप्रत्याख्यान नामक सल्लेखना के साधक को स्व और परकृत दोनों के उपकार की अपेक्षा रहती है। साधक की वैयावृत्ति करने वाला यदि नहीं होगा तो वह ठीक से सल्लेखना की साधना नहीं कर सकता है। अतः इसे एक निर्यापकाचार्य की आवश्यकता पड़ती है। इस पंचम काल में यह भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना ही सम्भव है, क्योंकि अन्य दो सल्लेखनाएँ वज्रवृषभनाराच आदि श्रेष्ठ तीन संहनन (शरीर की संरचना) वालों को ही प्राप्त होती हैं। इस काल में ये तीनों संहनन नहीं होने से भक्तप्रत्याख्यान ही सम्भव है। इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल 12 वर्ष का है। शेष मध्यम काल है। भक्तप्रत्याख्यान प्रथमतः दो प्रकार का है— सविचार मरण (जब दीर्घकाल बाद मरण हो तो इसका साधक बलयुक्त होता है) और अविचार मरण (सहसा उपस्थित होने पर इसका साधक बलहीन होता है)। अविचार के तीन भेद हैं— निरुद्ध (जानने वालों की अपेक्षा इसके दो भेद हैं— प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप), निरुद्धतर और परमनिरुद्ध।²²

(2) **इंगिनीमरण**— इसमें साधक को पर के उपकार (सहायता) की अपेक्षा नहीं रहती। मूत्रादि का निराकरण स्वयं करते हैं। मात्र स्व सापेक्ष यह सल्लेखना होती है। इंगिनीमरण शब्द का अर्थ है— स्व-अभिप्रायानुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए मरण। यह रूढ़ शब्दार्थ है।

(3) **प्रायोपगमन**— इसमें स्व और पर दोनों की अपेक्षा नहीं होती। मूत्रादि का निराकरण न तो साधक स्वयं करता है और न दूसरे से कराता है। यह शुश्रूषा न तो स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है। प्रायोपगमन को ही पादोपगमन या प्रायोग्यगमन शब्द से भी कहा गया है। भव का अन्त करने योग्य संहनन व संस्थान को प्रायोग्य कहते हैं। पांवों से चलकर मरण करना पादोपगमन है। यह अन्य मरणों में भी सम्भव होने से यहाँ यह अर्थ रूढ़िवश है।²³

प्रश्न : यदि मृत्यु का संशय होने पर कोई साधक भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधि-मरण ले ले और बाद में मृत्यु टल जाए तो उसे क्या करना चाहिए?

उत्तर : उपसर्ग आदि के आने पर, मृत्यु का सन्देह होने पर यदि भक्तप्रत्याख्यान कर लिया है और उस उपसर्ग के टल जाने से मृत्यु का सन्देह दूर हो जाए तो पारणा (अन्न ग्रहण) कर लेना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति में पारणा नहीं की तो आत्मघात हो सकता है। अतः ऐसी परिस्थिति में जहाँ मृत्यु का संशय हो, ऐसा संकल्प करना चाहिए कि यदि बच गया तो पारणा करूँगा अन्यथा त्याग रहेगा। कहा है—

“एदमिह देसयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।

एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा होज्जं।।”²⁴

प्रश्न : समर्थ और असमर्थ श्रावकों के लिए मक्तप्रत्याख्यान विधि क्या है?

उत्तर : समर्थ श्रावक सभी प्राणियों से क्षमाभाव करके, हर्ष-शोक-भय-राग-द्वेष-परिग्रह आदि को छोड़कर कृत-कारित-अनुमोदना से (छल-रहित होकर) समस्त पापों की आलोचना करते हुए मरणपर्यन्त समस्त महाव्रतों को आरोपित (धारण) करे।²⁵ पश्चात् शास्त्रों का श्रवण करते हुए क्रमशः आहार को छोड़कर दुग्ध या छाछ को लेवे (बढ़ावे)। पश्चात् दुग्ध आदि को छोड़कर गरम जल को लेवे (बढ़ावे)। इसके बाद उष्णजल का भी त्याग करके शक्त्यनुसार उपवास करे तथा पंच नमस्कार को मन में धारण करते हुए शरीर त्याग करे।²⁶ असमर्थ श्रावक पूर्ववत् आचरण करे। यह वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर अपने ही घर में या जिनालय में रहकर देव-गुरु के पास मन-वचन-काय से अपनी आलोचना करके पेय (पान) के सिवा तीनों प्रकार के आहार (खाद्य, स्वाद्य और लेह्य) का त्याग करे। इसे उपासकाध्ययन में सल्लेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है।²⁷ बिना सल्लेखना लिये अपने घर में ही संस्तरारूढ़ होकर साम्यभाव से शरीर का त्याग करना बाल-पण्डित मरण कहलाता है।²⁸

प्रश्न : क्या वैयावृत्य करनेवाला सल्लेखनाधारी को आहार आदि दिखा सकता है?

उत्तर : हाँ। वैराग्य उत्पन्न करने के लिए ऐसा कर सकता है। इसमें वैयावृत्ति करनेवाले की सावधानी अपेक्षित है जिससे वह आहार की इच्छा होने पर उसे प्रतिबोधित कर सके।²⁹ कभी-कभी स्वतः भी वेदना का उद्रेक हो सकता है, वह अयोग्य भाषण आदि भी करने लगता है। ऐसे में वैयावृत्ति करने वाले को या निर्यापकाचार्य को बहुत सावधान रहना पड़ता है।³⁰

प्रश्न : क्या सल्लेखना से अकालमृत्यु नहीं होती?

उत्तर : मेरी दृष्टि में नहीं होती क्योंकि सल्लेखना लेने के जो कारण बतलाये गए हैं वे अकालमृत्यु का संकेत नहीं करते। जीवन की यदि आशा दिखे तो पारणा का भी निर्देश है। शरीर को आवश्यकतानुसार आहार दिया जाता है। आहार क्रमशः घटाने से उसका कुछ बिगड़ता नहीं है। अतः कुशल निर्यापकाचार्य का होना आवश्यक बतलाया गया है। कषायों के क्षीण हो जाने पर सम्यग्दृष्टि की मृत्यु कभी भी अकालमृत्यु नहीं कही जा सकती।

इस तरह सल्लेखनापूर्वक मरण न तो अपमृत्यु है और न ही प्राणघात है। यह तो ज्ञानियों का उत्तम पण्डित मरण है।

सन्दर्भ :-

1. सर्वार्थसिद्धि 7.22.363
2. रत्नकरण्डश्रावकाचार 122, भगवती आराधना 71-74; सागारधर्मामृत 8-9-10
3. भगवती आराधना, गाथा 1918-1921
4. वही, 2160-2162
5. धर्मपरीक्षा 19-96
6. भगवती आराधना, गाथा 206
7. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति 173-253
8. भगवती आराधना, गाथा 256-259, 1674, सागारधर्मामृत 8.23
9. सर्वार्थसिद्धि 7.22
10. भगवती आराधना, गाथा 76
11. धवला 1/1.1.1/25
12. सर्वार्थसिद्धि 7.22
13. वही
14. सर्वार्थसिद्धि 7.22
15. तत्त्वार्थसूत्र 7.37
16. भगवती आराधना, गाथा 1922
17. सागारधर्मामृत 8.16
18. भगवती आराधना, गाथा 18-21
19. भगवती आराधना, गाथा 24, पुरुषार्थसिद्धयुपाय 176
20. भगवती आराधना, गाथा 74; तत्त्वार्थवार्तिक 7.22
21. धवला 1/1.1.1/23.4; भगवती आराधना वि. 64.110/8
22. भगवती आराधना, गाथा 65, 2012
23. भगवती आराधना वि. 29/113
24. मूलाराधना 112
25. रत्नकरण्डश्रावकाचार 125
26. चारित्रसार 48/2
27. उपासकाध्ययन 271-272, वसुनन्दि श्रावकाचार 271-272
28. भगवती आराधना, 2083-2084
29. भगवती आराधना 689-695
30. भगवती आराधना 1501-1510



समाधि भावना

दिन-रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ ॥
शत्रु अगर कोई हो, सन्तुष्ट उनको कर दूँ ।
समता का भाव धर कर, सबसे क्षमा कराऊँ ॥
त्यागूँ आहार पानी, औषध विचार अवसर ।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ ॥
जागें नहीं कषायें, नहीं वेदना सतावे ।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ ॥
आत्म स्वरूप अथवा, आराधना विचारूँ ।
अरिहंत सिद्ध साधु, रटना यही लगाऊँ ॥
धरमात्मा निकट हों, चरचा धरम सुनावें ।
वह सावधान रखें, गाफिल न होने पाऊँ ॥
जीने की हो न वांछा, मरने की हो न इच्छा ।
परिवार मित्र जन से, मैं राग को हटाऊँ ॥
भोगे जो भोग पहले, उनका न होवे सुमिरण ।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ ॥
रत्नत्रय का पालन, हो अन्त में समाधि ।
'शिवराम' प्रार्थना है, जीवन सफल बनाऊँ ॥

तत्त्वार्थसूत्र एवं श्रावकाचारों में सल्लेखना

डॉ. जयकुमार जैन

‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ अर्थात् शरीर धर्मसाधना का प्रथम साधन है। किसी भी धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान स्वस्थ शरीर के बिना सम्भव नहीं होता है, अतः जब तक शरीर धर्मसाधना के अनुकूल रहे तब तक उसके माध्यम से धर्मसाधना करते हुए अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करना चाहिए। यदि कदाचित् शरीरनाश का अपरिहार्य कारण उपसर्ग, दुर्मिक्ष, जरा या रोग उपस्थित हो जाय और प्रयत्न करने पर भी उसका प्रतीकार सम्भव न हो तो जैन-परम्परा में धर्म की रक्षा के लिए शरीर एवं कषाय के त्याग रूप सल्लेखना का विधान किया गया है। श्रावक को जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान श्रावकाचार विषयक सभी ग्रन्थों में किया गया है। कतिपय ग्रन्थों में सल्लेखना के लिए संन्यासमरण या समाधिमरण शब्द का प्रयोग हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के धारक श्रावक को मारणान्तिकी सल्लेखना का आराधक कहा गया है— ‘अणुव्रतोऽगारी। दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च। मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता।’² इन तीन सूत्रों के मध्यम सूत्र में च का ग्रहण गृहस्थ के लिए सल्लेखना की आराधना का निर्देश करने के लिए किया गया है।³ तात्पर्य यह है कि जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन बिताना चाहता है तो उसे जिस प्रकार बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक हो जाता है, उसी प्रकार सल्लेखना की आराधना भी आवश्यक हो जाती है। यतः सल्लेखना की आराधना का व्रत मरण तक को ग्रहण किया जाता है, अतः इसे मारणान्तिकी सल्लेखना कहा गया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में इसका कथन श्रावक धर्म के प्रकरण में किया गया है, तथापि यह व्रत मुनि और श्रावक दोनों के लिए है।⁴ आचार्य पूज्यपाद ने सल्लेखना का सामान्य लक्षण करते हुए कहा है— ‘सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यगलेखना सल्लेखना।’⁵ अच्छी तरह से काय और कषाय की लेखना सल्लेखना है। बाहरी

शरीर और आन्तरिक कषायों का उनके कारणों के त्यागपूर्वक क्रमशः लेखन या कृश करना सल्लेखना कही गई है। चारित्रसार आदि अन्य श्रावकाचारों में सल्लेखना के इसी लक्षण की अनुकृति है। व्रतोद्योतन श्रावकाचार में मित्र, स्त्री, वैभव, पुत्र, सौख्य और गृह में मोह को छोड़कर अपने चित्त में पंच परमपद स्मरण करने को सल्लेखना कहा गया है।⁶ वसुनन्दि श्रावकाचार में सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत स्वीकार करते हुए कहा गया है कि वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष सम्पूर्ण परिग्रह को त्यागकर अपने घर में या जिनालय में रहकर जब श्रावक गुरु के समीप मन, वचन, काय से भली-भाँति अपनी आलोचना करके पेय के अतिरिक्त त्रिविध आहार को त्याग देता है, उसे सल्लेखना कहते हैं।⁷ श्रावक को जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान प्रायः श्रावकाचार विषयक सभी ग्रन्थों में किया गया है। कतिपय ग्रन्थों में सल्लेखना के स्थान पर संन्यास मरण या समाधिमरण शब्द का प्रयोग हुआ है।

‘सल्लेखना’ शब्द ‘सत्+लेखना’ का निष्पन्न रूप है। ‘लेखना’ शब्द ‘लिख्’ धातु से ल्युट् प्रत्यय एवं स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होगा। लिख् धातु का अर्थ यहाँ ‘कृश करना’ अभिप्रेत है। ‘लेखन’ शब्द के विविध अर्थों में ‘पतला करना, कृश या दुर्बल करना’ अर्थ भी है।⁸ भट्ट अकलंकदेव ने ‘सम्यक्कायकषाय-लेखना’ सल्लेखना का व्याख्यान करते हुए लिखा है— ‘लिखेर्णन्तस्य लेखनं तनूकरणमिति यावत्।’⁹ अर्थात् लिख् धातु से णि (णिच्) प्रत्यय करने से लेखना शब्द बनता है, जिसका अर्थ तनूकरण या कृश करना है। यहाँ यह विचारणीय है कि भट्ट अकलंकदेव ने लेखना शब्द को णिजन्त प्रक्रिया का रूप माना है। णिच् प्रत्यय चुरादिगण की धातुओं में स्वार्थ में तथा णिजन्त प्रक्रिया में प्रयोजक व्यापार (प्रेषणा, अन्वेषणा, अध्वेषणा) अर्थ में होता है।¹⁰

आचार्य पूज्यपाद ने सल्लेखना के सामान्य लक्षण में ‘क्रमेण’ शब्द के समावेश से दो बातों को स्पष्ट किया है। प्रथम तो सल्लेखना धीरे-धीरे करना चाहिए तथा द्वितीय इसका अभ्यास सल्लेखना ग्रहण करने के पूर्व व्रतादि के द्वारा पहले से ही होना चाहिए। जीवन के अन्तिम समय में जब श्रावक देखता है कि अब शरीर धर्मसाधन का माध्यम नहीं रह गया है तो कषायों को घटाने का प्रयत्न करता है, किन्तु यह कार्य सहज साध्य नहीं है, अपितु इसके लिए महान् प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। कषाय एवं आहार का त्याग करके आत्म-साधना में लीनता पूर्वाभ्यास से दृढ़ होती है। इसी कारण आचार्यों ने समाधिमरण की भावना भाने का निरन्तर उपदेश दिया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में कहा गया है कि काल, संहनन, दुर्बलता और उपसर्ग आदि के दोष से जब यह ज्ञात हो जाये कि अब धर्म

एवं आवश्यक कार्यों को करना सम्भव नहीं है, तब अवमौर्दर्य चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्टम भक्त आदि उपवासों के द्वारा आत्मा का संशोधन कर संयम को धारण कर उत्तम व्रत का धारी चार प्रकार के आहार का त्याग कर जीवनपर्यन्त अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में रत तथा स्मृति एवं समाधि में लगकर प्रीतिपूर्वक सल्लेखना का सेवन करे। ऐसा श्रावक उत्तमार्थ का आराधक होता है।¹¹

बाह्य काय और आन्तरिक कषायों के कृश करने से सल्लेखना दो प्रकार की होती है। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कषायसल्लेखना को भावसल्लेखना और कायसल्लेखना को द्रव्यसल्लेखना कहते हुए लिखा है— “आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनूकरणं भावसल्लेखना, तदर्थं काय-क्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः।”¹² यहाँ यह कथ्य है कि आभ्यन्तर एवं बाह्य सल्लेखना में साध्यसाधन भाव अभीष्ट है। अर्थात् बाह्य सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना का साधन है।

तत्त्वार्थसूत्र में ‘जोषिता’ का प्रयोग साभिप्राय है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है— “जोषिता सेविता गृहीत्यभिसंबध्यते। ननु च विस्पष्टार्थं सेवितेत्येव वक्तव्यम्, न अर्थविशेषोपपत्तेः। न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते। किं तर्हि? प्रीत्यर्थोऽपि। यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते। सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।”¹³ अर्थात् जोषिता का अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला गृहस्थ है। यहाँ ‘सेविता’ शब्द का प्रयोग न करके ‘जोषिता’ शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि तुदादिगण की जुष् धातु प्रीति, सेवन एवं प्रीतिपूर्वक सेवन अर्थों में प्रयुक्त होती है। कुछ लोगों के मत में चुरादिगणी जुष् धातु भी परितर्पण अर्थ में प्रयुक्त होती है।¹⁴ इससे स्पष्ट है कि अन्तरंग प्रीति के बिना बलात् सल्लेखना नहीं कराई जाती है अपितु प्रीति के होने पर आराधक स्वयं सल्लेखना करता है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी इस बात को स्पष्टतया कहा गया है।

‘जोषिता’ शब्द जुष् धातु से तृन् प्रत्यय से निष्पन्न रूप है, यह तृच् प्रत्यय से निष्पन्न रूप नहीं है। क्योंकि यदि तृच् प्रत्यय से निष्पन्न रूप होता तो ‘कटस्य कर्ता’ के समान ‘सल्लेखनायाः जोषिता’ रूप बनता। तृन् प्रत्यय के साथ पाणिनि ने ‘न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनाम्’ (2/3/69) सूत्रानुसार षष्ठी विभक्ति का निषेध किया है। तृन् प्रत्यय होने से ‘कर्ता लोकान्’ के समान ‘सल्लेखना जोषिता’ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ यह कथ्य है कि षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में होती है, जबकि द्वितीया विभक्ति कर्ता के ईप्सिततम कर्म में होती है। अतः इस व्याकरण के विशिष्ट प्रयोग से यह भी द्योतित होता है कि सल्लेखना शरीर-नाश के अनिवार्य कारण उपरिथत होने पर ईप्सिततम धार्मिक क्रिया या अनुष्ठान है।

भट्ट अकलंकदेव ने लिखा है— ‘सल्लेखनायाः जोषितेति प्राप्नोति इति चेत्? न तृणः प्रयोगात्।’¹⁵ यदि कोई कहे कि यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करना चाहिए तो यह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ तृण प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

सल्लेखना में अवमोदर्य, अनशन आदि के द्वारा क्रमशः शरीर को कृश करते हुए उसका अन्त किया जाता है, अतः कुछ लोग सल्लेखना के लिए स्वहिंसा या आत्महत्या जैसे गहिर्त शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह प्रश्न आचार्य पूज्यपाद के समक्ष भी उपस्थित रहा होगा। उन्होंने ‘अप्रमत्तत्वात्’ हेतु देकर सल्लेखना में हिंसात्वात् का निवारण किया है। हिंसा का स्वरूप बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में ‘प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा’¹⁶ कहा गया है। केवल प्राणों का विनाश मात्र हिंसा नहीं है, अपितु उसमें प्रमादजन्यता आवश्यक है। स्पष्ट है कि जो प्राणों का विनाश रागद्वेष रूप प्रवृत्ति या प्रमाद के कारण होता है, वह तो हिंसा है, शेष नहीं। कभी-कभी प्रमाद का योग न होने पर भी द्रव्यप्राणों का विनाश देखा जाता है। जब साधु ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हैं, तब उनके रंचमात्र भी प्रमाद का योग नहीं होता है, फिर भी कदाचित् पैर से दबकर किसी क्षुद्र जीव का प्राण-विनाश सम्भव है। जैसे वहाँ हिंसा का प्रयोजक हेतु नहीं है, उसी प्रकार सल्लेखना में प्राणत्याग होने पर भी हिंसा का प्रयोजक हेतु प्रमाद नहीं होता है, अतः वहाँ स्वहिंसा या आत्महत्या जैसे शब्दों का प्रयोग करना अविचारित कृत्य है। जैनदर्शन में तो हिंसा रागादि विकारों का पर्यायवाची शब्द है। ‘अमृतचन्द्राचार्य ने तो स्पष्टतया कहा है कि राग आदि विभावों की उत्पत्ति का न होना अहिंसा है और उन्हीं विभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है। यही जैन सिद्धान्त का रहस्य है।’¹⁷ यदि प्राण-विनाश को हिंसा का लक्षण माना जाएगा तो वह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से दूषित होगा।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है— ‘न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः? रागाद्यभावात्। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति, ततो नात्मवधदोषः।’¹⁸ अर्थात् सल्लेखना में इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि इसके रागादि का अभाव है। राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष, शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके अपना घात करता है, उसे आत्मघात (स्वहिंसा) का दोष प्राप्त होता है। परन्तु सल्लेखना के आराधक जीव के राग आदि विकार नहीं होते हैं, अतः सल्लेखना में आत्मवध का दोष नहीं है। अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि अवश्यम्भावी मरण के समय कषायों को कृश करने के साथ शरीर के कृश करने में रागादि भावों के न होने से सल्लेखना आत्मघात नहीं है। हाँ, यदि कोई कषायाविष्ट होकर श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि के द्वारा प्राणों का घात करता है तो वह वास्तव में आत्मघात है। सल्लेखना में कषायों

का सद्भाव नहीं है, अतः वह तो अहिंसा की सिद्धि के लिए ही है।¹⁹

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी आत्महत्या में घृणा, असमर्थता, अहंकारी प्रवृत्ति, हीनता आदि भाव होते हैं। ये सल्लेखना में नहीं है। आत्मघात एक क्षणिक मनोविकृति है, जबकि सल्लेखना सुविचारित कार्य। आत्महत्या में आवेश तथा छटपटाहट होती है, जबकि सल्लेखना में प्रीति तथा स्थिरता। अतः स्पष्ट है कि सल्लेखना आत्मघात नहीं है। विविध सम्प्रदायों में प्रचलित जलसमाधि, अग्निपात, कमलपूजा, भैरवजप आदि द्वारा प्राणविनाश में धर्म मानने की प्रचलित प्रथायें थीं, किन्तु इन्हें सल्लेखना के समान नहीं माना जा सकता है। क्योंकि इनके मूल में कोई न कोई भौतिक आशा या अन्य प्रलोभन विद्यमान रहता है, जबकि सल्लेखना की स्थिति ऐसी नहीं है।

इस प्रसंग में पूज्यपाद एवं भट्ट अकलंकदेव ने एक और हेतु दिया है— 'मरणस्य अनिष्टत्वात्।'²⁰ उनका कहना है कि जैसे अनेक प्रकार के पण्य के लेन-देन और संचय में संलग्न किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है। यदि परिस्थितिवश उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाए तो पहले तो वह यथाशक्ति उन्हें दूर करता है। यदि उनका दूर करना सम्भव न हो, तो वह घर के बहुमूल्य सामान की रक्षा का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार कोई श्रावक व्रत, शील आदि के संचय में प्रवृत्त होता हुआ उसके आश्रयभूत शरीर का नाश नहीं चाहता है। शरीर के नाश के कारण उपस्थित हो जाने पर वह संयम की रक्षा करता हुआ यथासम्भव उनको दूर भी करता है, किन्तु यदि प्रतीकार सम्भव न हो तो संयम की रक्षा के लिए शरीर को त्याग देता है। अतः संयम की रक्षा के लिए किये गये इस प्रयास को आत्मवध नहीं कहा जा सकता है। भट्ट अकलंकदेव ने कहा है कि 'उभयानभिसन्धानात्'²¹ अर्थात् सल्लेखना के आराधक के जीवन और मरण दोनों में आसक्ति नहीं होती है। अतः मरण के अटल कारणों के आ जाने पर शरीर के त्याग में आत्मवध का दोष नहीं लगता है।

भट्ट अकलंक देव ने सल्लेखना के योग्य समय का निर्देश करते हुए कहा है— जरा, रोग और इन्द्रियों की विफलता के कारण आवश्यक क्रियाओं की हानि होने पर सल्लेखना धारण करना चाहिए। अर्थात् जब व्यक्ति शरीर को दूषित करने वाले बुद्धापे से बलवीर्य से हीन हो जाता है तथा वातादिजन्य रोगों से इन्द्रियों की सामर्थ्य से क्षीण हो जाता है, फलतः वह आवश्यक क्रियाओं के पालन में असमर्थ हो जाता है, तब शरीर के नाश के अनिवार्य कारण उपस्थित हो जाने से शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करना योग्य है।²² सूत्र शैली की दृष्टि से पूर्वसूत्र के साथ इस सूत्र का समाहार करना यद्यपि लघ्वर्थक होता,

तथापि ऐसा इसलिए नहीं किया गया है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि सभी प्रतियों को सल्लेखना आवश्यक नहीं है। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है— 'कदाचित् कस्यचित् तां प्रत्यभिमुख्यज्ञापनार्थत्वात् सप्ततपशीलवतः कदाचित् कस्यचिदेव गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं न सर्वस्येति ।'²³ अर्थात् कभी-कभी तथा किसी-किसी को सल्लेखना की अभिमुखता होती है, यह बात बताने के लिए पृथक् सूत्र बनाया गया है। सात शीलव्रतों को धारण करने वाला कोई-कोई श्रावक ही कभी-कभी सल्लेखना के अभिमुख होता है, सब नहीं। यहाँ यह स्पष्ट रूप से ध्यातव्य है कि कषायों को कृश न करके, केवल शरीर को ही कृश करने वाले का शरीर को कृश करना निष्फल है, क्योंकि कषायों को कृश करने के लिए ही शरीर को कृश किया जाता है, केवल शरीर को कृश करना प्रयोजनभूत नहीं है।²⁴ यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि शरीर के विनाश के अनिवार्य कारण उपस्थित न होने पर संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास निरोध करके शरीर के त्याग को भी ध्वलाकार वीरसेन स्वामी ने मंगल नहीं माना है।²⁵ अतः स्पष्ट है कि प्रतीकारहीन शरीर-विनाश के कारण होने पर ही सल्लेखना का विधान है।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणसूत्र और चार शिक्षाव्रतों के धारक श्रावक को मारणान्तिकी सल्लेखना का आराधक कहा है।³⁰ जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन को बिताना चाहता है तो उसे जिस प्रकार बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जब व्रती श्रावक मरण के समय आत्मध्यान में लीन रहना चाहता है तो उसे सल्लेखना की आराधना आवश्यक हो जाती है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में सल्लेखना का कथन श्रावकधर्म के प्रसंग में हुआ है, किन्तु यह मुनि और श्रावक दोनों के लिए निःश्रेयस् का साधन है। पं. गोविन्दकृत पुरुषार्थानुशासन में तो अव्रती श्रावक को भी सल्लेखना का पात्र माना गया है। वे लिखते हैं कि यदि अव्रती पुरुष भी समाधिमरण करता है तो उसे सुगति की प्राप्ति होती है।²⁷ न केवल मनुष्य ही अपितु पशु भी समाधिमरण के द्वारा आत्मकल्याण कर सकता है। उदाहरण से स्पष्ट किया गया है कि अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाला सिंह भी मुनि के वचनों से उपशान्त चित्त होकर और सन्यास विधि से मरकर महान् ऋद्धिवान देव हुआ। तत्पश्चात् मनुष्य एवं देव होता हुआ अन्त में राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के वर्धमान नामक पुत्र हुआ।²⁸ स्पष्ट है कि सल्लेखना सबके लिए कल्याणकारी है तथा प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाले मुनीश्वर, व्रती एवं अव्रती सब इसके अधिकारी हैं। पण्डितप्रवर आशाधर के अनुसार जन्मकल्याणकस्थल, जिन मन्दिर, तीर्थस्थान एवं निर्यापकाचार्य का सान्निध्य सल्लेखना के उपयुक्त स्थान है।²⁹

लाटी संहिता में भी व्रती श्रावक को मरण समय में होनी वाली सल्लेखना का

काल कहा गया है।³⁰ पुरुषार्थानुशासन के अनुसार प्रतीकार रहित रोग के उपस्थित हो जाने पर, दारुण उपसर्ग के आने पर अथवा दुष्ट चेष्टा वाले मनुष्यों के द्वारा संयम के विनाशक कार्य प्रारम्भ करने पर, जल-अग्नि आदि का योग मिलने पर अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर या ज्योतिष-सामुद्रिक आदि निमित्तों से अपनी आयु का अन्त समीप जानने का कर्त्तव्य के ज्ञानी मनुष्य को सल्लेखना धारण करना चाहिए।³¹ यशास्तिकचम्पूगत उपासकाध्ययन, चारित्रसार, उमास्वामि श्रावकाचार, हरिवंशपुराणगत श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में भी सल्लेखना का यही काल अभिप्रेत है।

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सल्लेखना धारण करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब, मित्र आदि से स्नेह दूर कर, शत्रुजनों से वैरभाव हटाकर, बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागकर, शुद्ध मन वाला होकर, स्वजन एवं परिजनों को क्षमा करके प्रिय वचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा मांगे तथा सब पापों की आलोचना करके सल्लेखना धारण करें। क्रमशः अन्नाहार को घटाकर दूध, छाँछ, उष्णजल आदि को ग्रहण करता हुआ उपवास करें। अन्त में पंच नमस्कार मन्त्र को जपते हुए सावधानीपूर्वक शरीर को त्यागे।³² वसुनन्दिश्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार चारित्रसार एवं पुरुषार्थानुशासन आदि ग्रन्थों में सल्लेखना की विधि में रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अनुकरण किया गया है। उपासकाध्ययन में कहा गया है कि जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास आदि के द्वारा शरीर को तथा ज्ञानभावना के द्वारा कषायों को कृश करना चाहिए।³³

विविध सम्प्रदायों में जलसमाधि, अग्निपात, कमलपूजा, भैरव जप आदि द्वारा प्राण विनाश में धर्म मानने की प्रथायें प्रचलित थीं और हैं, किन्तु इन्हें सल्लेखना के समान नहीं माना जा सकता है; क्योंकि इनके पीछे कोई-न-कोई भौतिक आशा या अन्य प्रलोभन अथवा पर-प्रसन्नता रूप कारण विद्यमान रहता है। सल्लेखना का उद्देश्य कोई भौतिक आशा या पर-प्रसन्नता नहीं है, अपितु इसकी आराधना तो विशिष्ट एवं अपरिहार्य शरीर-नाश के कारण उपस्थित हो जाने पर संयम की रक्षा के लिए की जाती है। उपर्युक्त जल-समाधि आदि कृत्यों में क्षणिक उद्वेग होने से दुर्ध्यान उत्पन्न हो जाता है, जबकि सल्लेखना की स्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि सल्लेखना तभी विधेय है जब जीवन का अन्त निश्चित रूप से समीप दृष्टिगोचर होता हो, धर्म एवं आवश्यक कार्यों का नाश हो रहा प्रतीत होता हो तथा उसके धारण करने में किसी प्रकार का दुर्ध्यान न होता हो। उसकी आराधना में दुर्ध्यान न होने पाये— इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि दुर्ध्यान से

मरण ही आत्मघात है और सल्लेखना इस प्रकार के मरण से साधु या श्रावक की रक्षा करती है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जीवन के अन्त में धारण की गई सल्लेखना से पुरुष दुःखों से रहित हो निःश्रेयस् रूप सुख-सागर का अनुभव करता है, अहमिन्द्र आदि के पद को पाता है तथा अन्त में मोक्ष सुख को भोगता है।³⁴ अमृतचन्द्राचार्य ने सल्लेखना को धर्मरूपी धन को साथ ले जानेवाला कहा है।³⁵ सोमदेवसूरि सल्लेखना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि सल्लेखना के बिना जीवन भर का यम, नियम, स्वाध्याय, तप, पूजा एवं दान निष्फल है। जैसे— एक राजा ने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा, किन्तु युद्ध के अवसर पर शस्त्र नहीं चला सका तो उसकी शिक्षा व्यर्थ रही, वैसे ही जो जीवन भर व्रतों का आचरण करता रहा, किन्तु अन्त में मोह में पड़ा रहा तो उसका व्रताचरण निष्फल है।³⁶ लाटीसंहिता में कहा गया है कि वे ही श्रावक धन्य हैं, जिनका समाधिमरण निर्विघ्न हो जाता है।³⁷ उमास्वामीकृत श्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, पुरुषार्थानुशासन, कुन्दकुन्द श्रावकाचार, पद्मकृत श्रावकाचार तथा दौलतराम कृत क्रियाकोष में सल्लेखना को जीवन भर के तप, श्रुत एवं व्रत का फल तथा महर्द्धिक देव एवं इन्द्रादिक पदों को प्राप्त करने वाला कहा गया है।³⁸

तत्त्वार्थसूत्र (7/37) में जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान— इन पाँच को मारणान्तिक सल्लेखना का अतिचार कहा है।³⁹ पूजादि देखकर जीने की इच्छा करना और न देखकर शीघ्र मरने की इच्छा करना क्रमशः जीविताशंसा और मरणाशंसा है। मित्रों के प्रति अनुराग रखना मित्रानुराग और सुखों का पौनः पुन्येन स्मरण सुखानुबन्ध है। तप का फल भोग के रूप में चाहना निदान है। यदि ये अज्ञान असावधानीवश होते हैं तो अनाचार हैं। अतिचार से सल्लेखना में दोष उत्पन्न होता है, किन्तु अनाचार से तो सल्लेखना नष्ट ही हो जाती है। अतः अतिचार को अतिचार मानकर शिथिलता नहीं करनी चाहिए। यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, लाटीसंहिता, हरिवंशपुराण श्रावकाचार, पुरुषार्थानुशासन, धर्मरत्नाकर, क्रियाकोष आदि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में भी इन्हीं पाँचों अतिचारों का वर्णन है।

जैनधर्म में सल्लेखना साधक की साधना का निकष है। यह तप, श्रुत, व्रत आदि का फल है तथा इसका फल सुगति की प्राप्ति है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के शब्दों में 'सल्लेखना वस्तुतः शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है। एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर जवाब दे, वह स्वयं समतापूर्वक उसे जवाब दे देता है और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है।'⁴⁰ सल्लेखना जीवन के परम सत्य मरण का हँसते-हँसते वरण है।

‘समाधिमरण-पाठ’ में कवि कहते हैं—

“मृत्युराज उपकारी जिय को, तन सौँ तोहि छुड़ावै।
नातर या तन बन्दीगृह में, परखो-परखो विललावै।”

सन्दर्भ :-

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 122
2. तत्त्वार्थसूत्र, 7/20-22
3. सर्वार्थसिद्धि, 7-21
4. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/22/14
5. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
6. प्रतोद्योतनश्रावकाचार, 124
7. वसुनन्दिश्रावकाचार, 271-272
8. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 882
9. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22/3
10. सिद्धान्त कौमुदी 3/1/16
11. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 7/17
12. पंचास्तिकाय
13. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
14. सिद्धान्त कौमुदी, धातुसंख्या 1835
15. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22/5
16. तत्त्वार्थसूत्र, 7/13
17. पुरुषार्थसिद्धि-उपाय 44
18. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22/9
19. वही, 177-179
20. वही, 7/22 एवं तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22/8
21. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
22. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/22/11
23. वही, 7/22/12 का व्याख्यान
24. सागारधर्मांमृत, 8/23
25. धवला 9/9/9/25
26. तत्त्वार्थसूत्र 7/20-22
27. पुरुषार्थानुशासन, 6/113
28. वही, 6/114-116
29. सागारधर्मांमृत, 8/23
30. लाटीसंहिता, 232-233
31. पुरुषार्थानुशासन, 99-100
32. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 124-128
33. यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 863
34. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 130-131
35. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 175
36. यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 865-866
37. लाटीसंहिता, 5/235
38. उमास्वामिश्रावकाचार, 463, श्रावकाचारसारोद्धार 3/351, पुरुषार्थानुशासन 6/111, कुन्दकुन्दश्रावकाचार 12/4
39. तत्त्वार्थसूत्र 7/37
40. मुक्ति पथ के बीज



महा महोच्छव होइ

“मरता मरता जग मुआ, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसे मरि मुवा, ज्यै बहुरि न मरना होइ।।
जिस मरनै थै जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ, कब देखिहूँ, पूरन परमानन्द।।
जीवन से मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने पहले जो मरे, अज्जर अम्मर होय।।
मरनौ भलौ विदेस कौ, जहाँ न अपनौ कोइ।
माटी खाय जनावरा, महा महोच्छव होइ।।”

—कबीर ग्रन्थावली

मृत्यु के गीत

✍ रामधारी सिंह 'दिनकर'

मृत्यु के गीत गाओ, अरे गाओ ।
अगर स्वर समर्थ है ।
क्योंकि मृत्यु के गायन के बिना
जीवन के गीत का न अर्थ है ।
मृत्यु के गीत मरने के गीत नहीं हैं
गीत हैं वे सबसे लम्बी सफर के !
उस अनजाने देश के गायन,
जहाँ आदमी को जाना पड़ता है मर के
दुनिया से जाने के समय
आत्मा क्या छोड़ती क्या लेती है?
जिसे सब मृत्यु कहते हैं
वह उसे कैसे दिखाई देती है
परतों पर परतें अन्धकार की
और आत्मा उनके भीतर प्रवेश करती है
प्याज के छिलकों के समान
अन्धेरे पर अन्धेरा है ।
मरने पर भी सृष्टि का अर्थ
आसानी से नहीं खुलता
सत्य को छिपाए हुए
तिमिर का घेरों पर घेरा है
सभी परतों के पार
अन्धकार के नीचे
अचल में वह जगह है
जहाँ विस्मृति विराजती है

पूरी निःशब्दता के बीच
 शान्ति रखती है।
 यहीं पहुँच कर आत्मा
 पूर्णतः एकान्त होती है
 प्रशब्द मौन के पास
 जाने पर शान्त होती है।
 अन्धकार की परतों का गान करो
 जहाँ एकान्त मूल बिन्दु है उसे खोजो
 विस्मृति के गाओ गान
 जहाँ प्राणों को शान्ति मिलती है
 उस गहराई का करो संधान
 जहाँ अशब्दता की कली खिलती है।



विदाई

परिजन देत विदाई, है अजब जुदाई सभी का दिन आना है।
 जाएगी साथ भलाई, करी जु बुराई, सभी रह जाना है।।
 आयु कर्म जब अन्तिम बेला, उड़ जाएगा हंस अकेला।
 पड़ा रहेगा यहीं झमेला, दर्शक का लग जाए मेला।।
 पुरजन रोबत भाई, नारि घबराई, भयानक बाना है।
 परिजन देत विदाई, है अजब जुदाई सभी का दिन आना है।।
 आय पड़ोसी ठठरी बाँधी, मित्र ले चले करके काँधी।
 कहने लगे ले गई व्याधी, साथ चली नहीं एक उपाधी।।
 सुत तन आग लगाई, चिता दहकाई, कहीं सब जाना है।
 परिजन देत विदाई, है अजब जुदाई सभी का दिन आना है।।
 सन्मति सावधानि की बेला, अन्त समय में चले अकेला।
 साथ चले नहीं एक अधेला, किंचित जोड़ो मती झमेला।।
 रागद्वेष विसराई, धरम सुखदाई, मुक्ति यदि पाना है।
 परिजन देत विदाई, है अजब जुदाई सभी का दिन आना है।।
 जाएगी साथ भलाई, करी जु बुराई सभी रह जाना है।
 परिजन देत विदाई, है अजब जुदाई सभी का दिन आना है।।

जीवन-साधना का फल – आत्मधर्म की प्राप्ति

ॐ पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री

वस्तुसहायो धम्मो – इस व्याख्या के अनुसार धर्म तो वस्तु मात्र में पाया जाता है, तथापि अचेतन पदार्थ स्वभाव में हो या विभाव में, उसे कोई इसका ज्ञान नहीं है। आत्मा ही एक सचेतनद्रव्य है जो स्वभाव (धर्म) के विरुद्ध अवस्था में दुःख पाता है। अतः आत्मा के लिए उसके धर्म की चर्चा, उपदेश आदि दिया जाता है।

आत्मस्वभाव तो शक्ति रूप से सदा जीव में है, पर उसकी अभिव्यक्ति नहीं है। स्वभाव पर-निमित्त में विभाव रूप परिणत हो रहा है। उत्तम क्षमादि दश धर्म, रत्नत्रय स्वरूप धर्म, व्रतादिरूप धर्म, षडावश्यकरूप धर्म— ये सब उस आत्मस्वभाव की प्रकटता में साधन हैं। ये भेदरूप हैं, वह शुद्ध स्वभाव अभेदरूप है। जो मुमुक्षु साधुजन हैं उनका तो सतत प्रयत्न यही रहता है, तथापि श्रावक धर्म भी उसी धर्म की सीढ़ी है।

इस अनादि परम्परागत संसार में जीवन लेना और मरण करना, पुनः पुनः इसे ही दुहराना यही एक मात्र कार्य है। जीवन के साथ मरण का जोड़ा है, यदि जन्म आवश्यक है तो मरण भी अनिवार्य है। चतुर्गति रूप चौरासी लाख योनियों में मनुष्य गति ही ऐसी है, जिसमें इस कठिन चक्र से निकलने की योग्यता प्राप्त होती है।

शरीर आत्मा नहीं है किन्तु आत्मा को अपने कर्मदण्ड के भोगने का साधनभूत कारागृह है। इस कारागृह को ही मोहवश यह जीवात्मा अपना रूप मान रहा है। उसे यह भी पता नहीं कि शरीर के अतिरिक्त भी कई वस्तु हैं जो मैं (आत्मा) हूँ। देह नहीं हूँ, देह मैं नहीं हूँ। मैं और देह पृथक्-पृथक् गुण धर्मवाली भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। मैं चेतन हूँ, ज्ञायक हूँ, जबकि देह अचेतन है, और मात्र ज्ञेय है। परस्पर विभिन्न ही नहीं, विरुद्ध धर्म रखनेवाली इन दो वस्तुओं का मेल ही मेरा सांसारिक जीवन है। यह विरोधी सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है। इस गुत्थी का सुलझना अभी तक सम्भव नहीं हुआ। इसके न सुलझ सकने का कारण हमारी अनेकता में एकता ही श्रद्धारूप मिथ्याभाव है। जब तक हमें अपने उल्लिखित स्वरूप का ही बोध और उस पर श्रद्धा न हो तब तक उस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न कैसे हो?

तात्त्विकी श्रद्धा और तात्त्विक ज्ञान के बाद ही तात्त्विक प्रयत्न (आचार) का होना सम्भव है। यही कारण है कि अपनी अतात्त्विकी (मिथ्या) श्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचार (विपरीत प्रयत्न) के कारण हमारी सुलझनों की समस्या खाई में पड़ी है और तब तक पड़ी रहेगी, जब तक हमें सम्यक् श्रद्धा न हो। आचार्य उमास्वामी ने अपने तात्त्विक ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।’

सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान व आचार ही मोक्षमार्ग अर्थात् छूटने का उपाय है। भले ही लौकिक बन्धन के छुड़ाने का उद्देश्य हो, या पारमार्थिक बन्धन से छूटने का, पर छूटेगा व्यक्ति तद्विषयक तात्त्विक श्रद्धा, ज्ञान और आचार के ही द्वारा। जिनको ये प्राप्त हों वे अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से छुड़ाने का प्रयत्न भी करते हों। उनका दृढ़तम विश्वास हो कि हमें बिना देह-मोह त्यागे कल्याण का पथ न मिलेगा। पाप प्रवृत्ति छोड़कर न्याय-प्रवृत्ति करना, न्याय प्रवृत्ति में दुःख हो तो भी उसे समता परिणामों से सहन करना, व्रत पालना, उपवास कर कुछ समय आहारादि से मुक्त रहना, नीरस भोजन, केशलौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि सम्पूर्ण कार्य एक उद्देश्य के सहायक हैं।

जैन-परम्परा में श्रावक हो या साधु, उसके समस्त कर्तव्य इसी आधार पर चलते हैं। जीवन का अन्त जब होने लगता है तब आत्मप्रदेश-स्वयं इस अजीवात्मक जड़ देह को छोड़ने लगता है। देह जो जीवन में भोग का साधनभूत था उसे त्याग के पथ में लाकर उसका साधन बनाया था, वह देह अब अन्तिम अवस्था में न भोग का साधन रह जाती है और न व्रतादि रूप त्याग का। वह अपनी जड़ात्मक प्रवृत्ति के अनुसार गलने लगती है। जैसे-जैसे आत्मप्रदेश शरीर-सम्बन्ध के बन्धनों को ढीला करते हैं वैसे-वैसे शरीर की गलने की क्रिया बढ़ने लगती है।

यदि किसी ने अपने जीवनकाल में जबकि देह को योग हेतु साधनभूत बनाया जा सकता था तब उसे भोग का ही साधन बनाया और उससे आत्महित के कार्य नहीं लिये, उसे भी अन्तिम समय यह आवश्यक हो जाता है कि वह योग और भोग के लिए असाधनभूत शरीर को, जो उसे स्वयं त्याग रहा है, त्याग देने का स्वयं संकल्प करे। इसी संकल्प और तदनुसार होने वाली क्रिया को सल्लेखना या समाधि कहते हैं।

कर्मभूमि के मानव-जीवन का उद्देश्य न भोग है, और न होना ही चाहिए। कर्मदण्ड अगर पुण्यरूप हो तो उसके भोग के साधन देवपर्याय, भोगभूमिगत मानव व तिर्यच पर्याय हैं। यदि यह दण्ड पाप रूप है, तो उसके भोग के साधन नरक पर्याय और एकेन्द्रियादि असैनी पर्यन्त तिर्यच अथवा सैनी पञ्चेन्द्रिय कर्मभूमिज

तिर्यच भी हैं। कर्मभूमिज मानव की गर्भज पर्याय तो यथार्थ में संसार-बन्धन से उच्छेद में ही अत्यन्त साधक या एकमात्र साधक है। अतः इसका उपयोग भोग में न कर देहात्म भेद दशा को प्राप्त करने के प्रयत्न में ही करना चाहिए।

जीवन के जितने क्षण बीत जाते हैं, वापिस नहीं आते। उनका सदुपयोग कर सकने की बात सर्वथा असम्भव हो जाती है। जो क्षण शेष हैं, वे भी यदि इसी भाँति व्यर्थ चले गए तो पूरी मानव पर्याय पशु जीवन तुल्य बीत गई। प्राप्त सामग्री का यथासमय सदुपयोग न कर उसके नष्ट होने पर पश्चात्ताप करनेवाले मूर्ख मनुष्य की तरह ही मानव पर्याय खो देनेवाले मनुष्य की स्थिति होती है। अतः प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि अपने जीवन के क्षण-क्षण की कीमत करे। जितने क्षणों का आत्महित में उपयोग हो, उतने क्षण अपने हैं, शेष वृथा जा रहे हैं— ऐसा हर समय मानकर चलना चाहिए। जिन्हें यह विवेक है वे अपना समय वृथा नहीं खोते और समस्त क्षणों का उपयोग अच्छे से अच्छे रूप में कर लेना चाहते हैं। वे ही महापुरुष साधु-सन्त-सज्जन-यति-मुनि-ऋषि आदि शब्दों द्वारा बोधित होते हैं।

मानव पर्याय की समाप्ति के समय जो समाधि ग्रहण की जाती है उसमें साधु और श्रावक का कोई भेद नहीं रहता है। वह धर्म दोनों के लिए एक-सा है। क्रम-क्रम से अन्न-जलादि का त्याग तथा कषाय की कृशता, सर्व परिग्रह त्याग, सबसे मोह-ममता का त्याग, प्रकारान्तर से अन्त समय की समाधि में सर्व परित्याग कर केवल स्वावलम्बन का उपदेश दोनों को है। अपने जीवन-काल में परिजनों से सम्पर्क हुआ है, राग-द्वेष भी उत्पन्न हुए होंगे, अतः उन सबसे अपने अपराधों की क्षमा-याचना करना तथा स्वयं भी किसी के प्रति कषाय न रखकर हृदय से क्षमाभाव स्वीकार करना समाधि का यथार्थ रूप है।

मरण तो अनिवार्य है। जन्म कुण्डली बनाने वाला उस बालक के जीवन की घटनाओं का उल्लेख कर यह भी लिखता है कि आयु इतनी पायेगा। प्रकारान्तर से जन्म की तरह मृत्यु भी सुनिश्चित कर देता है। सामान्य जन उसे अपनी जन्म कुण्डली कहते हैं, पर है वह मरण कुण्डली। जन्म तो हो चुका, उसकी क्या कुण्डली? वह तो किसी ज्योतिषी द्वारा निश्चित तिथि पर हुआ नहीं। जब हुआ तब उस पर से ही यथार्थ में वह उस व्यक्ति की मरण कुण्डली ही बनाता है। मरण अनिष्ट होने से उसे इष्ट शब्द के साथ जोड़ लेना, उसे जन्म कुण्डली कहते हैं।

दार्शनिकों का कथन है कि मरण सत्य है। वह अपनी अवस्थिति सदा रखता है। कभी उस मरण का अभाव न होगा। जन्म ही असत्य है, या अल्प सत्य है जो मिटने के बाद पुनः वह जन्म नहीं आता। जन्मान्तर ही होता है। यथार्थ में तो मरण का उत्तर फल जन्मान्तर है और जन्म का उत्तरफल मरण है। प्रकारान्तर से, अनादि

से जन्म-मरण, पुनः जन्म-मरण, ऐसे चक्र में यह जीव चला आ रहा है। सबसे बड़ा दुःख जन्म का भी है, और मरण का भी। कुछ ग्रन्थकारों ने तो यह भी लिखा है कि जन्म के दुःख बहुत हैं। यह प्राणी मरण से भी इसीलिए डरता है कि अब जन्म लेना होगा और उन जन्म सम्बन्धी महान दुःखों की पुनरावृत्ति होगी।

जो जन्म-मरण के चक्र से दूर होना चाहते हैं उन्हें अपना जीवन एवं मरण काल सुधारना चाहिए। मरण तो होना ही है तब पशु की मौत न मरकर जो वीरतापूर्वक धर्म साधनपूर्वक मरण करता है वह श्रेष्ठ मरण है। मरण वरदान हो सकता है यदि उस समय आत्मसाधना का पथ स्वीकार कर लिया जाय। एक कहावत है कि बिना मरे स्वर्ग नहीं मिलता। उस कहावत का अर्थ है कि बिना मरण के मुक्ति भी नहीं होती। मूलाचार के आधार पर तो श्रेष्ठ मरण 3 प्रकार का है— 1. बाल मरण 2. बाल पण्डित मरण 3. पण्डित मरण। इनमें जो सम्यग्दृष्टि (असंयत) का मरण है उसे बाल मरण कहते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि होने पर भी असंयत होने से बाल अज्ञानी (अज्ञान) हैं। यहाँ यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिए कि आगम में अन्यत्र सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी लिखा है, यहाँ अज्ञानी कैसे कहा? इसका कारण आचार्यों का विवक्षा-भेद है। वहाँ सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। यहाँ यह विवक्षा है कि सब कुछ जानते हुए भी हिंसादि से विरक्त नहीं है, अतः संसार को प्राप्त है, अतः उस अवस्था का मरण बाल मरण है।

दूसरा बाल-पण्डित मरण देशव्रती श्रावकों का है, क्योंकि वह एकदेश विरत होने से पण्डित (ज्ञानी) भी है और एकदेश अविरति होने से बाल (अज्ञानी) भी है। फलतः श्रावक का मरण बाल-पण्डित मरण है। तीसरा पण्डित मरण संयमी जीवों का है, जो सकल पापों, सकल परिग्रहों से विरत होकर देह त्याग करते हैं वह पण्डित (ज्ञानी) का मरण है।

श्रावक (देशव्रती सम्यग्दृष्टि) भी अन्त समय में यदि सर्व परिग्रह त्याग कर महाव्रत स्वीकार कर मरण (समाधिमरण) करता है तो वह भी पण्डित मरण कहा जायेगा। भगवान् केवली का देहत्याग मुक्ति का कारण है, अतः उसे पण्डित-पण्डित मरण की संज्ञा ग्रन्थकारों ने दी है। 3 या 4 प्रकार के मरणों की गणना श्रेष्ठ मरणों में है। इनमें प्रथम 3 तो स्वर्ग गति के हेतु हैं, पर चौथा पण्डित-पण्डित मरण मुक्तिगामी जीवों का ही होता है। यद्यपि बाकी सर्व साधारण संसारी प्राणियों का मरण भी मरण है, पर वह श्रेष्ठ नहीं है, अतः उसे बाल-बाल मरण भी ग्रन्थकारों ने कहा है। समाधिमरण के प्रकरण में उसका कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि स्वयं बाल (अज्ञानी) है और असंयत होने से भी बाल (अज्ञानी) है। उनकी बाल-बाल संज्ञा है, अतः उनका मरण बाल-बाल मरण है।

समाधिस्थ मुनि को आराधक संज्ञा दी है, क्योंकि वह उस समय शुद्धात्म स्वरूप सिद्ध परमात्मा की आराधना करता है तथा स्वयं शुद्धात्मा-प्राप्ति की आराधना करता है। समाधि-मरण करने वाला व्यक्ति संसार और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करता है। उनकी यथार्थ स्थिति का, उनकी नश्वरता का बोध उस समय अवश्य जागता है। वह विचारता है कि संयुक्त पदार्थ का वियोग होता है, यह सुनते, पढ़ते व श्रद्धान करते आये हैं, पर अब यह समय तो प्रत्यक्ष ही दर्शन करा रहा है कि इनका वियोग मुझसे (आत्मा से) या मेरा (आत्मा का) वियोग इनसे होगा। ऐसी स्थिति में इन पदार्थों पर ममत्व रखना, विषयों की वांछा रखना सर्वथा अहितकर है, यह जानकर वह इनका स्वयं त्याग कर आत्मधर्म की साधना में तल्लीन होता है।

ऐसे साधुजन शरीर के द्वारा अपने आत्महितकारी कार्य लेते हैं। शरीर को भोजन देना, औषधि देना, शीत-आतप आदि के घातक आघातों से बचना आदि कार्य भी तब तक करते हैं, जब तक वे देह से आत्म-साधना का कार्य ले सकते हैं किन्तु जब देह उनके उद्देश्यानुसार उनके कार्य में सहायक नहीं रहती, तब उसकी चिन्ता छोड़ देते हैं। अपनी साधना को साधते हुए यदि मृत्यु भी आ जाय तो उसे अंगीकार कर लेते हैं। साधक अर्थात् सल्लेखना या समाधि का आराधक साधु देह के पोषण का तभी त्याग करता है जब वह देखता है कि देह नष्ट होने के साधन समुपस्थित हैं। शरीर की रक्षा में अब आत्मसाधना के मार्ग से हम दूर गिरे जा रहे हैं। इतने पर भी यह आशा नहीं कि शरीर बच जाए। जब तक वह बच सकता था, तब तक बचाने का प्रयत्न किया किन्तु जब अपनी साधना के लिए वह घातक सिद्ध होता है तब भी साधक उस शरीर का घात नहीं करता। उसे शरीर से द्वेष नहीं, किन्तु अपने व्रताचार को नष्ट कर शरीर की सेवा नहीं करना चाहता। व्रताचार को यथायोग्य निर्दोष पालना वह अपना कर्तव्य मानता है अतः उसे पाले जाता है। उसे पालते हुए यदि शरीर की भी रक्षा हो सकती है तो अवश्य कर सकता है, पर जब व्रताचार की रक्षा करते हुए शरीर की रक्षा सम्भव नहीं रह जाती, किन्तु शरीर-रक्षा के लिए व्रताचार को नष्ट करना अनिवार्य हो, और उसके बाद भी यह भरोसा न हो कि शरीर फिर भी बच जाएगा और उसके बाद हम प्रायश्चित्तादि कर पुनः अपने व्रताचार पर निष्ठ हो सकेंगे, तब वह शरीर की चिन्ता न कर अपने व्रताचार को निर्दोष पालता है। शरीर उस समय उपेक्षित हो जाता है। इसप्रकार अन्तिम जीवन-क्षणों की आत्मसाधना में पूर्ण योग लगाना और उसका प्रयत्न करना ही साधक की सल्लेखना है।

यद्यपि मरण-काल में कष्ट बहुत होता है तथापि कष्ट का अनुभव भी हमेशा

ज्ञान के आधार पर होता है। ज्ञानी पुरुष जब उस स्थिति की अनिवार्यता का ज्ञान कर अपने उपयोग को वहाँ से हटाकर बलात् उसे अपने स्वरूप-दर्शन में लगाता है तो कष्टों का भी अनुभव नहीं होता और उज्ज्वल परिणामों से मरण कर उत्तम गति पाता है।

जो मरण-समय परिणामों में संक्लेश परिजनों से मोह, भोग-विषयों की वांछा, आगामी काल में वांछा रूप निदान करते हैं उनकी सुगति नहीं होती, दुर्गति ही होती है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव भी मरण काल में कष्टों से घबराकर सम्यक्त्व की विराधना करे, तो दुर्गति ही होती है। यदि सम्यक्त्व दशा में देवायु भी बाँध ली हो तो मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर वह घातायुष्क होकर अपनी आयु का प्रमाण छीनकर के स्वर्गों में न जाकर भवनत्रिक में उत्पन्न होता है, उनसे भी हीन स्थिति वाला देव होता है। यदि कदाचित् मुनि अवस्था का धारी भी अन्त समय साधना पथ से भ्रष्ट होता है और वह पूर्वबद्ध आयु कर्म के कारण स्वर्गों में भी उत्पन्न हो तो उत्तमदेव न होकर वह आभियोग्य जाति में उत्पन्न होकर उत्तम देवों का वाहन (हाथी) आदि बनकर जीवन भर उनको ढोने का कार्य करता है। किल्विषिक जाति में उत्पन्न होकर दुरदुराया जाकर अपमान ही पाता है। जो साधु भोजनादि में गृह्यता करता है— यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र में उपयुक्त होता है, हास्यादि कर्म में समय व्यतीत करता है वह भी आभियोग्य जाति के देवों में उत्पन्न होकर हाथी, घोड़ा, मेष, भैंसा आदि रूप धारण कर उत्तम देवों की सेवा ही करता है। देव पर्याय पाकर भी पशु जीवन व्यतीत करता है। इसे ही देव गति में देव दुर्गति कहते हैं।

यह सल्लेखना जीवन की साधना का फल है। यदि जीवन भर व्रताचार किया और अन्त समय उसकी विराधना हो गई तो यह ऐसा कार्य हुआ जैसे कोई समुद्र त्तिर कर आवे और किनारे आकर डूब जाय। साधक कभी भी अपनी साधना को विफलीभूत नहीं होने देता। जिन्होंने जीवन में साधना नहीं की, केवल भोगों में ही जीवन बिताया है, वे भी यदि अंतिम क्षणों में, जबकि शरीर भोगोपभोग के साधनों के उपभोग-योग्य नहीं रह जाता तब भी यदि आत्मसाधना के मार्ग को अपना लेंगे तो उनका भी जीवन सफल हो जाता है।

जीवन की साधना का भी फल अन्तिम सल्लेखना मानव-जन्म को सफल बनाती है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट लिखा है कि जिसकी अन्तिम समाधि एक बार भी किसी पर्याय में हो गई तो वह साधक भी क्यों न हो, सात-आठ भव से अधिक संसार-परिभ्रमण नहीं करता।



मृत्यु महोत्सव भारी

नीरज जैन

संसार की प्रायः सभी धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं में जीवन को सँवारने की, या ठाठ-बाट से जीने की विधियों का बार-बार वर्णन किया गया है। जीवन को कला कहा गया है, पर मृत्यु की हर जगह उपेक्षा की गई है। मृत्यु की चर्चा करने में भी हमें मौत का भय लगता है। कलाओं की लम्बी तालिका में देहोत्सर्ग की कला का कहीं नाम भी नहीं आता। इसप्रकार मृत्यु, जो जीवन की अनिवार्य परिणति है, हमारे द्वारा जीवन भर इतनी उपेक्षित रहती है कि हम उसकी चर्चा से भी बचते रहे। हमने उसके बारे में कभी कुछ भी जानने का प्रयास नहीं किया।

जैनाचार्यों ने जीवन की तरह मृत्यु पर भी गहन चिन्तन किया है। उन्होंने सिद्ध किया कि जिस प्रकार जीवन को अनुशासित करके आत्म-कल्याण की प्राप्ति की जा सकती है, उसी प्रकार मृत्यु को संस्कारित करके भी उससे इस जन्म का उत्तम समापन किया जा सकता है और अगले जन्म के लिए सुखकर भूमिका बनाई जा सकती है। यानी जीवन तो अति महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु साधक के लिए मृत्यु भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मरण के मुख्यतः तीन भेद किये जा सकते हैं— 1. नित्यमरण 2. भावमरण 3. भवमरण।

1. **नित्य मरण** — जन्म के क्षण से ही हम प्रति निमिष मरण की ओर सरकते जा रहे हैं, हर साँस हमें मृत्यु की ओर धकेल रही है, यह नित्य मरण है। किसी के भी द्वारा, किसी भी उपाय से किसी प्राणी के इस नित्य मरण को रोका नहीं जा सकता।
2. **भाव मरण** — हमारी चेतना में क्रोध-मान-छल-कपट-लोभ-तृष्णा और वासना आदि की जो तरंगें निरन्तर उठती हैं, और उनसे हमारे भीतर जो विकोभ उत्पन्न होता है, वह हमारा भाव-मरण है। यह भी अनवरत चल रहा है, किन्तु अपनी चित्त-वृत्तियों को नियंत्रित करके कुछ अंशों में इससे बचा जा सकता है या इसके प्रभाव को कम किया जा सकता है। योगीजन अथवा अनुशासित और नियमित जीवन जीने वाले लोग अपनी साधना से ऐसा कर दिखाते हैं।

3. **भव मरण** – जिसके आने पर हमारा वर्तमान जीवन समाप्त हो जाता है, इस देह के साथ हमारी यात्रा रुद्ध हो जाती है, उसमें पूर्ण विराम लग जाता है, उसे भव-मरण कहा गया है। यह हर जीवन के अन्त में निश्चित रूप से आता है। इस मरण से हमारे इस जन्म के सारे नाते-रिश्ते समाप्त हो जाते हैं। यहाँ आकर हमने जो भी जोड़ा या समेटा है, वह सब कुछ यहीं छोड़कर हमें किसी और योनि में जन्म लेने के लिए परलोक की ओर जाना पड़ता है। इस मरण को रोकने या टालने का किसी के पास कोई उपाय नहीं है। पशु-पक्षी, मनुष्य, दानव और देव, भव मरण के सामने सब विवश और निरुपाय हो जाते हैं। त्रैलोक्य में कोई देहधारी इससे बच नहीं सकता। मृत्यु इसी भवमरण का दूसरा नाम है।

मृत्यु की पहचान – मृत्यु को झाँसा देकर अमर बन जाने की असम्भव प्रत्याशा ने हमारी दृष्टि को जीवन और मृत्यु दोनों के बारे में अनगिनत भ्रान्तियों से भर दिया है। मृत्यु को समझने से हमें जीवन की सम्पूर्णता को समझने में सहायता मिलेगी। मृत्यु को स्वीकार करने की मानसिकता हमें जीवन को अनोखे दृष्टिकोण से देखने और स्पष्टता से समझने की क्षमता देगी और उसे पूरी समग्रता में जीने की ललक, जिसे जिजीविषा कहा गया है, हमारे भीतर जागृत करेगी। मृत्यु के प्रति हमारे मन में मैत्री-भाव उत्पन्न हो सके, उसके प्रति हमारा भय, हमारी चेतना पर छाया उसका आतंक, यदि समाप्त हो सके तो हमारे जीवन की दिशा बदल जायेगी। उसी क्षण जीवन का लक्ष्य और जीने की सार्थकता दीप-शिखा की तरह हमारे सामने झिलमिलाने लगेगी।

नकारात्मक नहीं है मृत्यु – मृत्यु हमेशा जीवन पर नकारात्मक प्रभाव ही छोड़ती हो – ऐसा नहीं है। सत्य-शोधन की प्रज्ञा जिनके पास है, ऐसे कुछ लोगों को मृत्यु का दर्शन, जीवन के सम्यक्-प्रयोजन को समझने का निमित्त भी बन सकता है। महात्मा बुद्ध ने जीवन में पहली बार एक शव के दर्शन मात्र से विश्व-व्यवस्था के यथार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इस घटना ने राजकुमार गौतम बुद्ध के जीवन की दिशा ही बदल दी।

मौत का भय मौत से अधिक डरावना होता है, किन्तु जो मृत्यु से भयभीत रहता है वह दिन में हजार बार मरता है, और जिसने मृत्यु के भय को जीत लिया वह जीवन में केवल एक बार मरता है। मृत्यु आकर भी केवल उसकी देह का अवसान करा पाती है, उसकी आत्मा को संक्लेशित या दुःखी नहीं कर पाती।

जन्म और मरण दोनों एक ही धागे के दो छोर हैं। दोनों एक-दूसरे से गुँथे हुए, जुड़वाँ भाई की तरह अभिन्न हैं। दोनों अवश्यम्भावी और अटल हैं। दोनों का कोई उपचार नहीं। हाँ, बीच में जो मध्यान्तर है, जो जीवन है, वह बहुत कुछ हमारे

हाथ में है। उसका मनचाहा उपयोग करने का हमें अधिकार है। उसकी चिन्ता और उसकी सम्हाल करें, यही हमारा सार्थक पुरुषार्थ होगा।

समझदारी से मृत्यु का आलिङ्गन करने वाले साहसी जनों में और आतंकित होकर उससे नजरें छिपाने की कोशिश करने वालों में अन्तर इतना ही है कि जो उस अवश्यम्भावी मृत्यु से डरते हैं, वे उसके आने के पूर्व ही, उसके आतंक से एक बार नहीं, हजारों बार मर लेते हैं। जो मौत की असलियत को और उसकी अनिवार्यता को समझ लेते हैं वे उसकी प्रतीक्षा करते हैं, वह जब आना चाहे तब उसके स्वागत के लिए तैयार रहते हैं। ऐसे लोग प्रेयसी की तरह मौत की आँखों में आँखें डालकर उसका स्वागत करते हैं। वे मरण को विपत्ति की तरह नहीं, लौहार की तरह आनन्द से स्वीकारते हैं।

मृत्यु के बारे में सबसे मजेदार बात यह है कि जिन्होंने भी उस पर विचार किया है, उसके बारे में उपदेश दिये हैं या उसके बारे में कुछ लिखा है, उन सब ने मृत्यु का साक्षात् किये बिना, उसके आने के पूर्व ही वह सब किया है। उसके आ जाने पर किसी को लिखने-बोलने या कुछ करने का अवसर नहीं मिलता।

संसार में मृत्यु ही एकमात्र ऐसी घटना है जो हम सबके साथ निश्चित ही घटित होने वाली है। वह आयेगी ही, उससे बचने का किसी के पास कोई उपाय नहीं है। विडम्बना यह है कि मृत्यु की अनिवार्यता को जानते और स्वीकार करते हुए भी हम सब उससे बचने या भागने के प्रयत्न करते हैं और उसके बारे में सोचने से भी कतराते हैं। हम इस अटल सत्य से इसलिए पलायन करना चाहते हैं, क्योंकि हमें मृत्यु से भय लगता है। उसका सामना तो दूर, उसके नाम से ही हम भयाक्रान्त हो उठते हैं। मृत्यु के बारे में लोक-मानस में फैली हुई बहुत-सी भ्रामक बातें, या काल्पनिक घटनाएँ भी हमारा डर बढ़ाने में सहायक होती हैं परन्तु वास्तव में मृत्यु इतनी भयानक नहीं है जितना हम उसे मान बैठे हैं। वह एक ऐसी अनिवार्य घटना है जिसे संवेदनापूर्वक समझने-पहचानने और निर्भय होकर सौजन्यपूर्वक स्वीकार करने में ही समझदारी है। नवीन जीवन की देहरी तक पहुँचने के लिए मृत्यु ही हमारा वाहन बनती है।

वास्तव में मृत्यु, हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रखती, जब तक हम हैं तब तक मौत है ही नहीं, और जब मौत आयेगी तब हम नहीं होंगे। महत्त्वपूर्ण यह है कि हम मौत की पदचाप सुनकर रोते-घबराते और उसे टालने की कोशिश करते हैं, या निरपेक्ष भाव से, सहजतापूर्वक, निरुद्विग्न मन से उसके स्वागत के लिए अपने आपको समय रहते तैयार कर लेते हैं। मरना कठिन नहीं है, कठिनाइयों का सामना तो जीने के लिए करना पड़ता है। —वो मरने में मुश्किल नहीं कुछ भी 'गालिब'। वे जीने में हैं जो परेशानियाँ।

यदि जीवन को सँवारना है तो मृत्यु को पहचानने का अभ्यास किया जाना चाहिए। वह कोई दुर्घटना नहीं है, वह तो जीवन की पूर्णता की सूचक एक अवश्यम्भावी घटना है। भय, आतंक और रहस्य के पर्दों को चीरकर, जिस दिन हम मरण का निरावरण रूप निरख लेंगे, उसी दिन मृत्यु हमारे लिए सम्मोहक, उपकारी और स्वागत करने योग्य लगने लगेगी।

जीवन क्षण-भंगुर है, फिर भी उसके बारे में हम जितना सोचते-विचारते और जानते हैं उसका शतांश भी उस मृत्यु के बारे में नहीं जानना चाहते जो सुनिश्चित है और अटल है हम मरण और पुनर्जन्म के बारे में जितना चिन्तन करेंगे, हमारा वर्तमान जीवन उतना ही सुसंस्कृत, सन्तुलित और सफल बनता जायेगा। मृत्यु छाया की तरह सदा हमारे साथ ही तो है। दोनों की जोड़ी है। जीवन के बिना मृत्यु का और मृत्यु के बिना जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनाचार्यों ने आत्मा और देह की भिन्नता के चिन्तन को समाधि-साधना के लिए उपयोगी बताया है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश तथा समाधि-तन्त्र ग्रन्थों में इस समाधि-विज्ञान की बहुत सार्थक और सटीक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने लिखा— वस्त्र के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार कोई स्वयं को नष्ट नहीं मानता, वैसे ही विवेकी जन अपनी देह के नाश होने पर आत्मा के नाश का भय नहीं करते।

“नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।

नष्टे स्वदेहेऽपि आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः।।” —समाधितन्त्र, 65
आचार्य ने आगे इस सन्दर्भ में एक और उदाहरण दिया है—

“स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।

तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः।।” —समाधितन्त्र, 101
देह और आत्मा की भिन्नता को पुष्ट करने के लिए आचार्य ने बताया— शरीर, घर-मकान, स्त्री-पुत्र-परिवार तथा मित्र और शत्रु, ये सभी हम से सर्वथा पृथक, हम से सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले हैं। वे मूढ हैं जो स्व-पर-भेदविज्ञान के अभाव के कारण इन्हें अपना मानते हैं—

“वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।।” —इष्टोपदेश, 8

आत्मा के प्रति एकत्व और देहादिक के प्रति अन्यत्व का विज्ञान निर्भ्रान्त रूप से दृढ़तापूर्वक यदि श्रद्धा में बस जाये तो यह रहस्य समझने में कठिनाई नहीं होगी कि राग-द्वेष, सुख-दुःख और जन्म-मरण की जो दाह अनादि काल से मुझे जला रही है उसका मूल कारण यह शरीर-संयोग ही है। आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक को देह-ब्यामोह त्याग कर अनासक्ति की छाँह में शीतलता का अनुभव करना चाहिए।

“तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलनं वाऽनलसंगमात् ।

इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥”

दिखाई देने वाला और कटने-पिटने वाला यह स्थूल शरीर तो मेरे सुख-दुःख का निमित्त बनता ही है परन्तु इसके भीतर मेरे संचित कर्मों से निर्मित जो सूक्ष्म शरीर है, मूलतः वही इस सारे नाटक का सूत्रधार है। इस एकत्व की मान्यता से उबर कर अपने आपको पहिचानना और स्वीकार करना ही सल्लेखना का साध्य है।

इतना बोध करा देने के बाद आचार्य साधक को चिन्तन का एक आधार देते हैं कि बाल-वृद्ध और युवा आदि अवस्थाएँ मेरी नहीं, शरीर की होती हैं। जब यह देह मेरी है ही नहीं तब इसमें होने वाली व्याधियाँ और इसके वियोग में होने वाली मृत्यु मेरी कैसे कही जा सकती है? वे सब तो अचेतन, जड़ देह की ही अवस्थाएँ हैं। फिर मुझे व्याधियों की पीड़ा कैसे हो सकती है? मुझे मृत्यु का भय भी क्यों होना चाहिए? ये सारे भय काल्पनिक हैं। ये कल्पनाएँ भी मेरे भीतर देह और आत्मा के एकत्व की मिथ्या मान्यता से ही उत्पन्न होती हैं। मुझे मनसा-वाचा-कर्मणा इन काल्पनिक भावनाओं को त्यागना ही है—

“दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां ।

त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥

न मे मृत्युः कुतो भीतिः, न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।

नाऽहं बालो, न वृद्धोऽहं, न युवैतानि च पुद्गले ॥” —इष्टोपदेश, 28-29

सन्तों ने तो मृत्यु को पूर्ण और परम आनन्द का अवसर माना है, किसी सन्त कवि ने लिखा— “जा मरिबे तैं जग डरै, मोरै मन आनन्द ।

मरन कियें ही पाइये, पूरन परमानन्द ॥”

सन्त कवि दादू ने कहा— मरने के पूर्व ही मरण से परिचय कर लो, उसका अभ्यास कर लो। उसका भय और आतंक समाप्त कर डालो। अन्त में मरना तो सबको है, परन्तु अपने प्रभु के सामने भयभीत होकर, जीते-जी मृतक के समान निश्चेष्ट होकर जाने में कोई बुद्धिमानी नहीं है—

“जीवित माटी है रहै, साँईं सन्मुख होय ।

दादू पहिले मरि रहै, अंत मरै सब कोय ॥”

दादू कहते हैं कि जो काम-क्रोध-मोह और लोभ आदि विकारों की आग में जलकर भाव मरण कर रहा है, वास्तव में वही बार-बार मर रहा है। जो विवेक धारण करके इस प्रकार के भाव-मरण से बच गया, वह जीवित ही तो है।

“राव रंग सब मरहिंगे, जीवै नाहीं कोय ।

सोई कहिये जीवता, जो मर जीवा होय ॥”

इसी बात को सन्त कबीर ने भी एक दोहे में व्यक्त किया है। वे भी मरने से पहले संसार की ओर से मृतवत् निरपेक्ष होने की सार्थकता सिद्ध करते हैं—

“जीवन से मरना भला, जो मर जानै कोय।

मरने पहले जो मरै, अज्जर-अम्मर होय।।”

इस दोहे में उन्होंने कहा है— जीने से मरना अच्छा है, मरना उसी का सार्थक है जो मरने का ढंग जानता हो, मरने से पहले ही, स्व के प्रति जागरूकता और संसार के प्रति उदासीनता करके ही मरना चाहिए। मरने से पहले मरने वाला अजर-अमर हो जाता है।

इन दोनों सन्तों की बातों को मिलाकर समझना होगा। कबीर ने कहा— मरने से पहले ही मर जाना ठीक है, यदि मरने का ढंग मालूम हो। उन्होंने ऐसे मरण का फल भी बता दिया कि— इसप्रकार एक बार मरने से हमेशा के लिए मृत्यु ही समाप्त हो जाती है, पर उन्होंने इस दोहे में मरने का सही ढंग नहीं बताया। सन्त दादू ने वह ढंग बता दिया— जो भाव मरण कर रहा है, वही मर रहा है। प्रतिक्षण मर रहा है। जिसने उस मरण को जीत लिया वह कभी नहीं मरता। वह तो अजर-अमर हो जाता है।

अगर मरने का ढंग आ गया तो फिर जीने की अपेक्षा मरना अधिक सार्थकता दे सकता है। मरने के पहले स्व के प्रति जागरूकता और संसार के प्रति मृतवत् उदासीनता या उपेक्षा भाव जिसके चित्त में समा जाये, यानी जो अपने प्रति जीवित हो और संसार के राग-द्वेष, क्रोध, घृणा आदि विकारों की ओर से अपने आपको मृतवत् उदासीन या तटस्थ बना ले, वह साधक जन्म-मरण के अनादि चक्र से मुक्त होकर अजर-अमर हो जायेगा।

इसप्रकार का मरण सध जाये तो उसके बाद सदा के लिए मृत्यु ही स्वयमेव मर जाती है। वास्तव में जो भाव-मरण कर रहा है वही प्रतिक्षण, या प्रतिदिन मर रहा है। जिसने उस मरण को जीत लिया वह कभी नहीं मरता। मृत्यु आकर भी उसकी देह-परिवर्तन के अलावा कुछ बिगाड़ नहीं कर पाती।

इसप्रकार आचार्यों ने देह और आत्मा की भिन्नता के आधार पर सल्लेखना के साधक को ‘आत्म-स्वातन्त्र्य’ का अमोघ मन्त्र प्रदान किया है। उसे बार-बार बताया है कि जन्म और मरण दोनों हम सबके साथ घटने वाली सहज घटनाएँ हैं। ये दोनों अभिन्न हैं और एक-दूसरे के लिए अनिवार्य भी हैं। जन्म के बिना मरण की और मरण के बिना जन्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हर जीवन के दोनों छोर मरण से जुड़े होते हैं। जन्म उल्लास से परिपूर्ण है, मरण विलक्षण शान्ति का क्षण है। केवल दोनों के बीच का समय, जिसे हम जीवन कहते हैं, वही कुछ उलझनों से भरा है।

वास्तव में मृत्यु देह के कपड़े बदलने जैसी प्रक्रिया है, थोड़े-थोड़े अन्तराल से सदा होती ही रहती है। वस्त्र मेरा है पर मैं वस्त्र नहीं हूँ। वस्त्र के मलिन हो जाने से, या उसके कट-फट जाने से मैं न तो मलिन होता हूँ, न कटता-फटता ही हूँ। मैं अनन्त जन्मों और उतनी ही मृत्युओं का भुक्तभोगी हूँ। जन्म और मरण की इस अन्तहीन शृंखला के बीच सदा विद्यमान रहने वाला जो चेतन आत्मा है, वही और केवल वही मैं हूँ। जन्म और मरण मेरे कहे गये हैं, पर वे मेरे नहीं, शरीर के हैं। मैं तो अनादि से अन्त तक सदा विद्यमान, शाश्वत और नित्य, अजर-अमर चेतन तत्त्व हूँ।

मृत्यु तो जीवन की परीक्षा है। ज्ञानी इसे एक सहज-स्वाभाविक और अनिवार्य घटना मानकर समता से निर्भय होकर इसका सामना करते हैं और इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। अज्ञानी इस परीक्षा का प्रश्न-पत्र सामने आते ही निराश और आतंकित होकर रोना-धोना प्रारम्भ कर देते हैं। फिर वे अपने जीवन के शेष क्षण भी संक्लेश और दुःख से परिपूर्ण कर लेते हैं। अन्त समय के संक्लेशों का प्रभाव आगामी जीवन पर भी पड़ता है, इसलिए जो मृत्यु से भयभीत होकर आतंकित हो जाता है वह अपने वर्तमान जीवन का अर्थ तो खो ही देता है, आगामी जीवन को भी अशान्त बना लेता है।

जैसे प्रसन्नतापूर्वक बिताये गये दिन के बाद रात्रि में सुखद-निद्रा आती है, उसी प्रकार जो अपने जीवन को भलीभाँति जियेगा, दूसरे जीवों को हानि पहुँचाये बिना, किसी से बैर बाँधे बिना, आगामी जीवन के लिए दुश्चिन्ताओं और दुराशाओं का बोझ सिर पर लिए बिना जो संतोष के साथ अन्तिम साँस लेगा, वह निश्चित ही सुखद-मृत्यु प्राप्त करेगा।

जीवन की सफलता और मरण की सार्थकता का रहस्य इतना ही है कि मृत्यु को सामने आता देखकर जो मुँह छिपाता फिरा, रोने-कलपने लगा; वह मृत्यु से पराजित हो गया। इसके विपरीत जिसने सामने आती मृत्यु को ललकार कर उलाहना दे दिया कि 'हम तो कब से तैयार बैठे हैं, विलम्ब तो तुमने किया है, चलो, चलें।' ऐसे उत्साहपूर्वक जिसने मृत्यु की आँख से आँख मिलाकर, उसकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ा दिया, जीत उसी की होती है। इसीलिए तो विवेकीजनों ने मरण के सोत्साह वरण को सल्लेखना नाम का तप कहा और मृत्यु को परम उपकारी मित्र बताया है।

चित्त के विकारों को धोकर आत्मा का ऐसा प्रक्षालन करके नवीन जन्म धारण करने के लिए निर्भय और निःशंक होकर प्रस्थान करने का यही संकल्प सल्लेखना है। अवश्यम्भावी, अटल मरण के सोत्साह वरण के इसी उत्सव को समाधि-साधना

कहा गया है। जीवन का सार्थक समापन करनेवाली इस सल्लेखना-विधि का नाम है मृत्यु-महोत्सव। इसी को अगर पद्य में कहें तो—

“आज न्यौता सखे मान लो मौत का, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके।

गिर घले आज बन्धन सभी टूट कर, अब किसी की निगाहें नहीं रोकतीं
अब किसी के पियासे नयन की हमें, आज अतृप्त चाहें नहीं रोकतीं
तो सखे आज बन्धन सभी तोड़ लें, सिसकियाँ और आहें नही रोकतीं
और ममता भरी नेह की एक पल, आज उन्मुक्त बाहें नहीं रोकतीं
जिन्दगी भर हमें जिन्दगी ने छला, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके
आज न्यौता सखे मान लो मौत का, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके

जिन्दगी राह भर डगमगाती रही, हर कदम पर हमीं ने सहारे दिए
आज दीपावली की तरह मौत ने, पथ प्रकाशित किया है हमारे लिए
जिन्दगी की तरह जिन्दगी एक दिन भी, हमें रूप अपना दिखाती नहीं
मौत से भी भयानक हुई जा रही, जिन्दगी क्योंकि घूँघट उठाती नहीं
मुस्कुराती हुई मौत पर रीझ कर, बेबसी में नयन, चार हम कर चुके
आज न्यौता सखे मान लो मौत का, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके

फूल जब डाल से टूटने को हुआ, मीत भौरै कहीं मुँह छिपाने लगे,
एक काँटा मगर चीख कर कह उठा, क्या यही प्यार था आज जाने लगे?
मुस्कुरा कर कहा फूल ने शूल से, राह मेरी सखे ! रोकना व्यर्थ है
जब किसी की नजर आज पड़ ही गई, रुक सकूँगा नहीं, टोकना व्यर्थ है
जो रुके, एक दिन सूख कर झर गये, खूब अनुभव कई बार हम कर चुके,
आज न्यौता सखे मान लो मौत का, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके

जिन्दगी एक मेला बनी, जो मिला, एक दिन नाम उसका भुलाना पड़ा
बुलबुले की तरह जन्म जिसने लिया, एक दिन चल बहुत दूर जाना पड़ा
आज तक दर्द की वेदना भूलकर, गीत लिखता रहा, गुनगनाता रहा
जिन्दगी के तराने बड़े प्यार से, जिन्दगी भर तुम्हें मैं सुनाता रहा
आज तुम गीत गाओ विदा का सखे, राह थोड़ी रही, पार हम कर चुके
आज न्यौता सखे मान लो मौत का, जिन्दगी को बहुत प्यार हम कर चुके”



आत्मोत्थान में सल्लेखना की भूमिका

डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

सुख दो प्रकार का होता है— पहला लौकिक सुख और दूसरा अलौकिक सुख। संसार के अनन्तानन्त जीव अनादिकाल से परद्रव्यों के संयोग से इन्द्रिय-भोग द्वारा लौकिक सुख की खोज में भटक रहे हैं। इन्द्रिय-सुख क्षणिक, बाधित, अपूर्ण और परिस्थितिजन्य है। इसकारण जीव दुःखी हैं। वे स्वाभाविक शाश्वत सुख की खोज में हैं। यह खोज ही अलौकिक की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावी है। वह अपने सत्स्वरूप को समझकर, श्रद्धान कर अपने अतीन्द्रिय स्वभाव में लीन रहे, यही उसका धर्म है, अलौकिकता है और परमात्मत्व है। ज्ञान स्वभाव का अवलम्बन कर स्वतन्त्रता, पूर्णता की प्राप्ति का कार्य अनेक भवों में सम्पन्न होता है। भवधारण-त्याग की अनादि कहानी को जन्म-मृत्यु शब्दों से पुकारा जाता है। जन्म पर उत्सव मनाया जाता है और मृत्यु पर सामान्यतः शोक मनाया जाता है, किन्तु जब हम अध्यात्म और अलौकिक दृष्टि से विचार करते हैं तो यह सहज ही स्पष्ट होता है कि जन्म और मृत्यु दोनों समान हैं और अनादि जीवन के पड़ाव हैं, अतः उनमें हर्ष-विषाद करना अनुचित और सत् स्वभाव के विपरीत है। जैसा महोत्सव जन्म का है, वैसा ही महोत्सव मृत्यु के समय भी मनाया जाना चाहिए। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह मृत्यु-महोत्सव द्वारा नवीन जीवन के परिष्कार, उन्नति और अभ्युदय का मार्ग खोजता है। इसका दर्शन बहुत ही रहस्यात्मक, प्रेरक और आत्मसुखोन्मुखी है। मृत्यु-महोत्सव का सम्बन्ध देह त्यागने की विधि से है जिसे रुढ़ भाषा में समाधिमरण-सल्लेखना या सन्धारा कहा जाता है। इसमें कषाय रूप मनोविकारों और काया से मुक्त कर उत्तम गति के आयु बन्ध की अवधारणा मूर्त होती है। इस भावना से देहत्याग की विधि सम्पन्न होने पर उसे मृत्यु-महोत्सव कहा जाता है। इससे उत्तम गति प्राप्त होती है, जो आत्मकल्याण में साधक सिद्ध होती है।

इस शताब्दी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती शान्तिसागर जी ने नेत्रज्योति मन्द होने पर प्राणिसंयम पालने की असमर्थता को देखते हुए आत्मप्रेरणा से आत्मकेन्द्रित

हो सल्लेखना दिनांक 14.8.1955 से धारण की। उन्होंने जल को छोड़ सभी प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और शुद्धात्मा का ध्यान करते हुए 36वें दिन अर्थात् दिनांक 18.9.1955 को 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः' शब्दोच्चारण-सहित समत्वभाव से देहत्याग कर सिद्धत्व की प्राप्ति हेतु महाप्रयाण किया। इन्द्रिय-शिथिलता एवं आयु को निकट जान कर भूदान-प्रणेत, गीता-अध्येता सन्त विनोबा भावे ने भी सल्लेखना धारण की थी। उन्होंने वर्धा-निवासी जैन श्रेष्ठी श्री मूलचन्द जी बहुजाते को बुलाकर दीपावली - भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव की तिथि ज्ञात की और उसी दिन देह त्यागने के संकल्पपूर्वक आहार त्याग किया और अपने आत्मस्वभाव के चिन्तन में मग्न हो गये। उनकी आत्म-साधना और संकल्प पूर्ण हुआ। सन्त विनोबा ने भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस दीपावली के दिन देह त्याग कर महाप्रयाण किया।

आत्मसाधक सन्त-महात्मा, मुनिराज, आर्यिका एवं श्रावकजन अपनी मर्यादा में सल्लेखना धारण कर देह त्याग का प्रयास करते हैं। सल्लेखना की विधि आदि का सूक्ष्म वर्णन जैनागम में सविस्तर किया है और आत्मोत्थान में उसकी महत्ता भी दर्शायी है जो अलौकिक सुख एवं सिद्धत्व की जन्म-जन्मान्तर की साधना में सहायक होती है। गृहत्यागी, मुनिराज एवं आर्यिकाएँ मृत्यु की निकट सम्भावना देखते हुए बारह वर्षीय भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण व्रत धारण करते हैं जिसे नियम-सल्लेखना कहते हैं। आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज ने 16 जून, सन् 1999 को बड़ौत नगरी में नियम-सल्लेखना व्रत लेकर साधुचर्या की साधना का चरम लक्ष्य घोषित किया और आत्माराधन तथा समतापूर्वक किसी सिद्धक्षेत्र पर ही विधि-अनुसार देह-त्याग का संकल्प किया। उन्होंने यह भी निर्देश दिया कि उनके नाम से कोई तदाकार प्रतिमा, चरण-चिह्न, भवन आदि का-नामकरण न किया जाय।

समाधिपूर्वक मरण में भक्त-प्रत्याख्यान या नियम-सल्लेखना का बहुत महत्त्व है। भक्त-प्रत्याख्यान विधि से समाधिमरण करने हेतु दिगम्बर-अवस्था धारण करना आवश्यक है। इसे पण्डित-मरण की मान्यता दी है। पहले यह शुभ आयु बन्ध में सहायक है। यह धर्मध्यान और पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्या के परिणामों से होता है। आर्त्त-रौद्र ध्यान, कृष्ण लेश्या और बहु-आरम्भ-परिग्रह वाले भावों से नरक गति का बन्ध होता है। आर्त्त ध्यान, मायाचारी, कुटिल परिणाम तथा नील व कापोत लेश्या से तिर्यच गति का बन्ध होता है। अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, विनम्रता, मृदुता, अल्पकषाय, विशुद्ध-परिणामों से मनुष्य गति का बन्ध होता है। सम्यक्त्व, सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप (मिथ्यात्व-सहित

तप) से देवगति का बन्ध होता है। मन, वचन, काय की कुटिलता और विसंवाद से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है तथा योग की सरलता और अविस्वादा से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं से तीर्थकर प्रकृति नाम कर्म का बन्ध होता है। इसप्रकार भाव, भावना, लेश्या एवं योग से आयु एवं नाम कर्म के बन्ध का स्वरूप होता है।

आयु कर्म का बन्ध भुज्यमान आयु के आठ त्रिभाग (अपकर्ष काल) में होता है अर्थात् आयु के दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक पहला त्रिभाग होगा, इसमें आयु का बन्ध हो सकता है। यदि नहीं हुआ तो शेष आयु के दो हिस्से बीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक दूसरा त्रिभाग होगा, जिसमें आयु का बन्ध होगा। ऐसे आठ त्रिभाग में आयुबन्ध होने का विधान है। यदि इनमें नहीं हुआ तब आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होगा। यह व्यवस्था कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यचों के सम्बन्ध में है। देव और नारकियों के परभव-सम्बन्धी आयु का बन्ध, आयु के अन्तिम छह महीने शेष रहने पर पूर्व की भौति आठ त्रिभाग आदि में होता है। यदि पहले त्रिभाग में आयु का बन्ध हो गया तो उसके आगे के त्रिभागों में भी आयु का बन्ध होता रहेगा। उक्त विवेचन से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई यह नहीं कह सकता कि आयु का बन्ध कब होगा, अतः इसके लिए प्रत्येक समय जागरूक रहना चाहिए। यदि प्रथम दो त्रिभाग में आयु का बन्ध नहीं हुआ तो जीवन के अन्तिम वर्षों में आयु बन्ध कभी भी हो सकता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी की भुज्यमान आयु 63 वर्ष की है तब उसकी आयु के दो त्रिभाग $42+14=56$ वर्ष होंगे, शेष छह त्रिभाग शेष 7 वर्षों में आयेंगे। यह काल बारह वर्षीय भक्त प्रत्याख्यान (नियम-सल्लेखना) में सहज ही समाहित हो जाता है। इस दृष्टि से शुभ-आयु बन्ध हेतु आत्मकेन्द्रित दृष्टि, शुभलेश्या रूप भद्रपरिणाम एवं कषायकृशता की जागरूकता अपेक्षित है। इसी को मति अनुसार गति कहते हैं।

संसार के दुःखों में सबसे अधिक दुःख मरण का होता है। मरण अर्थात् विद्यमान पर्याय का अन्त। यह दुःख ऐसा होता है जो शब्दों में व्यक्त नहीं हो पाता। इस दुःख से उद्धार पाने की परम ओषधि समाधिमरण है। मुनि जीवन रूप देवालय का भव्य कलश समाधिमरण है, जिसमें समत्वभावपूर्वक कष्ट रहित शरीरत्याग द्वारा उत्तम गति प्राप्त होती है। मति अनुसार गति का बन्ध होता है और जिस गति का बन्ध होता है, अन्तिम मति भी वैसी हो जाती है। अतः उत्तम गति हेतु सल्लेखना की भावना और सल्लेखना धारण करना मनुष्य जीवन की

सार्थकता सिद्ध करता है। आगम के अनुसार सम्यग्दर्शन की पात्रता चारों गतियों के भव्य जीवों को होती है, किन्तु पूर्ण संयम धारण करने और सल्लेखना धारण करने की पात्रता मात्र मनुष्य गति एवं निर्ग्रन्थ मुनिराज को होती है; अतः भव्य जीवों को सल्लेखना धारण कर देहत्याग करने का उपदेश दिया है।

सल्लेखना सत्+लेखन अर्थात् काया (शरीर) एवं मनोविकार रूप कषायों को सम्यक् रूप से कृश (क्षीण) करने को कहते हैं। यह दौमुखी कार्य करती है। बाह्य रूप से शरीर को कृश करती है और आभ्यन्तर रूप से कषायों को कृश करती है और ज्ञानस्वरूप आत्मा के अकर्ता-अभोक्ता रूप में समताभाव स्थापित करती है। आत्मा का बाह्य जगत और शरीर के प्रति ममत्व छूटता है और वह अपने स्वरूप में रुचिपूर्वक स्थापित होने का प्रयास करता है। यही तो आत्मा से परमात्मा होने की प्रक्रिया है जिसमें कई भव लगते हैं। यदि इन मनुष्यभवों में संयम और सल्लेखनापूर्वक देह का परित्याग नहीं किया गया तब उत्तरोत्तर सद्गति एवं आत्मकल्याणकपरक बाह्य संयोग मिलना कठिन हो जाता है। इसके अभाव में मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य भी पूर्ण नहीं हो पाता।

चौबीस तीर्थकरों के पूर्व भवों का वर्णन आगम में मिलता है जो यह दर्शाता है कि पूर्व के दश भवों में तीर्थकर बननेवाला भव्य जीव किस प्रकार आत्मसाधना करता हुआ अन्तिम भव में मोक्ष चला जाता है। जब हम इन भवों का विश्लेषण करते हैं तो यह बात स्पष्ट होती है कि पूर्व भवों में इन भव्य जीवों ने कई बार राजपद, चक्रवर्ती पद आदि प्राप्त किया और गृह-त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा धारण की और अन्त में समाधिमरणपूर्वक उत्तम गति आदि प्राप्त कर उत्तरोत्तर मोक्षलक्ष्मी के निकट आते गये। यद्यपि ऐसा प्रत्येक सिद्धालय जाने वाले भव्य जीवों और तीर्थकरों आदि शलाकापुरुषों के जीवन में घटित होता ही है; किन्तु जब हम भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्वभवों की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें समाधिमरण की विशिष्टता स्पष्ट रूप से भासित होती है।

कमठ और मरुभूति की कहानी से सभी परिचित हैं। कमठ का जीव विश्वासघात, बैर-क्रोध प्रतिहिंसा का प्रतीक है और भगवान् पार्श्व का जीव सद्विश्वास, क्षमा, शान्ति, निर्वैर, परोपकार का प्रतीक है। वज्रघोष हाथी का जीव क्रूर विषधर द्वारा उसे जाने पर शान्त परिणामपूर्वक देह-त्याग से 12वें स्वर्ग जाता है। वहाँ से रश्मिवेग राजकुमार का जन्म धारण कर जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करता है। कमठ का जीव पाँचवें नरक की यात्रा करता हुआ अजगर के रूप में जन्म लेता है और वह रश्मिवेग मुनिराज को निगल जाता है। मुनिराज समाधिमरणपूर्वक देह त्यागते हैं और अच्युत स्वर्ग जाते हैं। वहाँ से अपरविदेह

में वज्रनाभि चक्रवर्ती होते हैं और जिनेश्वरी दीक्षा धारण करते हैं। कमठ का जीव छठे नरक की यात्रा करता हुआ कुरंग भील के रूप में जन्म लेता है और वज्रनाभि मुनिराज की हत्या कर देता है। मुनिराज आत्मध्यान, समताभाव एवं समाधिमरणपूर्वक देह त्याग कर मध्यम ग्रैवेयक में सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र होते हैं। वहाँ से वह जीव अयोध्या में आनंद कुमार राजकुमार के रूप में आत्मशुद्धि हेतु जिनेश्वरी दीक्षा धारण करता है। कुरंग भील का जीव भी सातवें नरक की यात्रा करता हुआ सिंह योनि धारण करता है और पूर्व वैर के कारण आनंद कुमार साधु के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। आत्मध्यान एवं समताभावपूर्वक देह त्याग कर आनंद कुमार का जीव चौदहवें स्वर्ग का अहमिन्द्र होता है। वहाँ के सुख भोगकर वह राजकुमार पार्श्व के रूप में अन्तिम जन्म धारण करता है। सिंह जीव तीव्र आर्त-रौद्र भावों से 17 सागर पर्यंत नारकीय एवं तीन सागर पर्यंत तिर्यच गति के दुःख भोगकर किंचित् शुभ भावों के कारण महिपाल नामक राजा हुआ, जो राजकुमार पार्श्व का रिश्ते में नाना बना। पंचाग्नि तप के फलस्वरूप महिपाल संवर देव बनता है और मुनिराज पार्श्व पर भयंकर उपसर्ग कर अपने तीव्र वैर और क्रूर परिणामों को अभिव्यक्त करता है। तीर्थकर पार्श्व अपने ज्ञायक स्वभाव में निमग्न हो समस्त कर्मबन्ध की बेड़ियाँ काटकर अरिहन्त परमात्मा बनते हैं और समवसरण आदि विभूतियों से सुशोभित होते हैं। संवर देव आत्मग्लानिपूर्वक प्रायश्चित्त कर जीवन का रूपान्तरण करता है।

पार्श्व और कमठ के जीव के उक्त पूर्व भवों का आगमिक रूप से मरण का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि कमठ के जीव का मरण बाल बालमरणरूप है, जो अज्ञान अवस्था में होता है। वज्रघोष हाथी का जीव देशव्रत धारी था। उसका मरण बालपण्डित मरण रूप था, जो पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती का होता है। मुनिराज के रूप में अनेक बार मरण हुआ वह पण्डित मरण था, जो छठे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को होता है। तीर्थकर के रूप में देहत्याग पण्डित-पण्डित मरण कहा जाता है जो केवली भगवान के देहत्यागपूर्वक होता है। इनके अलावा एक बालमरण भी होता है जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक या सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र को होता है। पण्डित मरण जो मुनिराजों का होता है, उसके तीन भेद हैं— भक्त-प्रत्याख्यान मरण, इंगिनी मरण और प्रायोपगमन मरण। इनका सविस्तार वर्णन जैनागम में उपलब्ध है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मशुद्धीकरण रूप मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया में अनेक भव लगते हैं और समाधिमरण रूप सत्लेखना व्रत उत्तम गति/ आयु पाने में सहकारी होता है, अतः सभी भव्य जीवों को समाधिमरणपूर्वक देह

त्यागने की भावना भानी चाहिए। समाधिमरण रूप पण्डित मरण कोई एक दिन या कुछ समय का पुरुषार्थ न होकर सम्पूर्ण जीवन की साधना का फल होता है। इसके लिए मनुष्य को निरन्तर शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय से आत्महित और परहित करने की बुद्धि आदि गुण प्रकट होते हैं। भगवती आराधना का निम्न पद्य मननीय है :-

“आदहिदपइण्या भावसंवरो णवणवो य संवेगो।

णिवकंपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च॥ 99॥”

1. जिनागम का अभ्यास करने वाले को आत्महित का ज्ञान होता है 2. पाप कर्मों का संवर होता है 3. नवीन-नवीन संवेग भाव उत्पन्न होता है 4. मोक्षमार्ग में स्थिरता आती है 5. तपस्या की वृद्धि होती है 6. गुप्ति पालन में तत्परता आती है 7. इतर भव्य जीवों को उपदेश करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करनेवाले की आत्मा में प्रकट होते हैं।

—(संयम प्रकाश : पूर्वार्द्ध, द्वितीय भाग, पृष्ठ 166)

जैनधर्म भाव प्रधान धर्म है। इसकी उपलब्धि तभी होती है जब अंतरंग भावों सहित वीतरागी जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर त्रियोग एवं नव भावपूर्वक अधः कर्म प्रवृत्ति से निवृत्ति लेकर शुद्धात्मा की ओर जाग्रत रहें अन्यथा जिनदीक्षा धारण कर प्राणी संयम व्रत पालने की असमर्थता होने पर, ईर्या समिति की उपेक्षा कर उन्मार्ग की प्रवृत्ति से जिनेश्वरी दीक्षा प्रश्नचिह्नित होती है और दीक्षा का उद्देश्य विफल हो जाता है।

सभी भव्य आत्माएँ जिन आज्ञानुसार प्रवृत्त होकर वीतराग मार्ग को प्रकाशित करें— यही मंगल भावना है। ❖❖

मृत्यु से बचने का उपाय

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ ! न स भीतं विमुचति।

अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अर्थ :— हे मूढ ! क्या डरने से कोई मृत्यु को टाल सका है? मृत्यु से बचने का उपाय तो एक ही है कि जन्म ही न हो। जब जन्म नहीं होगा तो मृत्यु किसकी?

नित्य मरने और जन्म लेने वाले संसारी इस बात से चौंक उठते हैं कि क्या जन्म लेना और न लेना अपने वश में है? अध्यात्मशास्त्रों का कथन है कि हाँ ! जन्म न लेना अपने वश में है।

सल्लेखना-विधि

पं. नाथूलाल शास्त्री

उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था, रोग—इनकी प्रतीकार रहित स्थिति में रत्नत्रय धर्म की रक्षा हेतु विधिपूर्वक शरीर-त्याग सल्लेखना कहलाती है।

सल्लेखना का शब्दार्थ भली प्रकार शरीर और कषाय को कृश करना यानी क्रमशः घटाना है। जैसे मकान में अग्नि लगने पर गृहस्थ उसे बुझाने का प्रयत्न करता है; प्रयत्न करने पर भी जब अग्नि नहीं बुझती तो वह गृह में से अपने आवश्यक सामान को निकाल लेता है। उसी प्रकार उक्त उपसर्ग आदि के आने पर साधक श्रावक अपने रत्नत्रय धन की रक्षा करते हुए शरीर से मोह छोड़ देता है।

सल्लेखना श्रावक और मुनिराज दोनों की होती है। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक—इन तीन श्रावक के भेदों में साधक सल्लेखना करता है। श्रावक जिनलिंग धारण की योग्यता नहीं रखता तो वह भी सल्लेखना का अधिकारी माना जाता है और जिनलिंग धारण के योग्य हो तो उसे जिनलिंग धारण करना चाहिए। जिस श्रावक में जिनदीक्षा धारण की योग्यता नहीं हो तो उसे जिनदीक्षा नहीं दी जा सकती।

शरीर स्वस्थ होने पर श्रावक रत्नत्रय का साधक होता है इसलिए शरीर को नीरोग रखने के लिए नियमित आहार और विहार करते रहें। रोग आने पर योग्य औषधोपचार करें। यदि प्रयत्न करने पर भी रोग दूर न हो तो शरीर के लिए अपने रत्नत्रय धर्म को नहीं छोड़े।

गृहीत व्रत के विनाश का कारण उपस्थित होने पर शरीर की उपेक्षा करने वालों को आत्मघात का प्रसंग नहीं होता, क्योंकि आत्मघात कषायवश विष आदि से प्राणनाश करने वाले व्यक्ति के ही कहलाता है। भयंकर रोग से मरणासन्न स्थिति में गुरु के समीप ही रहे, जो उचित मार्गदर्शन कर सकते हैं।

सल्लेखना विधि में एक साथ आहार का त्याग न कर निश्चित क्रम का ध्यान रखकर ही आहार त्याग किया जाता है। बाह्य क्रिया—काय कृश करने के साथ ही अन्तरंग कषाय कृश करना चाहिए। कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय से गुरु के समक्ष निश्छल होकर क्षमापूर्वक आलोचना कर श्रावक के सम्पूर्ण व्रत निर्दोष

पालन हो गए हैं—यह निश्चित कर क्रोधादि अशुभ भावों का त्याग कर देने पर गुरु का उपदेश श्रावक के मनोबल को बढ़ाता है।

बाह्य त्याग—गरिष्ठ भोजन का त्याग कर हल्का आहार, खिचड़ी आदि, पेय में दूध, छाछ आदि क्रमशः उपयोग में लावें। गर्म जल और उसका त्याग भी अपना मरण निश्चित जान कर देते हैं। यह सब परिस्थिति को समझ कर अन्त में होता है। समाधिकर्ता के पास गुरु रहते हैं, जो सम्बोधन करते रहते हैं।

सल्लेखना के पाँच अतिचार— 1. जीवन की इच्छा 2. मरण की इच्छा 3. मित्रानुराग 4. भूतकाल के सुखों का स्मरण 5. आगामी भव में सुखाकांक्षा है।

मुनिराज भी क्षपक अवस्था में निर्यापकाचार्य के द्वारा इसी प्रकार समाधिमरण करते हैं। भूख-प्यास की भयंकर असह्य वेदना होने पर निर्यापकाचार्य बाहर से लाये शुद्ध आहार को दिखाते हैं और साहस दिलाते हैं, खिलाते नहीं हैं। जल भी नहीं पिलाते हैं। आहार ग्रहण से होने वाले तीव्र पापबन्ध का फल बताकर क्षपक का विवेक जागृत कराते हैं। अन्त समय में निर्यापकाचार्य क्षपक को धर्मापदेश इस प्रकार देते हैं जिससे उसे शान्ति प्राप्त हो। चाणक्य, अभिनन्दन आदि 500 मुनि, पाण्डव, सुकुमाल आदि के उदाहरण देकर क्षपक में साहस का संचार करते हैं और इसे मृत्यु न मानकर मृत्यु महोत्सव एवं जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर नूतन वस्त्र धारण के समान क्षपक की समीचीन दृष्टि उत्पन्न कराते हैं। समय हो तो समाधिमरण पाठ, बारह भावना, णमोकार मन्त्र आदि सुनाते हैं। मुनि विद्वान् या प्रबुद्ध हो, तो शुद्धोऽहं, सिद्धोऽहं, वृद्धोऽहं पढ़कर उसका महत्त्व बताते हैं। स्वानुभूति की ओर आकर्षित करते हैं जिसका क्षपक ने अभ्यास किया होता है। यह समाधिपूर्वक मरण की विधि है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इन्द्रिय, संयम), धारणा-दृष्टि (नासाग्र रखकर मनोरोधी), ध्यान और पश्चात् सर्वथा तन्मयता समाधि है। इस प्रकार सल्लेखना की अन्तिम स्थिति समाधिमरण है।

यदि हमें दुर्गति नरक, तिर्यच और व्यन्तर योनि से अपनी रक्षा करनी है तो सल्लेखना या समाधिमरण की ओर बढ़ना अत्यावश्यक है। हमारी वर्तमान उदय में आ रही आयु, शरीरत्याग तक कुल कितनी है, इसकी जानकारी ज्योतिष व जन्मपत्रिका से ज्ञात कर लें। मान लीजिए हमारी आयु 90 वर्ष की है। इसके तीसरे हिस्से में आगामी पर्याय की आयु का बन्ध होता है। यदि इसमें भी बन्ध नहीं हुआ तो शेष 30 वर्ष के तीसरे हिस्से में आयु बन्ध होगी। यानि 80 वर्ष की उम्र में आगामी आयुबन्ध होगा। इसमें भी नहीं बन्धे तो शेष 10 वर्ष के भी तीसरे हिस्से में आयु बन्ध होगा। इसप्रकार यदि 8वें हिस्से में भी आयु बन्ध न हो तो अन्तिम मरण के अन्तर्मुहूर्त में आयुबन्ध कर, जिन परिणामों से बन्ध हुआ है, यह जीव कर्मण योग द्वारा एक

या दूसरे, तीसरे, चौथे समय में अपने पूर्वबन्ध स्थान में दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है अर्थात् गर्भ, उपपाद और सम्मूर्च्छन जन्म में से योनि अनुसार पहुँच जाता है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल—इन छह लेश्याओं में पूर्व तीन अशुभ और उत्तर तीन शुभ लेश्यायें हैं। लेश्या यानि कषाय युक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति। देवगति में तीन शुभ लेश्या और नरक में तीन अशुभ तथा तिर्यच मनुष्य में छहों लेश्या होती है। प्रत्येक लेश्या के तीन-तीन तारतम्य अपेक्षा अंश होते हैं। इनके नाम पृथक्-पृथक् हैं। इस तरह परिणामों की डिग्री के अनुसार जीव निश्चित स्थान पर स्वयमेव पहुँच जाता है।

यहाँ लिखने का अभिप्राय यह है कि हमें अभी से हमेशा सावधान रहते हुए ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए कि हम दुर्गति में न पहुँच जायें। मालूम नहीं कब आगामी आयुबन्ध हो जाये, क्योंकि तृतीय भाग तो हमें ज्ञात नहीं हो सकता। जीवन का प्रत्येक क्षण शान्त परिणामपूर्वक व्यतीत करना हमारा कर्तव्य है। इसके लिए हमारे आचार-विचार सब अच्छे होने चाहिए।

सल्लेखना और समाधिमरण की सफलता हमारे पवित्र जीवन पर निर्भर है, क्योंकि जीवन जैसा व्यतीत किया होगा, अन्तिम समय वैसे ही परिणाम होंगे। एक बार जिस गति का आयुबन्ध होगा, वह गति परिवर्तित नहीं होगी। महाराज श्रेणिक ने यशोधर मुनि के गले में मृत सर्प डाला था, 7वें नरक की आयु बँधने पर महावीर के सम्पर्क में आने पर प्रथम नरक की आयु रह गई, किन्तु नरक गति नहीं छूटी।

मृत्यु के पूर्व संसार-शरीर-भोगों के चिंतन के साथ बारह भावना तथा आत्मा का चिन्तन किया जाये। जहाँ तक हो विवेकी व्यक्ति स्वयमेव शान्तिपूर्वक आत्मस्थिरता धारण करे। यह उसका मृत्यु-महोत्सव है—ऐसा मानने से वीरता के भाव जागृत होंगे। ❖❖

“अन्तक सौं न छूटै निहचै पर, मूरख जीव निरन्तर धूजै।
चाहत है चित्त मैं नित ही सुख, होय न लाभ मनोरथ पूजै॥
तो पन मूढ़ बँध्यो भय आस, वृथा बहु दुःखदवानल भूजै।
छोड़ विचच्छन ये जड़ लच्छन, धीरज धारि सुखी किन हूजै॥”

यह निश्चित है कि मृत्यु से बचा नहीं जा सकता है, तथापि अज्ञानी प्राणी निरन्तर भयभीत बना रहता है। वह सदा सुखसामग्री की इच्छा करता रहता है, किन्तु न तो उनकी प्राप्ति होती है और न कभी उसके मनोरथ पूरे होते हैं। परन्तु फिर भी वह भय और आशा से बँधा रहता है और व्यर्थ ही दुःखरूपी प्रबल आग में जलता रहता है। हे विचक्षण ! तुम इन मूर्खता के लक्षणों को त्याग कर एवं धैर्य धारण कर सुखी क्यों नहीं हो जाते हो?—महाकवि भूधरदास

समाधि और सल्लेखना

पं. रतनचन्द्र भारिल्ल

“संन्यास और समाधि है जीना सिखाने की कला।
बोधि-समाधि साधना शिवपंथ पाने की कला।।
सल्लेखना कमजोर करती काय और कषाय को।
निर्भीक और निःशंक कर उत्सव बनाती मृत्यु को।।”

आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्व का बोझ—समाधि इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शान्त, अत्यन्त निर्भय और निःशंक भाव से जीवन जीने की कला ही समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना सम्भव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना सम्भव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेदविज्ञान अनिवार्य है। जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन, जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।

समाधि और सल्लेखना को और भी सरल शब्दों में परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीने की कला है कषायरहित शान्त परिणामों का नाम ही समाधि है। तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन आत्मा में रमण यही सब तो समाधि है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की समृद्धि वृद्धि ही समाधि है। और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव-जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।

समाधि के समुद्र में सतत तलस्पर्शी गोते लगाकर निर्मल गुणरत्न खोजनेवाले आचार्य वृन्द इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं, देखते हैं उन्हीं के शब्दों में—

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि— वचनोच्चारण की क्रिया त्यागकर वीतराग

भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है। संयम, नियम और तप तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यान से आत्मा का ध्यान करना — समाधि है।¹

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि— योग का अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है² अर्थात् मन-वचन-कायरूप त्रियोगों को आत्मसन्मुख करके पर-पदार्थों और अपनी पर्याय से उपयोग को समेटकर आत्मतत्त्व में एकाग्र करना ध्यान है। ऐसे ध्यान का ही दूसरा नाम समाधि है।

आचार्य योगीन्द्रदेव कहते हैं कि— जो समस्त विकल्पों का विलय/विनाश है, उसे परम समाधि कहते हैं। यहाँ विकल्प का अर्थ है राग-द्वेष के भाव। समाधि की साधना से समस्त राग-द्वेष के भावों या विकल्पों का शमन हो जाता है।³

आचार्य शिवार्य कहते हैं कि— सम का अर्थ एकरूप करना, मन को एकाग्र करना, इसप्रकार मन को शुभोपयोग या शुद्धोपयोग में एकाग्र करना समाधि है।⁴

आचार्य जिनसेन कहते हैं कि— उत्तम परिणामों में चित्त का स्थिर रखना समाधि है। अर्थात् पंचपरमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।⁵

स्याद्वादमंजरी में आचार्य लिखते हैं कि— बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप योग है और स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।⁶

आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंकदेव एवं चारित्रसार के कर्ता ने साधुसमाधि नामक भावना में कहा है कि— जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर वह भाण्डागार बहुत उपयोगी होने से उसकी आग को बुझाने का तुरन्त प्रयत्न किया जाता है, उसीप्रकार अनेक प्रकार से तपश्चरण करते हुए किसी कारण विघ्न उत्पन्न होने पर उसको शान्त करना समाधि है।⁷

इन उपर्युक्त विविध आचार्यों के समाधि विषयक विचारों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि — भाषा भले ही पृथक्-पृथक् हो; परं भाव सबका मिलता-जुलता एक जैसा ही है, सभी में प्रकारान्तर से आधि-व्याधि और उपाधि से रहित परिणाम को ही समाधि कहा गया है। जिसका फल निराकुलता, निःशंकाता, निर्भयता और परमशान्ति बताया है।

अनादि-अनन्त चिन्मय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को निज और क्षणिक संसार, शरीर तथा भोगों को पर मानकर जिनका पर-पदार्थों के प्रति उदासीरूप संवेगभाव होता है, वे मरणकाल में सल्लेखना धारण कर मृत्यु को महोत्सव बना लेते हैं।

यह तो समाधि के सम्बन्ध में बात हुई। अब सल्लेखना सम्बन्धी आचार्यों के विचारों पर दृष्टिपात करके यह निर्धारण करेंगे कि हमारे जीवन में यह समाधि और सल्लेखना प्राप्त करने का सुअवसर हमें कब और कैसे प्राप्त हो सकता है?

अच्छे प्रकार से काय व कषाय का लेखन करना, कृश करना सल्लेखना है।

बाहंर से शरीर को और भीतर से कषायों को बढ़ानेवाले कारणों को घटाते हुए भलेप्रकार से लेखन करना, कृश करना सल्लेखना है।⁸

सल्लेखना आत्महत्या नहीं, क्योंकि उसमें प्रमाद एवं कषाय का अभाव है। सल्लेखना बलात नहीं कराई जाती। जब कोई असाध्य रोग, कोई प्रतिकार रहित उपसर्ग, बुढ़ापा, दुर्भिक्ष, आदि की स्थिति में धर्म-साधन सम्भव नहीं रहता, तब साधक स्वेच्छा से काया एवं कषायों को कृश करता हुआ देह एवं देह के सम्बन्धियों से ममत्व कम करते हुए स्वेच्छा से धीरे-धीरे आहार आदि को क्रमशः घटाते हुए समताभाव से शरीर छोड़ता है।⁹ प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से बाह्य में शरीरादि संभोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषाय भावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करना ही सल्लेखना है। सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय को कृश करना मुख्य है वहीं समाधि में शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान प्रमुख है। समाधि में त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना प्रमुख है।

अनेक प्रकार से शारीरिक या द्रव्य सल्लेखनाविधि को करते हुए साधक एक क्षण के लिए भी परिणामों की विशुद्धता को नहीं छोड़ता। कषाय से कलुषित मन में परिणामों की विशुद्धि नहीं होती। जीवन में पर के प्रति समरसी भाव या साम्यभाव कृश हुए बिना शरीर को कृश करने का कोई अर्थ नहीं है। कषायों के साथ काय को कृश करना ही सल्लेखना है। केवल काय को कृश करना तो आत्मघात है, सल्लेखना नहीं।

सल्लेखना के भेद— (1) **नित्य मरण** — प्रतिसमय आयुर्कर्म के क्षय के साथ मृत्यु की ओर जानेवाले साधक अपने में सदैव सावधान रहते हैं और विवेकपूर्वक यथोचित द्रव्य-सल्लेखना करते हुए विकारी परिणाम से बचते हैं — यही नित्य मरण सल्लेखना है।

(2) **तद्भव मरण** -- भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर समभाव से शरीर त्यागना तद्भव मरण सल्लेखना है।

इसके सिवा काय सल्लेखना एवं कषाय सल्लेखना भी सल्लेखना के दो भेद हैं—

(1) **काय सल्लेखना** — काय को कृश करना एवं परीषह सहकर शरीर को सहनशील बनाना काय सल्लेखना है। काय को पुष्ट करने से, आरामतलब बनाने से इन्द्रियों के विषयों में अधिक प्रवृत्ति होती है, आत्मा मलिन होता है, काम वासना बढ़ती है, निद्रा-प्रमाद-आलस्य आता है। वात-पित्त-कफ आदि रोग हो जाते हैं। अतः समाधिधारक को कायक्लेश तपश्चरण द्वारा काय को कृश करना आवश्यक है।

आचार्य कहते हैं कि साधक जैसी आयु की स्थिति जाने, तदनुसार देह से

ममत्व कम करते हुए आहार के आस्वाद से विरक्त हो, रसों की गृह्यता छोड़कर नीरस आहार लेना प्रारम्भ करे। एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकाशन, कभी नीरस आहार, कभी अल्प आहार (ऊनोदर) — इसतरह क्रम-क्रम से अपनी शक्तिप्रमाण आहार को कम करते हुए दूध पर आवे, दूध से छाछ, छाछ से गर्म पानी तत्पश्चात् पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करे— यही काय सल्लेखना है।

(2) कषाय सल्लेखना — राग-द्वेष-मोह आदि भावों को एवं क्रोध-मान-माया लोभादि कषायों को कृश करना, कषाय सल्लेखना है।

मृत्यु को महोत्सव बनाने के सम्बन्ध में एक ज्वलन्त और प्रबल प्रश्न है। मृत्यु से सारा विश्व आतंकित रहता है, प्रत्येक प्राणी भयभीत और आकुल-व्याकुल रहता है, कोई भी मरना नहीं चाहता। जो अत्यन्त दुःखद है, जिसके नाम मात्र से लोग थरते हैं, थर-थर काँपते हैं, घबराते हैं। यद्यपि सबको गारन्टी से मरना है, यह सब अच्छी तरह जानते हैं, हम प्रतिदिन दूसरों को मरते हुए देख भी रहे हैं; फिर भी स्वयं की मौत को मन से स्वीकार नहीं कर पाते। अतः उधर से आँखें बन्द कर लेते हैं। ऐसी भयंकर दुःखद मृत्यु, महोत्सव कैसे बन सकती है?

हमें लगता है, ये कोरी आदर्श की बातें हैं, जो कहने-सुनने में ही सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छी कही जाती हैं, प्रायोगिकरूप में तो मृत्यु को महोत्सव मान पाना सम्भव नहीं लगता। मौत के नगाड़ों की ध्वनि को भला विवाह के बाजों की ध्वनि में कैसे बदला जा सकता है? यह एक विचारणीय बिन्दु है, चिन्तन का विषय है।

विदाई के क्षण भी बड़े विचित्र होते हैं। चाहे वे बेटे की विदाई के क्षण हों या धर्मात्माओं की चिरविदाई के; दोनों ही स्थितियों में सभी को हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख की मिली-जुली ऐसी विचित्र अनुभूति होती है, जिसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक ओर जहाँ विदाई के बाद चिरप्रतीक्षित दुर्लभ मनोरथों के साकार होने का हर्ष होता है, वहीं दूसरी ओर अपने सम्बन्धियों से सदा-सदा के लिए बिछुड़ने का असीम दुःख भी होता है। वह स्थिति तो और भी विचित्र हो जाती है, जब चिरविदाई के समय एक ओर तो मृत्यु को महोत्सव जैसा मनाने की बात कही जाती है और दूसरी ओर अनन्तकाल के लिए अपने इष्टजनों के वियोग की असह्य मानसिक वेदना का पहाड़ सामने खड़ा दिखाई देता है। यद्यपि इन परिस्थितियों में मरणासन्न साधकों के मन में अन्तर्द्वन्द्व भी होता है, पर वे उस अन्तर्द्वन्द्व को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में किए गए तत्त्वाभ्यास के सहारे उपशान्त कर लेते हैं, उस द्वन्द्व पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उस विजय के हर्ष में ही उनकी वह मृत्यु महोत्सव बन जाती है।

मृत्यु तो सभी की एक न एक दिन होने वाली ही है। इस ध्रुवसत्य से तो कोई

कभी इनकार ही नहीं कर सकता। जिन्होंने जन्म लिया है, उन्हें आज नहीं तो कल — कभी न कभी तो मरना ही है और जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग भी अवश्य होना ही है। इस स्थिति को कोई टाल नहीं सकता। तो क्यों न हम वह क्षण आने के पूर्व ही दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों की तथा दूसरों पर अपने अधिकारों की समीक्षा कर लें, कर्तव्यों एवं अधिकारों की यथार्थता को अच्छी तरह समझ लें; ताकि बाद में किसी को कोई पछतावा न रहे।

आज तक हम मुख्यतः इन्हीं दो बातों से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं। हम अपने अज्ञान से अब तक ऐसा मान बैठे थे कि परिवार का पालन-पोषण करना, उन्हें पढ़ा-लिखा कर चतुर बनाना और उन सबके लिए जैसे भी हो वैसे धनार्जन करना हमारे प्रमुख कर्तव्य हैं। इसके बदले में कुटुम्ब-परिवार हमारी भरपूर सेवा करे, हमारी आज्ञा में रहे, जैसा हम कहें वही करे— यही हमारा उन पर अधिकार है। इन कर्तव्यों एवं अधिकारों की अनधिकार चेष्टाओं से हम अब तक परेशान रहे हैं, पर जिनागम के अध्ययन-मनन एवं अभ्यास से आज हमें यह पता चला है कि वस्तुतः सब अपने-अपने ही कर्ता-भोक्ता हैं, सब मात्र अपने ही भाग्यविधाता हैं। कोई भी किसी के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का, उन्नति-अवनति का कर्ता-धर्ता नहीं है, कोई किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। अपने ये कर्तृत्व के विकल्प सब निरर्थक हैं। अतः अब घर-गृहस्थी के कर्तापने के भार से पूर्ण निर्भर होकर तथा दूसरों के भला-बुरा करने की चिन्ता से मुक्त होकर, निश्चिन्त होकर क्यों न अपने स्वरूप में जमने-रमने का प्रयत्न करें? संयोग न सुखद है न दुःखद। दुःखद तो केवल संयोगी भाव होते हैं, अतः संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभाव सन्मुख दृष्टि करना ही श्रेष्ठ है।

जिस व्यक्ति ने जीवन भर सत्कर्म किए हैं, पुण्यार्जन किया है, सदाचारी जीवन जिया है, अपने आत्मा व परमात्मा की पहचान करके उनका आश्रय व अवलम्बन लिया है, परमात्मा के बताये पथ पर चलकर सच्चा पुरुषार्थ किया है तो निश्चित ही उसकी वह चिरविदाई की वेला सुखदायी होगी; क्योंकि उसके सत्कर्माँ के फलस्वरूप वर्तमान वृद्ध, रोगी एवं जीर्ण-शीर्ण शरीर के बदले में सुन्दर शरीर, सुगति व नानाप्रकार के सुखद संयोग मिलने वाले हैं। जिस तरह किसी को पहनने के लिए नया सुन्दर वस्त्र तैयार हो तो पुराना, जीर्ण-शीर्ण, मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर फेंकने में उसको कष्ट नहीं होता; उसीतरह जिसने पुण्य की कमाई की हो, सत्कर्म किए हों, उसे तो नवीन दिव्य देह ही मिलनेवाली है, उसे पुराना शरीर छोड़ने में कैसा कष्ट? ऐसी मृत्यु को ही मृत्यु महोत्सव या सुखदायी विदाई कहते हैं। ऐसी चिरविदाई (मृत्यु) के समय सगे-सम्बन्धी रागवश बाहर से रोते

दिखाई देते हैं, पर अन्दर से उन्हें इस बात का सन्तोष व हर्ष होता है कि आत्मा की सद्गति हुई है।

इसके विपरीत जिसने जीवन भर दुष्कर्म किए हों, खोटा आचरण किया हो, दुर्व्यसनों का सेवन किया हो, दूसरों पर राग-द्वेष करके संक्लेश भाव किए हों, जो दिन-रात खाने-कमाने में ही अटका रहा हो, विषय-कषायों के कंटकाकीर्ण वन में ही भूला-भटका रहा हो, जिसने जीवन भर अरप्य रुदन ही किया हो, उसे तो इन कुकर्मों के फल में कुगति ही होनी है, दुःखदायी संयोगों में ही जाना है। उसकी परिणति भी संक्लेशमय हो जाती है, वह संक्लेश भावों से ही मरता है। उसकी इस चिरविदाई की वेला को दुःखदाई विदाई कहते हैं। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु कभी महोत्सव नहीं बन सकती।

मृत्यु को महोत्सव बनानेवाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिक रूप से तैयार होता है और विदाई देनेवाले व्यक्ति भी बाहर में वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं, तब कहीं वह मृत्यु महोत्सव बन पाती है। इस वातावरण में परिवार के मोही व्यक्ति भी क्षण भर के लिए वियोगजनित दुःख भूल जाते हैं तथा सभी सुख व संतोष का अनुभव करने लगते हैं।

वस्तुतः मृत्यु के समय मरणासन्न व्यक्ति की मनःस्थिति को मोह-राग-द्वेष आदि मनोविकारों से बचाने, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा परद्रव्य पर अटकने-भटकने से भी बचाने तथा आत्मसंमुख करने के लिए संसार, शरीर व भोगों की असारता को बताने वाला वैराग्यवर्द्धक तथा संयोगों की क्षणभंगुरता दर्शानेवाला और आत्मा के अजर-अमर व अविनाशी स्वरूप का ज्ञान करानेवाला आध्यात्मिक वातावरण बनाना जरूरी है। इसके बिना मृत्यु-महोत्सव नहीं बन सकती।

कभी-कभी परिजन-पुरजन मोह व अज्ञानवश अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर मरण की सम्भावना से भी रोने लगते हैं, इससे मृत्युसंमुख व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की सम्भावना बढ़ जाती है; जबकि उसे समतापूर्वक निष्कषायभाव, शान्तभावों से देह त्यागने में सहयोग करना चाहिए, तभी मृत्यु महोत्सव बन पाती है।

सभी साधर्मिजनों की मृत्यु महोत्सव बने—इस मंगल भावना के साथ इति शुभ।

सन्दर्भ :-

1. नियमसार, गाथा, 122, 123
2. राजवार्तिक, अध्याय 6, सूत्र 1
3. परमात्मप्रकाश, 2/190
4. भगवती आराधना, वि. 67/194/16
5. महापुराण, 21/226
6. स्याद्वादमंजरी, टीका 17/229/16
7. सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं चारित्रसार
8. सागार धर्माभूत, 9/239
9. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अध्याय 6, श्लोक 1



हर बार बदल देता मधुवन

✍ विनय कुमार पथिक

हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।
हर बार कफ़निया के धागे, हर बार चदरिया बदली है।।

हर बार सृजन, फिर पुनःमरण, फिर-फिर करता हूँ आवर्तन।
हर बार चिता के अँगारे, धधके लेकर नव-परिवर्तन।।
हर बार बदलता हूँ पनघट, हर बार गगरिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

स्वर्गों-नरकों में अंकित है, मेरे पद-चिह्नों की छाया।
जीवन-वीणा के तारों पर, है कौन गीत जो अनगाया।।
हर बार बदलता हूँ सरगम, हर बार मुरलिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

छुट जाती है बेबस कर से, बेबस हो प्राणों की प्याली।-
लेकर अनजाने देश चला, उजली कुछ, करतूतें काली।।
इस पाप-पुण्य के सौदे में, हर बार बजरिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

बँध जाते हैं जो अनजाने, मैंने वे बँधन तोड़े हैं।
कितने लोचन में घन उमड़े, हर बार बरसते छोड़े हैं।।
याद नहीं किन-किन गलियों में, हर बार अटरिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

ये दुनिया कौंसी रंग भरी, जीते जी प्यार लुटाती है।
ये स्वयं शूल पर सो जाती, पर मुझको फूल बिछाती है।।

चलते-चलते देखा इसकी, हर बार नजरिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

इस घर में कुण्डल आ पहिने, उस घर में छोड़ी थी पायल।
इस घर में बजती है शहनाई, उस घर छोड़े आँसू घायल।।
इस चला-चली के मेले में, हर बार डगरिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।

मैं भटक रहा हूँ भव-वन में ऐसा, कि छोर नहीं पाया।
अज्ञान-तिमिर घन छाया है, समकित का भोर नहीं आया।।
हर बार बदलता घर द्वारे, हर बार अँगनिया बदली है।
हर बार बदल देता मधुवन, हर बार नगरिया बदली है।।



उस पार न जाने क्या होगा

इस पार प्रिये मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा?
संस्कृति के जीवन में सुभगे, ऐसी भी घड़ियाँ आयेंगी,
जब दिनकर की तम-हर किरणें, तम के भीतर छिप जायेंगी।
जब निज प्रियतम का शव रजनी, तम की चादर से ढँक देगी,
तब रवि-शशि-पोषित यह पृथिवी कितने दिन खैर मनायेगी?
जब इस लम्बे चौड़े जग का अस्तित्व न रहने पायेगा,
तब हम दोनों का नन्हा-सा संसार न जाने क्या होगा?
इस पार प्रिये मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा?

दृग देख जहाँ तक पाते हैं, तम का सागर लहराता है,
फिर भी उस पार खड़ा कोई, हम सबको खींच बुलाता है।
मैं आज चला, तुम आओगी कल, परसों सब संगी-साथी,
दुनिया रोती-धोती रहती, जिसको जाना है जाता है।
मेरे तो होते पग डग-मग, तट पर के ही हिलकोरों से,
जब मैं एकाकी पहुँचूँगा, मँझधार न जाने क्या होगा?
इस पार प्रिये मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा?

— 'इस पार उस पार', डॉ. हरिवंशराय बच्चन



सल्लेखना और समाधिमरण

प्रो. प्रेम सुमन जैन

जैन नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं, वरन् उसमें जीवन की कला के साथ मरण की कला पर भी विचार किया गया है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से किस प्रकार जीवन जीना चाहिए— यही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् किस प्रकार मरना चाहिए— यह भी महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है, जब हममें से अधिकांश अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है। संस्कारक प्रकीर्णक में उपलब्ध स्कन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करने वाला महान् साधक जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने सहचारी चार सौ निन्यानवे साधक शिष्यों को उपस्थित मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृतपान कराया, वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत हो किस प्रकार अपने साधनापथ से विचलित हो गया। मृत्यु इस जीवन की साधना का परीक्षा-काल है। मृत्यु इस जीवन में लक्ष्योपलब्धि का अन्तिम अवसर और भावी जीवन की कामना का आरम्भ-बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य संजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुन्दर बनाना हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है।

संसारण-शील संसार में जन्म लेने वाले जीव का मरण निश्चित है। यद्यपि आत्मा अजर, अमर और अजन्मा है, वस्तुतः उसका न जन्म है और न मरण, फिर भी संसारावस्था में शरीर-प्राप्ति जन्म और शरीर छूटना मरण कहा जाता है। मरण को अज्ञानी बुरा मानता है। अज्ञानी पर्यायदृष्टि प्रधान होने से प्राणवियोग रूप मरण पर दुःख करता है, किन्तु ज्ञानी द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से प्राणवियोग या शरीर छूटने में भी प्रसन्न रहता है, सदा समरस रहता है। वह विचार करता है कि मैं त्रिकाल सत्य हूँ। इस शरीर से पूर्व भी मेरी सत्ता थी, इस शरीर में भी है और इस शरीर के छूटने पर भी मैं रहूँगा। मैं सुकृताचरण से कृतकृत्य हो चुका हूँ, अतः

मुझे मरण से क्या चिन्ता है ? ऐसा चिन्तन करता हुआ साधक शास्त्रोक्त समाधिभरण या सल्लेखना की विधिपूर्वक शरीर छोड़ने में प्रयत्नशील होता है। साधक को जितना महत्त्व जीवन-शुद्धि का है, उससे अधिक महत्त्व मरण-शुद्धि का है।

सल्लेखना शब्द सत् और लेखना—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। **सत्** का अर्थ सम्यक् और **लेखना** का अर्थ तनुकरण अर्थात् कृश करना है। बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषायों के कारणों को निवृत्तिपूर्वक क्रमशः भली प्रकार क्षीण करना सल्लेखना है। इस मारणान्तिक सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिए। पंचास्तिकाय में द्रव्य-भाव सल्लेखना का सुन्दर लक्षण दिया गया है कि आत्मसंस्कार के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादि कषाय रहित अनन्तज्ञानादि गुण लक्षण परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों का कृश करना भाव सल्लेखना है और उस भाव सल्लेखना के लिए काय-क्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इन दोनों प्रकार की आचरण करना सल्लेखना काल है। आचार्य शिवकोटि काय और कषाय की कृशता मुख्य रूप से भक्त-प्रत्याख्यान के माध्यम से ही स्वीकार करते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान ही सल्लेखना है। सल्लेखना को ही समाधिभरण कहा है। उन्होंने सल्लेखना की पूरी प्रक्रिया भी विवेचित की है। यथा—

“सल्लेहणा दिसा खामणा य अससिट्ठ परगणे चरिया ।

मग्गण सुट्ठय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥”

आचार्य पूज्यपाद ने सल्लेखना की परिभाषा बताई है— सम्यक् प्रकार से काय और कषाय का लेखना करना सल्लेखना है अर्थात् बाह्य सल्लेखना शरीर की और आभ्यन्तर सल्लेखना कषायों की तथा उत्तरोत्तर काय और कषाय की पुष्टि करने वाले कारणों को घटाते हुए भली-भाँति लेखन करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह है कि कदलीघात की तरह एकदम नहीं, किन्तु दुर्भिक्ष आदि के उपस्थित होने पर धर्मरक्षार्थ अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करके जीवन-मरण की आशा से रहित होकर क्रमशः कृश करते हुए शरीर को छोड़ना सल्लेखना है।

सल्लेखना के दो भेद हैं— आभ्यन्तर सल्लेखना और बाह्य सल्लेखना। क्रोधादि कषायों का त्याग करना आभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीर को कृश, क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है। इस बाह्य सल्लेखना का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि शरीरेन्द्रियों को पुष्ट करने वाले समस्त रसयुक्त आहारों का त्याग कर नीरस, रूखा आहार करते हुए क्रमशः शरीर को क्षीण करना शरीर-सल्लेखना है। इसका दूसरा अर्थ है— जीवन के अन्तिम समय में सर्व प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर अपने आप में लीन होकर साम्यभाव से मृत्यु को स्वीकार करना। राग-

द्वेष का स्वरूप समझने से आधि (मानसिक पीड़ा), शरीर को अपना समझने से व्याधि (शारीरिक पीड़ा) और पर-पदार्थ, घर, पुत्र, पौत्रादिक को अपना समझने से उपाधि (बौद्धिक पीड़ा) होती है। यह आधि, व्याधि और उपाधि समाधि की घातक हैं। अतः इनका त्याग कर समाधि धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मरण अनेक प्रकार के हैं, परन्तु उनमें पाँच मुख्य हैं— बाल-बाल मरण, बाल मरण, बालपण्डित मरण, पण्डित मरण और पण्डित-पण्डित मरण। मिथ्यादृष्टि का मरण बाल-बाल मरण है, इसमें सल्लेखना नहीं हो सकती; क्योंकि इसको आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान नहीं है। बाल मरण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के होता है, जहाँ ऐसी पर्याय है कि त्याग करने का सामर्थ्य ही नहीं है— जैसे देव, नारकी, चतुर्थगुणस्थानवर्ती अथवा जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था में नरकायु, तिर्यचायु या मनुष्यायु का बन्ध कर लिया है, उनके देशव्रत व सकल संयम धारण करने का सामर्थ्य नहीं होता। ऐसे प्राणी चतुर्थ गुणस्थान में मरण करते हैं, वह बाल मरण है। पंचम गुणस्थानवर्ती का मरण बालपण्डित मरण है क्योंकि इसमें एकदेश व्रत है एकदेश अव्रत है, सम्यग्दर्शन सहित है, अतः बालपण्डित मरण है। सकल संयमी का मरण पण्डित मरण है। केवली का देह त्याग करना पण्डित-पण्डित मरण है। सल्लेखना मरण के अधिकारी दो ही हैं— बालपण्डित मरण और पण्डित मरण वाले। पण्डित मरण के तीन भेद हैं— 1. प्रायोपगमन मरण, 2. इगिनी मरण और 3. भक्त-प्रत्याख्यान।

प्रायोपगमन मरण :- दुस्तर असाध्य रोग के उत्पन्न होने पर, श्रामण्य की घातक अतिशय, वृद्ध अवस्था आ जाने पर, निष्प्रतिकार्य देव, मानव और तिर्यच कृत उपसर्ग होने पर, आँख, कान या जंघा बल के अत्यन्त क्षीण होने पर साधक आहार-पानी का क्रमशः या सम्पूर्ण त्याग करके समाधि मरण करने में तत्पर होता है। इस प्रायोपगमन मरण में स्व-पर के द्वारा शुश्रूषा का परिहार करता है। वह जिस स्थान में खड्गासन या पद्मासन से स्थित होता है, वैसे ही मरण-पर्यन्त स्थित रहता है।

इगिनी मरण :- आहार का त्याग तो प्रायोपगमन के समान ही है परन्तु इस मरण में अपने द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है अर्थात् अपनी वैयावृत्य स्वयमेव करता है। चलना, बैठना, मल-मूत्र आदि क्रिया में दूसरे का सहारा नहीं लेता है, परन्तु स्वयमेव आहारादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है।

भक्तप्रत्याख्यान मरण :- भक्त का अर्थ आहार है, जो खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय—चार प्रकार का होता है। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। मरण का समय निकट जानकर चारों प्रकार के आहार का त्याग करके समता भाव से शरीर छोड़ा जाना भक्तप्रत्याख्यान मरण है।

सल्लेखना श्रावक के 12 व्रतों में एक व्रत है। उपासकाध्ययन आचार्य शिवकोटि कृत आचार्य रत्नमाला, वसुनन्दिश्रावकाचार और प्रतिक्रमण में श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में देशव्रत का वर्णन न करके चतुर्थ व्रत सल्लेखना बताया गया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सागारधर्मामृत आदि में 12 व्रतों का फल अन्त में समाधिमरण करना कहा है।

समाधिमरण या सल्लेखना जीवन की अन्तिम वेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवन भर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में यदि वह राग-द्वेष के दलदल में फँस जाये तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। उसकी साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। आचार्य शिवकोटि ने यहाँ तक लिखा है— ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप धर्म में घिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला साधक यदि मरण के समय में धर्म की विराधना करता है, तो वह अनन्त भव धारण करने वाला देखा गया है किन्तु जो मरण काल में सल्लेखना ग्रहण करता है, वह लोक के समस्त सारभूत सुखों को प्राप्त करता है। मूलाचार के बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव नामक द्वितीय अधिकार में सल्लेखना का निरूपण है। सल्लेखनाधारी संकल्प करता है कि जो कुछ भी मेरा दुश्चरित है, उस सभी का मैं मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ और तीन प्रकार के सामायिक (मन, वचन, कायगत अथवा कृत, कारित, अनुमोदन रूप) को निर्विकल्प रूप से करता हूँ। (क्षेत्र आदि) बाह्य तथा (मिथ्यात्व आदि) आभ्यन्तर परिग्रह को, शरीर आदि को और आहार का मन-वचन काय पूर्वक (कृत, कारित, अनुमोदना रूप) तीनों प्रकार से त्याग करता हूँ। समस्त प्राणिवध, असत्यवचन, सम्पूर्ण अदत्त-ग्रहण, मैथुन तथा परिग्रह को मैं छोड़ता हूँ। सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। मैं केवल वैर का ही त्याग नहीं करता हूँ, किन्तु वैर के निमित्त जो भी है, उन सबका त्याग करता हूँ। समस्त आशा को छोड़कर मैं समाधि को स्वीकार करता हूँ।

यदि हम श्रमण-जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं कि आर्हती दीक्षा (जिनेश्वरी दीक्षा) ग्रहण करना श्रमण जीवन का उदय काल है, तो उसके पूर्व की वैराग्य-अवस्था साधक जीवन का उषाकाल है। जब साधक उत्कृष्ट तप-जप-व ज्ञान की साधना करता है उस समय उसकी श्रमण जीवन की साधना का मध्याह्न काल होता है और जब साधक सल्लेखना प्रारम्भ करता है तब उसका सन्ध्या काल होता है। सूर्योदय के समय पूर्व दिशा मुस्कराती है, उषा-सुन्दरी का दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। उसी प्रकार सन्ध्या के समय पश्चिम

दिशा का दृश्य भी मन को लुभाने वाला होता है। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनन्दविभोर कर देती है। वही स्थिति साधक की है। उसके जीवन में भी संयम को ग्रहण करते समय मन में जो उल्लास और उत्साह होता है वही उत्साह मृत्यु के समय भी होता है।

समाधिमरण के समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप — इन चार आराधनाओं को सुनाने का विधान है। दर्शन आराधना में उसे बताया जाता है कि सारे कर्मबन्ध असम्यग्दर्शन से उत्पन्न होते हैं। देह को आत्मा मानना भी असम्यग्दर्शन है। वास्तव में तो घना और घने का छिलका पृथक्-पृथक् है। परपदार्थ में रति असम्यग्दर्शन से होती है। ज्ञानाराधना से मोहनीय कर्मों का क्षय किया जाता है। ज्ञान आत्मा का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसी से समस्त लोक अलोक उद्भासित होते हैं। केवलज्ञान आत्मा के परम विशुद्ध स्वरूप में सुरक्षित होता है। आत्मज्ञान के बिना मोक्ष अप्राप्य है। आत्मा के इस ज्ञानगुण का चिन्तन करने से पुनर्जन्म पर विजय प्राप्त होती है। इसी प्रकार चारित्राराधना से समाधिमरण प्राप्त करने वाले को बार-बार समझाया जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्रयोगक्षेत्र सम्यक्चारित्र है। आत्मा की विशुद्धि चारित्र से होती है। चारित्र-पालन किये बिना दर्शन तथा ज्ञान की बातें करते रहने से कृतार्थता नहीं मिलती। संयम का शास्त्रीय ज्ञान ही अपेक्षित नहीं, उसका व्यावहारिक आचरण प्रयोजनीय है। पंच महाव्रत, पंच समिति और त्रिगुप्ति चारित्र के ही भेद हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से जीवन में तप का आविर्भाव होता है। त्रिरत्न द्वारा तपोमय जीवन को उज्ज्वल किया जाता है। जिसप्रकार वर्ष भर पूर्ण परिश्रम करने वाला छात्र वार्षिक परीक्षा में अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होता है, वैसे ही जीवन में मुनिव्रतों का अप्रमत्त पालन करने वाले को समाधि-परीक्षा में विचलित होने की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज भाव से उसको उत्तीर्ण कर जाता है।

समाधिमरण व्रतों की रक्षा के प्रति सावधान रहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह है। जो व्रत भंग करके जीवित रहता है, उसका जीवन क्या अनन्तकाल तक के लिए सुरक्षित होता है? मृत्यु उसे भी आकर पूछ लेती है। तब, व्रतों की पालना करते हुए ऊर्ध्वगति को प्राप्त करना सर्वोत्तम पक्ष है। शाश्वत धर्मपालन को नश्वर देह के लिए नष्ट नहीं करना चाहिए; क्योंकि देह तो फिर मिल सकती है, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है।

समाधिमरण देह के प्रति निर्ममत्व की साधना का ही प्रयास है। यह न तो आत्महत्या है और न ही जीवन से भागने का प्रयत्न। अपितु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही अपरिहार्य बनी मृत्यु का स्वागत है। वह देह के पोषण के प्रयत्नों

का त्याग करके देहातीत होकर जीने की एक कला है। समाधिमरण साधनामय जीवन की चरम और परम परिणति है, साधना के भव्य प्रासाद पर स्वर्ण-कलश आरोपित करने के समान है। जीवन पर्यन्त आन्तरिक शत्रुओं के साथ किए गए संग्राम में अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने का महान् अभियान है। इस अभियान के समय वीर साधक मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है। समाधिमरण अंगीकार करने से पूर्व साधक को यदि अवसर मिलता है तो वह उसके लिए तैयारी कर लेता है। वह तैयारी सल्लेखना के रूप में होती है। काय और कषाय को कृश और कृशतर करना सल्लेखना है। कभी-कभी यह तैयारी बारह वर्ष से पहले प्रारम्भ हो जाती है।

सल्लेखना व समाधिमरण की विशेषताएँ :

1. जैनधर्म की दृष्टि से शरीर और आत्मा —ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जैसे— मोसम्बी और उसके छिलके।
2. आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अनन्त आनन्द से युक्त है। जो शरीर हमें प्राप्त हुआ है उसका मूल कर्म है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म है, मृत्यु है, व्याधियाँ हैं।
3. दैनन्दिन जीवन में जो धार्मिक साधना पर, तप पर बल दिया गया है, उसका मूल उद्देश्य है आत्मा में जो कर्म-मैल है, उसको दूर करना।
4. जब शरीर में वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो, अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने का प्रसंग उपस्थित हो, उस समय साधक को सल्लेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव में स्थिर रहना चाहिए। सल्लेखना आत्मभाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है।
5. सल्लेखना व्रत ग्रहण करने वाले को पहले मृत्यु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।
6. सल्लेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।
7. सल्लेखना करने से पूर्व जिनके साथ कभी भी और किसी भी प्रकार का वैमनस्य हुआ हो उनसे क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए और दूसरों को भी क्षमा प्रदान कर देनी चाहिए।
8. सल्लेखना में तनिक भी विषम भाव न हो, मन में समभाव की मन्दाकिनी सतत प्रवाहित रहे।

9. सल्लेखना स्वेच्छा से धारण करनी चाहिए। किसी के दबाव में आकर अथवा स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति की इच्छा से सल्लेखना नहीं करनी चाहिए।
10. सल्लेखना करने वाला साधक मन में यह न सोचे कि मेरी सल्लेखना — लम्बे काल तक चले जिससे लोग मेरे दर्शन हेतु उपस्थित हो सकें, मेरी प्रशंसा हो, और वह यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु का वरण कर लूँ। सल्लेखना का साधक न जीने की इच्छा करता है, न मरने की। वह तो सदा समभाव में रहकर सल्लेखना की साधना करता है।

अर्धमागधी आगम साहित्य में समाधिमरण

आचारांग एवं उत्तराध्ययन दो ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें समाधिमरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण मिलता है। आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध का विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन विस्तार से समाधिमरण के तीन प्रकारों भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण एवं प्रायोपगमन की विस्तृत चर्चा करता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र का पंचम अकाम-मरणीय अध्ययन भी अकाम-मरण और सकाम मरण (समाधिमरण) की चर्चा से सम्बन्धित है। उत्तराध्ययन के 34वें अध्ययन में भी समाधिमरण की चर्चा है जिसमें समय अवधि की दृष्टि से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य— ऐसे 3 प्रकार के समाधिमरणों का उल्लेख है। दशवैकालिक के आठवें आचार्य-प्रणिधि नामक अध्ययन में समाधिमरण के पूर्व की साधना का उल्लेख करते हुए कषायों पर विजय प्राप्त करने का निर्देश है। इसीप्रकार स्थानांग सूत्र के चतुर्थ उद्देशक में मरण के विविध प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में समाधिमरण के विविध रूपों का उल्लेख मिलता है। समवायांग में मरण के 17 भेदों की चर्चा है। भगवती सूत्र में अम्बड संन्यासी एवं उसके शिष्यों के द्वारा गंगा की बालू पर अदत्त जल का सेवन नहीं करते हुए समाधिमरण करने का उल्लेख पाया जाता है। उपासकदशा सूत्र में भगवान महावीर के 10 गृहस्थ उपासकों के द्वारा लिखे गये समाधिमरण और उसमें उपस्थित विघ्नों की विस्तृत चर्चा मिलती है। अन्तगडदशा एवं अनुत्तरोपपातिक दशा में भी अनेक श्रमणों एवं श्रमणियों के द्वारा लिए गए समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। अन्तकृतदशा की विशेषता यह है कि उसमें समाधिमरण लेने वाले की समाधिमरण के पूर्व की शारीरिक स्थिति कैसी हो, इसका सुन्दर विवरण उपलब्ध है। उपांग साहित्य में औपपातिक सूत्र और रायपसेनीय में समाधिमरण ग्रहण करनेवाले कुछ साधकों का उल्लेख है, अर्धमागधी आगम साहित्य के प्रकीर्णकों में आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तप्रतिज्ञा, संस्तारक, आराधना-पताका, मरणविभक्ति, मरणसमाधि एवं मरणविशुद्धि प्रमुख हैं। वर्तमान में मरणविभक्ति नामक प्रकीर्णक में उपरोक्त आठ ग्रन्थों को समाहित कर लिया गया है।

समाधिमरण से सम्बन्धित सभी विषयों को एक स्थान पर प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ अति महत्वपूर्ण है। इसमें 664 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होते हुए भी भगवती आराधना के समान ही अपने विषय को समग्र रूप से प्रस्तुत करता है। तन्दुल वैचारिक नामक प्रकीर्णक के अन्त में भी समाधिमरण का विस्तृत विवरण पाया जाता है। आचारांग के अनुसार समत्व या वीतरागता की साधना ही धर्म का मूलभूत प्रयोजन है। वीतरागता की उपलब्धि में ममत्व बाधक तत्त्व है और इस समत्व का घनीभूत केन्द्र व्यक्ति का अपना शरीर होता है। समाधिमरण देह के प्रति निर्ममत्व की साधना का ही प्रयास है। जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही अपरिहार्य बनी मृत्यु का स्वागत है। वह देह के पोषण के प्रयत्नों का त्याग करके देहातीत होकर जीने की एक कला है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विमोक्ष नामक अष्टम अध्यायन में समाधिमरण का उल्लेख करते हुए शरीर, आहार, वस्त्र आदि के प्रति निर्ममत्व और उसके विसर्जन की चर्चा है। इसमें समाधिमरण स्वीकार करने की तीन स्थितियों का उल्लेख है—

1. जब शरीर इतना अशक्त व ग्लान हो कि व्यक्ति संयम के नियमों का पालन करने में असमर्थ हो और मुनि के आचार (नियमों) को भंग करके ही जीवन बचाना सम्भव हो, उस स्थिति में आचार नियमों के उल्लंघन की अपेक्षा देह का विसर्जन ही नैतिक है। निर्बल या मरणान्तिक रोग से आक्रान्त हो जाने पर, नियम या मर्यादा पूर्वक आहार आदि प्राप्त करने में असमर्थ रहने पर आहार का परित्याग कर शरीर के पोषण के प्रयत्नों के बन्द कर देना देह के प्रति निर्ममत्व की साधना है।
2. वृद्धावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण जब यह लगने लगे कि जीवन पूर्णतः दूसरों पर निर्भर हो गया है और अपनी साधना करने में असमर्थ है तो उस स्थिति में आहार आदि का त्याग करके देह का विसर्जन कर देना चाहिए।
3. जब यह लगने लगे कि सदाचार या ब्रह्मचर्य का खण्डन किए बिना यह जीवन सम्भव नहीं है अर्थात् चरित्रनाश या जीवित रहने में एक ही विकल्प सम्भव है, तब तत्काल ही श्वासनिरोध आदि करके देह विसर्जित कर देनी चाहिए।

आचारांगकार न तो जीवन को अस्वीकार करता है और न ही जीवन से भागने की बात कहता है। वह तो यह प्रतिपादित करता है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो और आचार-नियम-प्रतिज्ञा भंग किए बिना जीवन सम्भव नहीं हो तो उस स्थिति में मृत्यु का वरण ही उचित है। यह मरण विमोहआयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, निःश्रेयस्कर और भविष्य के लिए कल्याणकारी होता है। आचारांग सूत्र में समाधिमरण के तीन रूपों का उल्लेख है— भक्तप्रत्याख्यान,

इंगिनीमरण, प्रायोपगमन। इसमें समाधिमरण के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं— कषायों का कृशीकरण और दूसरा शरीर का कृशीकरण। इनमें मुख्य कषायों का कृशीकरण है। आचारांग के अनुसार संघस्थ मुनि बीमारी अथवा वृद्धावरथाजन्य शरीर दुर्बलता की स्थिति में आहारादि से एक-दूसरे का उपकार अर्थात् सेवा कर सकते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में चार विकल्पों का उल्लेख हुआ है— 1. मैं साधर्मिक भिक्षुओं के लिए आहार आदि लाऊँगा और उनके द्वारा लाया हुआ आहार स्वीकार भी करूँगा 2. मैं दूसरों के लिए आहार आदि नहीं लाऊँगा किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा 3. मैं दूसरों के लिए आहारादि लाऊँगा किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूँगा 4. मैं न तो दूसरों के लिए आहार लाऊँगा और न ही उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा।

आचारांगकार के अनुसार जब शरीर संयम-साधना के लिए असमर्थ हो रहा हो तो वह भिक्षु आहार का संक्षेप करे, कषायों को कृश करे और समाधिमरण के लिए प्रयत्नशील होकर शरीर का उत्सर्ग करे। उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्याय में मृत्यु के दो रूपों की चर्चा है— अकाम मरण और सकाम मरण। अकाम मरण बार-बार होता है जबकि सकाम मरण एक बार होता है। आत्म पुरुषार्थ से रहित निरुद्देश्य और निष्प्रयोजनपूर्वक मरण अकाम मरण है जिसमें व्यक्ति संसार में आसक्त हो, अनाचार का सेवन करता है, कामभोगों के पीछे भागता है, मृत्यु के समय भय से संत्रस्त रहता है और हारने वाले जुआरी की तरह शोक करता है जबकि सकाम मरण पुरुषार्थ या साधना से मृत्यु के प्रयोजनरूप मरण है जो पण्डितों को प्राप्त होता है। संयमी जितेन्द्रिय पुण्यात्माओं का मरण अति प्रसन्न अर्थात् निराकुल एवं आघात रहित होता है। जो भिक्षु हिंसा आदि से निवृत्त होकर संयम आदि का अभ्यास करता है, उन्हें ही ऐसा सकाम मरण प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन में स्पष्ट निर्देश है कि मेधावी साधक बालमरण व पण्डित मरण की तुलना करके सकाम मरण को स्वीकार करे, मरण काल में क्षमा और दशधर्म से युक्त हो तथा आत्मभाव से मरण करे। उत्तराध्ययन के इस पंचम अध्याय में उन्हीं तीनों प्रकार के समाधिमरणों का उल्लेख है जिनकी चर्चा आचारांग में है। इसके 36वें अध्याय में उल्लेख है कि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि अनुक्रम से आत्मा की सल्लेखनाविकारों से क्षीणता करे। उत्कृष्ट सल्लेखना बारह वर्ष की होती है, मध्यम एक वर्ष की और जघन्य छह मास की। कांदर्पी, अभियोगी, किल्विषिकी मोही और आसुरी भावनाएं दुर्गति देने वाली हैं जो मृत्यु के समय में संयम की विराधना करती हैं, जो मरते समय मिथ्यादर्शन में अनुरक्त हैं, निदान से युक्त हैं, हिंसक हैं, उन्हें बोधि बहुत दुर्लभ है। जो सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान

से रहित हैं, जो शुक्ल लेश्या में अवगाढ-प्रविष्ट हैं उन्हें बोधि सुलभ है। जो जिनवचन में अनुरक्त हैं जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं वे निर्मल और रागादि से असकिलष्ट होकर परीत संसारी परमित संसार वाले हैं।

स्थानांग सूत्र में बलन मरण और वशांत मरण, निदान मरण और तद्भव मरण, गिरिपतन और तरुपतनमरण, जलप्रवेश मरण और अग्निप्रवेश मरण, विषभक्षण मरण और शारत्रावपातन मरण को प्रशंसित और अनुमोदित नहीं किया गया है। प्रायोपगमन मरण और भक्तप्रत्याख्यान मरण को निर्ग्रन्थों के लिए अनुमोदित किया गया है। प्रायोपगमन मरण दो प्रकार का है— निर्हारिम और अनिर्हारिम। प्रायोपगमन मरण नियमतः अप्रतिकर्म होता है, जबकि भक्तप्रत्याख्यान मरण सप्रतिकर्म होता है। समवायांग में भी मरण के 17 प्रकारों का वर्णन किया गया है। समवायांग और भगवती आराधना में कहीं-कहीं उनके नाम और क्रम में अन्तर दिखाई देता है। जैसे समवायांग में छद्मरथ मरण का उल्लेख है, जबकि भगवती आराधना में ओसन्नमरण का उल्लेख है।

चन्द्रवेधक प्रकीर्णक में 175 गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक का अन्तिम लक्ष्य तो समाधिमरण का निरूपण ही है; किन्तु उसकी पूर्व भूमिका के रूप में विनय गुण, आचार्य गुण, विनय निग्रह गुण, ज्ञानगुण और चरण गुण द्वार नामक प्रथम पाँच द्वारों में समाधिमरण की पूर्व भूमिका के रूप में सम्बन्धित विषयों का विवरण दिया गया है। और अन्त में छठा समाधिमरण द्वार है। मरणगुणद्वार नामक सप्तम द्वार में 58 गाथाएँ हैं जिसमें अकृतयोग और कृतयोग के माध्यम से यह बताया गया है कि जो व्यक्ति विषय वासनाओं के वशीभूत होकर जीता है वह अकृत योग है और जो इसके विपरीत वासनाओं और कषायों का नियन्त्रण कर जीवन जीता है वह कृत योगी है और उसी का मरण सार्थक है— समाधिमरण है। आतुर प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान में भी समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। आतुर प्रत्याख्यान के तृतीय प्रकीर्णक जिसमें 71 गाथाएँ हैं, में मुख्यरूप से बाल पण्डितमरण और पण्डितमरण की चर्चा है। प्रथम चार गाथाओं में देशव्रती श्रावक के लिए बाल पण्डित मरण और मुनि के लिये पण्डित मरण का विधान है। अन्त में आलोचनादायक और आलोचना ग्राहक के गुणों की चर्चा करते हुए बालमरण, बाल पण्डित मरण, पण्डितमरण, असमाधिमरण की भी चर्चा है। महाप्रत्याख्यान में 142 गाथाएँ हैं जिसमें बाह्य और आभ्यन्तर का परित्याग, सर्व जीवों से क्षमा-याचना, आत्मालोचन, ममत्व का छेदन, आत्मस्वरूप का ध्यान, मूलगुणों एवं उत्तरगुणों की आराधना, एकत्व भावना, संयोग सम्बन्धों का परित्याग, पाँच महाव्रतों, समिति, गुप्ति का स्वरूप और तप का महत्त्व बताते हुए ज्ञान की प्रधानता

का चित्रण है।

संथारग प्रकीर्णक में कहा गया है कि जिस प्रकार पर्वतों में मेरुपर्वत एवं तारागणों में चन्द्र श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सुविहित जनों के लिए संथारा श्रेष्ठ है। इसी में आगे 12 गाथाओं में संस्तारक के स्वरूप का विवेचन है। इस प्रसंग में यह बताया गया है कि कौन व्यक्ति समाधिमरण को ग्रहण कर सकता है। यह ग्रन्थ क्षपक के लाभ एवं सुख की चर्चा करता है। इसमें संथारां ग्रहण करने वाले कुछ व्यक्तियों के उल्लेख हैं। यथा— सुकोशल ऋषि, अवन्ति — सुकुमाल, कार्तिकेय, पाटलीपुत्र के चदकपुत्र (सम्भवतः चन्द्रगुप्त) तथा चाणक्य आदि के उल्लेख हैं। समाधिमरण का स्वरूप निरूपण करते संथारग प्रकीर्णक में कहा है कि जिसके मन, वचन और काय रूपी योग शिथिल हो गये हों, जो राग-द्वेष से रहित हो, त्रिगुप्ति से गुप्त हो, त्रिशल्य और मद से रहित हो, चारों कषायों को नष्ट करने वाला हो, चारों प्रकार की विकथाओं से सदैव दूर रहने वाला हो, पाँच महाव्रतों से युक्त हो, पाँच समितियों का पालन करने वाला हो, षड्निकाय की हिंसा से विरत रहने वाला हो, सात भयों से रहित हो, आठ मदस्थानों का त्याग करने वाला हो, आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने वाला हो, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों से गुप्त हो तथा दस प्रकार के श्रमण का पालन करता हो और सदैव अलग रहता हो, यदि वह संस्तारक पर आरूढ़ होता है तो उसका संथारा सुविशुद्ध होता है। इराके विपरीत जो व्यक्ति अहंकार से मदीन्मत्त हो, गुरु के समक्ष अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता हो, दर्शन से मलिन अर्थात् मिथ्यादृष्टि और शिथिल चारित्रवाला हो, फिर भले वह श्रमण जीवन को अंगीकार करके संस्तारक पर आरूढ़ होता हो, तो भी उसका संथारा अविशुद्ध ही होता है। इस ग्रन्थ में आपत्तिकाल में अकरस्मात् समाधिमरण ग्रहण करने वाले जिन पन्द्रह व्यक्तियों के दृष्टान्त दिये गये हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।



धीरता से ही मरना चाहिए

“धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ।।”

—मूलाचार, गाथा 100

धैर्यवान को भी अवश्य मरना होगा और धैर्यरहित को भी अवश्य मरना होगा। जब दोनों को ही मरना है तो फिर धीरता से ही मरना उचित है।

जैन पुराणों में प्रतिपादित सल्लेखना

डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में चौथा शिक्षाव्रत बनाकर कहा गया है कि आयु का क्षय उपस्थित होने पर सल्लेखना धारण कर लेनी चाहिए।' गृहस्थ यदि अपने धर्मों का निर्वहन करते हुए सल्लेखना धारण कर लेता है तो वह मरकर उत्तम देव होता है और वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करता है।' यह भी कहा गया है कि ऐसा जीव अधिक से अधिक आठ भवों में रत्नत्रय का पालन कर अन्त में निर्ग्रन्थ होकर सिद्धपद पाता है।' इसके लिए अन्तरंग में कषाएँ कृश की जाती हैं और बहिरंग में देह। कषाएँ जन्मती हैं राग और द्वेष से। यदि राग-द्वेष कृश होते गये तो कषाएँ भी कृश होती चली जाती हैं। देह से भी राग नहीं रह जाता। जब देह से राग नहीं रहेगा तो उसका कृश होना भी अवश्यम्भावी है।

सल्लेखना का स्वरूप पुराणों में वैसा ही प्राप्त होता है जैसा जैन दार्शनिक ग्रन्थों में वह निरूपित है। पुराणों में बहिरंग में शरीर और अन्तरंग में कषायों के अच्छी तरह कृश करने को सल्लेखना कहा है। व्रती मनुष्य को मरणान्तकाल में यह अवश्य करना चाहिए। जब अन्त अर्थात् मरण का किसी प्रकार परिहार न किया जा सके, तब रागादि की अनुत्पत्ति के लिए आगमोक्त मार्ग में सल्लेखना धारण करना उचित माना गया है। इन उल्लेखों में प्रयुक्त 'मारणान्तिकी' शब्द तत्त्वार्थसूत्र की देन ज्ञात होता है। पुराणों में दर्शाये गये सल्लेखना स्वरूप में तत्त्वार्थसूत्रकार और आचार्य समन्तभद्र की अपेक्षा चिन्तन की अधिक गहराई दिखाई देती है।

पुराणकार ने बहिरन्तर्हि लेखना कहकर सल्लेखना के स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने मरणकाल में भली प्रकार से देह कृश करने को बाह्य सल्लेखना और कषायों के कृश करने को आन्तरिक-सल्लेखना कहा है। इसप्रकार सल्लेखना के दो भेद करके पुराणकार ने यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि व्रती मरणकाल में सल्लेखना धारण करके अपनी देह कितनी ही कृश क्यों न कर ले, यदि कषाय कृश नहीं हो सकी तो देह कृश करने का कोई लाभ नहीं है; क्योंकि कषायों के बने रहने से जीव कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो पाता और कर्मबन्धन से मुक्त हुए बिना

मुक्ति कहाँ? अतः देह कृश होने के साथ-साथ कषायों के कृश होने पर ही सल्लेखना का स्वरूप घटित होता है। पुराणकार ने 'रागादि' शब्द का प्रयोग करके कर्मबन्ध के कारणभूत राग-द्वेष और मोह तीनों की ओर संकेत किया है। उन्होंने सल्लेखना को इनकी अनुत्पत्ति का कारण कहा है। इस कथन से यह भावार्थ फलित होता है कि सल्लेखना में देह और कषायों को कृश करना तो अपेक्षित होता ही है, इन दोनों के साथ-साथ राग-द्वेष और मोह का कृश होना भी आवश्यक होता है।

इसप्रकार पूर्ण सल्लेखना की सार्थकता के लिए पुराणों में तीन बातें मुख्य मानी गयी हैं— 1. व्रतों की साधना करते हुए मरणान्तकाल में देह से ममत्व तोड़कर उसे कृश करना 2. कषायों के हेतु उपस्थित होने पर भी हृदय में समता और शान्ति भाव बनाये रखना और कषाय कृश करना 3. राग-द्वेष तथा मोहात्मक प्रवृत्तियों से निवृत्ति।

सल्लेखना मरण तीन प्रकार का बताया गया है— 1. भक्ताप्रत्याख्यान 2. इंगिनीमरण 3. प्रायोपगमन। इनमें दिन, मास, वर्ष आदि की प्रतिज्ञा लेकर जिसमें अन्न-पान ग्रहण को कम करते हुए शरीर छोड़ा जाता है, वह भक्ताप्रत्याख्यान मरण कहलाता है। इसका समय अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त का होता है। इसमें साधक अपने शरीर की सेवा स्वयं भी करता है और दूसरों से भी करा सकता है।

जिसमें साधक अपने शरीर की परिचर्या स्वयं करता है, दूसरों से नहीं कराता उसे इंगिनीमरण और जिसमें साधक अपने शरीर की न स्वयं परिचर्या करता है और न दूसरों से कराता है उसे प्रायोपगमन सल्लेखना कहते हैं।

पुराणों में सल्लेखना के तीसरे भेद प्रायोपगमन संन्यास के उल्लेख मिलते हैं। यह तीनों भेदों में उत्कृष्ट भेद है। इस संन्यास में तंपरस्वी साधु रत्नत्रय रूपी शय्या पर उपविष्ट होता है, बैठता है। पुराणकारों ने इस क्रिया में ऐसा किया जाने से इसे 'प्रायोपवेशन' नाम दिया है।⁵ इस संन्यास में अधिकतर रत्नत्रय की प्राप्ति होने से इसे 'प्रायेणोपगम' और इससे कर्मरूपी शत्रुओं का नाश होने से इसे 'प्रायेणोपगम' संज्ञाएँ भी दी गई हैं।⁶ प्रायोपगमन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पुराणों में बताया गया है कि इसमें प्रायः संसारी जीवों के रहने योग्य नगर ग्राम आदि त्याज्य होते हैं, किसी वन का आश्रय लिया जाता है। इसमें शरीर का न अपने द्वारा उपचार किया जाता और न दूसरों के द्वारा उपचार कराया जाता है। यहाँ तक कि उपचार की चाह भी नहीं रखी जाती। शरीर से ममत्व तोड़ दिया जाता है। शरीर से निराकुल रहा जाता है।⁷

पुराणों में व्रतियों मुनियों के सल्लेखनात्मक अंश के अध्ययन से विदित होता है कि सल्लेखना गुरु की साक्षी में ही ली जाती है। इसमें शरीर से ममता नहीं रखी जाती तथा वीर शय्या आसन में रहना होता है।⁸ सल्लेखना कराने वाले गुरु को पुराणों में 'निर्यापकाचार्य' कहा गया है।⁹ ऐसे आचार्य सल्लेखनाधारी व्रती को

सल्लेखना में स्थिर रखने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं।

आचार्य गृद्धपिच्छ¹⁰ (आचार्य उमास्वामी) और आचार्य समन्तभद्र¹¹ ने सल्लेखना को दूषित करने वाली जिन क्रियाओं का उल्लेख किया है उनका पुराणों में भी वर्णन मिलता है। पुराणों में इनके वे ही नाम दर्शाए गये हैं जिनका पूर्ववत् आचार्यों ने उल्लेख किया है। पुराणों में इन्हें अतिचार न कहकर मल (दोष) कहा गया है। ये पाँच बताये गये हैं। वे हैं— 1. जीविताशंसा 2. मरणाशंसा 3. निदान 4. सुखानुबन्ध 5. मित्रानुराग।¹²

पुराण-टीकाकार ने अतिचार अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि क्षपक का दीनचित्त होकर अधिक समय तक जीवित रहने की आकांक्षा—जीविताशंसा, पीड़ा से घबराकर जल्दी मरने की इच्छा—मरणाशंसा, आगामी भोगों की आकांक्षा—निदान, पहले भोगे हुए सुखों का स्मरण—सुखानुबन्ध और मित्रों से प्रेम—मित्रानुराग दोष कहलाता है।¹³ निर्यापकाचार्य इन दोषों का बहुत ध्यान रखते हैं। वे सल्लेखना लेने वाले व्रती को इन दोषों से सावधान रखते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि इन दोषों के अभाव में ही सल्लेखना सार्थक हो सकती है।

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पूर्वभव के जीव महाबल ने अवधिज्ञानी मुनि आदित्यगति से अपनी आयु का क्षय ज्ञात कर विधिपूर्वक संन्यास धारण किया था। गुरु की साक्षी में जीवन पर्यन्त आहार-जल का त्याग तथा शरीर से ममत्व छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी। मन्त्री स्वयंबुद्ध को निर्यापकाचार्य बनाकर शत्रु-मित्र में समताभाव धारण किया था।¹⁴ परीषह ही उनसे पराजित हुए थे, परीषह उन्हें अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत नहीं कर सके थे। उन्होंने लोकोत्तम सिद्ध परमेष्ठी को मस्तक पर और अरिहन्त परमेष्ठी को हृदय में धारण कर रखा था। उनके नेत्र मात्र परमात्मा को ही देखते थे। कान परम मन्त्र—णमोकार ही सुनते थे। जिह्वा परम मन्त्र का ही पाठ करती थी। ध्यानरूपी तेज से मोहरहित होकर उन्होंने निरन्तर बाईस दिन में सल्लेखना विधि सम्पन्न की थी। आयु के अन्त में अपना मन विशेष रूप से पंच परमेष्ठी में लगाया था। हस्तकमल जोड़कर ललाट पर स्थापित किये और मन ही मन नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए म्यान से तलवार के समान शरीर से जीव को पृथक् विचारते हुए उन्होंने स्वयंबुद्ध मन्त्री के समक्ष शान्तिपूर्वक प्राण छोड़े एवं ऐशान स्वर्ग प्राप्त किया। वहाँ वे श्रीप्रभ नामक विमान में उपपाद शैय्या पर ऋद्धिधारी ललितांग नामक उत्तम देव हुए।¹⁵

महाबल के इस उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य-देह पाकर उससे स्वहित करने में पीछे नहीं रहना चाहिए। मरण तो सुनिश्चित है और देह का छूटना भी। स्वयं छोड़ने और छूटने में बहुत अन्तर है। जिसका स्वयं त्याग किया जाता है उसमें हर्ष समाहित रहता है, जबकि परवशतावश छूटने में दुःख ही दुःख मिलता

है। जैसे स्वयं दान में दिये गये धन से सुख मिलता है और डाकू के भय से दिये गये धन से दुःख। ऐसे ही सहर्ष देह-परित्याग से स्वर्ग के सुख भी प्राप्त हो जाते हैं।

महाबल ने सल्लेखना लेकर अनेक कठिनाइयाँ आने पर भी जैसे उसका निर्वहन किया, ऐसे ही सल्लेखना लेकर उसमें स्थिर होना चाहिए। भेदविज्ञान इसके लिए आवश्यक है। उसके बिना देहगत ममत्व दूर नहीं होता। देह और आत्मा के पृथक्त्व में दृढ़ता रहने पर शारीरिक कष्ट दुःखदायी प्रतीत नहीं होते, क्योंकि देह के प्रति राग का अभाव हो जाता है। राग-द्वेष के न रहने से कषायें भी कृश हो जाती हैं। सल्लेखनापूर्वक मरण किसी राग-द्वेष या मोहवश नहीं किये जाने से उसे आत्मघात की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसमें प्रमाद नहीं रहता, जबकि आत्मघात में प्रमाद पाया जाता है। सल्लेखना में समय अधिक भी लग सकता है, पर धैर्य रखकर समताभाव बनाये रखना चाहिए।

अतः महाबल द्वारा अपनाई गयी सल्लेखना-विधि का अनुकरण करते हुए हम सबको नरतन पाकर आत्म-जागृत होकर सल्लेखनापूर्वक देह त्याग कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए। मुझे भी ऐसी ही बुद्धि प्राप्त हो- यही भावना भाता हूँ।
सन्दर्भ :-

1. पद्मपुराण, पर्व 14, श्लोक 199
2. वही, पर्व 14, श्लोक 203
3. वही, पर्व 14, श्लोक 204
4. हरिवंशपुराण, सर्ग 58, श्लोक 160-161
5. आदिपुराण : पर्व 5, श्लोक 234
6. वही, श्लोक 96
7. वही, श्लोक 97-98, तथा पर्व 5, श्लोक 234
8. वही, पर्व 5, श्लोक 230
9. आदिपुराण : पर्व 5, श्लोक 231
10. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7, सूत्र 37
11. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 8
12. हरिवंशपुराण : सर्ग 56, श्लोक 184
13. वही, पृष्ठ 679
14. वही, पर्व 5, श्लोक 226, 230-231
15. महापुराण, पर्व 5 ❖❖

तोहफा

यूनान का राजा सिकन्दर जब भारत-विजय की इच्छा से चला तो उसने अपने गुरु अरस्तू से पूछा- गुरुदेव ! आपके लिए भारत से क्या लाऊँ?

अरस्तू बोले- मेरे लिए वहाँ से ऐसे गुरु लाना जो मुझे आत्मज्ञान दे सकें।

गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते हुए राजा सिकन्दर भारत से दिगम्बर मुनि कल्याणजी को यूनान लेकर गये। यह उन्हीं की शिक्षा का फल था कि सिकन्दर ने अन्तिम समय में कहा था कि उसके हाथ कफ़न से बाहर रखे जायें, ताकि दुनिया वाले यह देख लें कि दुनिया से जाते समय कोई कुछ भी साथ लेकर नहीं जाता। इस पर एक कवि ने लिखा-

“सिकन्दर शहंशाह जाता, सभी हाली मवाली थे।

सभी थी साथ में दौलत, मगर दो हाथ खाली थे।।”

वीर मरण : कुछ विचार

✍ डॉ. निर्मलकुमार फड़कुले

संसार अनित्य है— यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ की हर वस्तु नष्ट होने वाली है। चक्रवर्ती बलवन्तों का बल और युवकों का यौवन यह सब काल के विशाल उदर में लुप्त होता है। जीवन को मृत्यु ने घेर लिया है इसीलिए कवि कालिदास ने लिखा है— मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम् विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः। जीवन को विकृति कहना यद्यपि अनुचित लगता है परन्तु यह उचित है। एक ऐसा क्षण प्रत्येक प्राणी के जीवन में अवश्य आता है कि वह क्षण उसको मृत्यु के सान्निध्य में ले जाता है। उसको रोकने की क्षमता किसी भी शक्तिमान व्यक्ति में नहीं होती। काल एवं मृत्यु सर्वजयी होती है। भर्तृहरि का यह श्लोक वैराग्यशतक, 34 सर्वप्रसिद्ध है—

“सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्।

पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिंबाननाः।।

उन्मत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बंदिनस्ताः कथाः।

सर्वं यस्य वशाद्गतास्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः।।”

कवि ने सर्वसमर्थ काल को अगतिक होकर वन्दन किया है। इस काल को जीतने की विद्या अथवा तत्त्वदृष्टि जैनदर्शन में है। सारा संसार मृत्यु से घबराता है। उससे दूर-दूर भागने की हरसम्भव कोशिश करता है, परन्तु जैन तत्त्वज्ञान में इस काल को पराभूत करने की रीति अन्तर्भूत है। जैनशास्त्रों का कथन है कि मृत्यु शरीर की होती है, न कि आत्मा की। आत्मतत्त्व अक्षय, अखण्ड है। प्रत्येक मनुष्य को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर तो मिट्टी है, कालप्रवाह में बह जाता है। मेरे भीतर एक जगमगाती आत्मज्योति है, यह कभी नहीं बुझती, इस ज्योति का प्रकाश अमर है, यह ज्योति उज्ज्वल करना मेरा धर्म है। चाहे मृत्यु मेरा शरीर ले जावे, मैं तो आत्मस्वरूप में अखण्ड आनन्द का अनुभव लेता रहूँगा। जैनदर्शन की यह दृष्टि अत्यन्त समुचित और वास्तव है। साक्षात् कालपुरुष को निर्भीक वृत्ति से ललकारना सुलभ नहीं है, परन्तु जैनधर्म की यह विशेषता है कि इसका तत्त्वज्ञान जन्म और मृत्यु को जीतनेवाला है। जन्म-मरण

का चक्रव्यूह भेदने की क्षमता केवल जैनदर्शन में निहित है। मृत्यु के प्रति हँसकर देखना, उसका शान्ति से स्वागत करना यह बात जैनधर्म में है। इस क्रिया को सल्लेखना अथवा समाधिमरण कहते हैं। आज स्वेच्छामरण शब्द प्रचलित है। स्वेच्छामरण के सम्बन्ध में बहुत चर्चा होती रहती है लेकिन सल्लेखना का स्वरूप वस्तुनिष्ठ दृष्टि से समझ लेना चाहिए। लोग स्थूल दृष्टि से देखते हैं और सल्लेखना को आत्मघात की रीति बताते हैं। यह उनका केवल अज्ञान है।

आत्मघात करनेवाला व्यक्ति क्या शान्त प्रसन्नचित्त से यह क्रिया कर सकता है? वह तो विकारवश, अशान्त एवं रुग्ण मनःस्थिति में रहता है। विफलता के कारण उसे जीवन त्यागने की तुरन्त इच्छा होती है। ऐसा मरण शान्ति और आनन्द का उदाहरण नहीं होता। अनेक विकार और वासनाओं का जंजाल जब मन में तीव्र अशान्ति उत्पन्न करता है, तब मृत्यु केवल दुःख और प्रक्षोभ का रूप बनकर ही आती है। सल्लेखना को जैनशास्त्र में मृत्यु-महोत्सव कहा है। क्या मृत्यु भी उत्सव की बात हो सकती है? शरीर के पिंजर से आत्मपक्षी का स्वतन्त्र होना—यह निश्चित ही उत्सव की घटना है। सल्लेखना आत्महत्या नहीं है। जो लोग सल्लेखना और आत्महत्या को एक ही समझते हैं। उनके अज्ञान पर टिप्पणी करने का प्रयास अनावश्यक है।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज सल्लेखना के सम्बन्ध में लिखते हैं—

जब पूर्ण वीतरागता का चरम उदय हो और शरीररूप परपदार्थ में भी बन्धन की अनुभूति होने लगे तब निर्ग्रन्थ मुनि और त्यागीजन सल्लेखना द्वारा संसार के बन्धन सूत्र को सदा के लिए तोड़ देते हैं। सल्लेखना मुक्तिदायक होती है। जीवन में सल्लेखना धारण करनेवाले मुनि को जीने की अभिलाषा नहीं होती। उनका सम्पूर्ण जीवन केवल धर्म का आचरण करने के लिए होता है। धर्म ही जीवन की आधारशिला होती है। जब धर्म का आचरण करने की क्षमता शरीर में नहीं रहती तब ऐसे शरीर का त्याग करना ही धर्म-कर्तव्य बन जाता है। आज तक असंख्य मुनियों ने सल्लेखनापूर्वक अपने देह का विसर्जन किया है। उन्होंने मृत्यु को स्वागतशील वृत्ति से आमन्त्रित किया।

महाराष्ट्र के एक सन्त तुकाराम ने अपने काव्य में लिखा है— मैंने मेरी मृत्यु अपने आँखों से देखी है। यह उत्सव अनुपम है। इतनी निरामय दृष्टि अपनी मृत्यु के प्रति रखना सचमुच में अवर्णनीय है। यह विशेषता सल्लेखना में होती है। आदर्श मृत्यु का यह चित्र कितना सुन्दर होता है। सल्लेखना धारण करनेवाले वीतरागी मुनीश्वर आत्मचिन्तन में निमग्न होते हैं और अपने शरीर का सम्बन्ध सहज भाव से छोड़ देते हैं और मुक्ति के पथ से अपनी यात्रा बढ़ाते हैं, यही महोत्सव है। परम आनन्द से देह का बन्धन छोड़ना और आत्मस्वरूप में विलीन होना— यह एक दिव्य अनुभूति होती है। समाधिमरण अथवा सल्लेखना तो मृत्यु

से साक्षात्कार करना है। देहविसर्जन की यह प्रक्रिया अर्थात् सल्लेखना केवल मुनियों के लिए साध्य होती है। सारा जीवन जिसने धर्ममार्ग में व्यतीत किया है— ऐसे धर्ममार्गी और ज्ञानमार्गी सल्लेखना धारण कर सकते हैं। साधारण मनुष्य अपने परिवार में, स्वार्थ में, अहर्निश डूबा रहता है। उसके मानसिक परिणाम विशुद्ध नहीं रहते। अशुद्ध भाव से उसको यह संसार छोड़ना पड़ता है। केवल अन्न और जल का त्याग करना समाधिमरण के लिए पर्याप्त नहीं। कषायरहित होना, आत्मस्वरूप में तल्लीन होना, विकल्परहित होना, प्रसन्नचित्त होकर आत्मध्यान करना सल्लेखना के लिए अत्यावश्यक होता है। सल्लेखना वीतरागता की कसौटी है।

—आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के उक्त वचन अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं। सरागी जीव समाधिमरण को प्राप्त नहीं कर सकता। निरासक्त होना, सम्पूर्णतया विराग होना अत्यावश्यक है। जैनतत्त्वदृष्टि मनुष्य को जन्म से ही यह पाठ सिखाती है। श्रावकों के अणुव्रतों में भी निर्विकार होने की एक प्रक्रिया अनुस्यूत है। धर्ममय जीवन कभी विकारोन्मुख नहीं होता। जब धर्म का पालन निर्विवाद रूप से नहीं हो सकता — ऐसी अवस्था में समाधिमरण की तैयारी करनी चाहिए।

समाधिमरण को वीरमरण कहा गया है। मरण भी तरह-तरह के होते हैं। कुछ लोग जीवित अवस्था में मृतवत् होते हैं। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में शेक्सपियर कहते हैं— *Cowards die many times before their death* कायर मनुष्य मरणपूर्व ही अनेक बार मरते हैं। अत्यन्त मार्मिक सुभाषित है। पग-पग पर मृत्यु से डरनेवाला अपना जीवन भी आनन्द से नहीं जी सकता। लेकिन जैन साधु सम्पूर्ण मोह, लोभ और अहंकार छोड़कर समाज को प्रबोधित करते रहते हैं। जीवन की अच्युता तथा सौन्दर्य उनके जीवन में दिखाई पड़ती है। जैसे वीरों का जीवन और वीरों का मरण समाज में कुछ शुभंकर विचार निर्माण करते हैं। पचास वर्ष पूर्व कुन्थलगिरि क्षेत्र में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी ने मृत्यु-महोत्सव का भव्य दर्शन प्रस्तुत किया। आयु हो चुकी थी, दृष्टि में मन्दता बढ़ने लगी। प्राणीसंयम का पालन करने में शरीर असमर्थ होने लगा। तब उन्होंने सल्लेखना धारण की। वे केवल अपने आत्मरूप में निमग्न हो गये। पाँच सप्ताह तक यह महोत्सव चलता रहा था। उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका था, फिर भी छब्बीसवें दिन उन्होंने सारे समाज को अपनी मंगल-वाणी से प्रबोधित किया। संयम और त्याग की नितान्त आवश्यकता का उन्होंने प्रतिपादन किया। पूज्य का यह अन्तिम प्रवचन सुनकर जनता मुग्ध हो गयी। पूज्य जी का प्रत्येक शब्द जैन तत्त्वज्ञान की सुधा से सुगन्धित था। अर्थपूर्ण एवं भावभरित शब्दों में उन्होंने जनसमूह को सच्चे जीवन की राह बताई। वे स्वयं मृत्यु के मार्ग पर थे, किन्तु अत्यन्त निराकुल मन से लोगों को धर्मजीवन का प्रकाश

उन्होंने दिया। यह अलौकिक कार्य कोई महावीर पुरुष ही कर सकता है। सल्लेखनाधारी मुनि का यह जीवनपूर्ण आविष्कार वीरता का सन्देश देता है। निर्भयतापूर्वक जीना सीखो और निर्भयतापूर्वक मरना सीखो। यही सन्देश मुनि-जीवन से मिलता है। मेरे स्मरण में आचार्यश्री शान्तिसागर जी का यह वीरमरण दृढ़ होकर बैठा है। सर्वसाधारण लोग ऐसी दिव्य मृत्यु का कभी अनुभव नहीं कर सकेंगे, उनका जीवित रहना भी नगण्य और मरण भी मूल्यहीन किन्तु सल्लेखना वीरमरण है, एक उज्ज्वल तरीका है। केवल भव्यजीव ही इस राह से चल सकते हैं। प्रसन्न जीवन और प्रशान्त मृत्यु की कामना होनी चाहिए। इसीलिए धर्म का मार्ग ही सर्वथा श्रेयस्कर है। मेरे जैसा साधारण मनुष्य प्रार्थना करेगा—

हे मुनिवर ! हे मृत्युंजयी आचार्य ! हे धर्म का प्रतिपादन करनेवाले ज्ञानर्षि ! हम जैसे साधारण लोगों को ऊपर उठाइये। आपका जीवन और आपका मरण हमें स्फुरणदायक हो। आप जैसी वीर सल्लेखना हम नहीं धारण कर सकते किन्तु जब मृत्यु हमारा द्वार खटखटायेगी तब निराकुल होकर उसका स्वागत करने की शक्ति आप ही हमें दे सकते हैं। आपका जीवन भी प्रमुदित करता है और आपका वीरमरण भी हमें रोमहर्षित करता है। सल्लेखना का महत्त्व और मौलिकता का अभ्यास हमें भी प्रेरित करे— यही एकमात्र प्रार्थना है। ❖❖

कब निज गुण चन्दन महकेगा ?

“कब निज रूप सजा पाऊँगा, कब निज गुण चन्दन महकेगा।
 कब जागेगा भेद-ज्ञान, कब समकित को सावन बरसेगा।।
 मोह महामद की अनजाने, जाने कब पी आँया प्याली।
 अपनाया मिथ्यात्व-मोह को, उजली चादर कर ली काली।।
 चिन्तामणि-सा रत्न पास है, लेकिन मेरी झोली खाली।
 समता के रस में अपना विष, घोल रही विषयों की ब्याली।।
 वीतराग-विज्ञान ज्योति से, कब मेरा आँगन दमकेगा।
 कब निज रूप सजा पाऊँगा, कब निज गुण चन्दन महकेगा।।
 छः द्रव्यों से भरे विश्व में, मैंने बस संसार बढ़ाया।
 पुण्य-पाप की परिभाषा में, ऐसा उलझा निकल न पाया।।
 सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित, शिव-मारग का पुरुषार्थ न आया।
 गृहीत और अगृहीत पाप ने तत्त्वज्ञान से विमुख बनाया।।
 कब निर्ग्रन्थ मुनीश्वर बन कर मेरा ये तन मन विचरेगा।
 कब निज रूप सजा पाऊँगा, कब निज गुण चन्दन महकेगा।।”

सल्लेखना : सार्वकालिक उपयुक्तता

डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे

प्रमादरहितों की निरन्तर जागृति

“स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।

त्वामार्य नक्तं दिवमप्रमत्तवान् अजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ 48 ॥”

—(स्वयम्भू स्तोत्र)

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान् शीतलनाथ की स्तुति करते हुए सामान्य लोगों और अध्यात्म मार्ग की उपासना करनेवाले असामान्य लोगों के दिनक्रम का मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। आम आदमी अपने जीवन और विषयसुखों की पूर्ति के लिए दिन भर कष्ट उठाता है, और कठोर परिश्रम करता है। कामसुख और विषयसुखों की पूर्ति के लिए वह पशुवत् परिश्रम करता है। आम आदमी दिनभर की थकावट से रात्रि समय में अपनी आत्मा को भूल जाता है और गहरी नींद में खोने लगता है परन्तु हे पुरुषोत्तम शीतल प्रभो ! आप प्रमादरहित हैं, आपने विषय वासनाओं का त्याग किया है, इसीलिए तो विशुद्ध आत्मस्वरूप में रात-दिन जागृत रहते हैं।

आचार्यश्री शान्तिसागर जी का सन्दर्भ

जिनका देह से लोभ समाप्त हो जाता है, उनके जीवनक्रम में सुखासीनता के लिए विकल्प नहीं होता और प्रमाद का भी कोई स्थान नहीं रहता। ज्ञान भावों की साधना जारी रहती है। दिन हो या रात उनकी आत्मा जागृत रहती है और वे उसी परमानन्द में, दिन-रात भगवान् की भक्ति में लीन रहते हैं। इस अर्थ से माना जा सकता है, कि अपने 84 वर्ष के जीवन में आचार्य शान्तिसागर जी सदैव आत्म जागृत रहे। विशेषरूप से दीक्षा प्राप्ति के पश्चात् पैंतीस वर्षों की अवधि में उन्होंने आत्मजागृति की निरन्तर उपासना की। उन्होंने स्वयं को विषयसुखों एवं विकल्पों से दूर रखा। अपनी आत्मस्वरूप भीतरी शक्ति में मग्न रहनेवाले आचार्यश्री उसके रक्षास्वाद का अनुभव करते समय शरीर के अस्तित्व को भुलाकर निरन्तर जागृत

रहे। शरीर की सहायता से आचार्यश्री ने शरीर के ही विविध अंग-प्रत्यंग और भावों को भुलाकर आत्मजागृति की। अब उनका शरीर थकने लगा था, इस शरीर को कभी-न-कभी त्यागना पड़ता है, परन्तु उसमें निवास करनेवाली आत्मा अजर-अमर होती है। इस दार्शनिक तत्त्व की जानकारी सभी को होती है। जैन धर्मावलम्बियों के लिए जीवन का अन्तिम क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। शरीर को कैसे त्याग जाता है, उसका त्याग किस तरह करें, इसका योगी-साधु समाज के सामने अन्तिम समय में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा को अलग करें। शरीर और आत्मा को अलग करने का एक प्रात्यक्षिक सल्लेखना के समय में घटित होता है। इसीलिए जैनशास्त्रों में सल्लेखना को तेरहवाँ सर्वोत्कृष्ट व्रत माना है। व्रतशिरोरत्न के बारे में कहा जाता है कि यह व्रतों के स्वर्णमन्दिर का रत्नों से परिपूर्ण शिखर है। अर्थात् सभी व्रतों में सल्लेखना व्रत सर्वश्रेष्ठ है।

सल्लेखना का स्वरूप

‘मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता’ मोक्षशास्त्र के व्रत प्रकरण में एक सूत्र है। धर्माज्ञा है कि मृत्यु समय में सल्लेखना सन्तोष के साथ धारण करनी चाहिए। जैनाचार्यों ने सल्लेखना पर स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विचार कर, कई ग्रन्थों का लेखन किया है। अन्तिम काल में सल्लेखना में मग्न साधक शरीर को यज्ञ बना कर कषाय विकारों की आहुति देकर आत्मा की आराधना करता है। इसीलिए सल्लेखना को भगवती आराधना भी कहा जाता है। अन्तिम काल में मोक्षमार्ग पर चलनेवाला साधक सल्लेखना का व्रत अपनाता ही है। आचार्य शान्तिसागर जी ने भी बिल्कुल सहज भाव से अन्तिम समय में सल्लेखना व्रत को स्वीकार किया था। वे स्वयं महाव्रती थे। उन्हें पता था कि जो निःशल्य होता है वही व्रती हो सकता है। वैसे देखें तो अहिंसा तथा अन्य पंच महाव्रत निःशल्य होकर ही आचरण में लाए जाते हैं। मायाचार, मिथ्यात्व और निदान (भावी भोगाकांक्षा) आदि का त्याग करना ही निःशल्य होना है। देह-भावना के अस्तित्व को छोड़ते जाना और विशुद्ध आत्मा की अनुभूति होना ही सच्ची निःशल्यता है। जब तक हृदय में माया, मिथ्यात्व और निदान हैं तब तक वे काँटे के समान चुभते रहते हैं। जीव निःशल्य और निर्द्वन्द्व नहीं रह सकता। उसके लिए विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति असम्भव होती है। उपर्युक्त (माया, मिथ्यात्व और निदान) दुःख स्व-स्वरूप की समाधि धारण करने में बाधक है। माया अर्थात् कुटिलता के भाव। मन-वचन-काय की विविध विकल्प अवस्था में माया बहुत बड़ा शल्य है। इसीलिए माया को त्यागे बिना निर्विकल्पता प्राप्त नहीं हो सकती और स्वत्व की अनुभूति भी नहीं की जा

सकती। निर्विकल्प स्वरूप के अमृतोपम आनन्द का आस्वाद लेने वाले साधक को भविष्यकालीन भवसम्बन्धी भोगाकांक्षा (निदान) के विचारों का प्रश्न ही कहाँ होता है? भविष्यकालीन भवसम्बन्ध में आशा-आकांक्षा ही निदान है। मरणोपरान्त क्या? यह सवाल जिसके मन में उपस्थित होता है क्या वह वर्तमान में निर्विकल्प रह सकता है? इसीलिए सल्लेखना की पवित्र आत्मसाधना के दौरान माया, मिथ्यात्व और निदान को सहजता के साथ त्यागा जाता है और आत्मतत्त्व की अनुभूति शुरू होती है।

मुक्तियात्रा के दौरान साधक अपने दिलो-दिमाग में यह तय करता है कि सभी कर्मफलों का त्याग कर विकल्पाश्रित सभी क्रियाओं की आसक्ति से ऊपर उठकर तन्मय मन से चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व की उपासना करे ताकि अनन्तकालीन भविष्य का सफर तय हो जाए। जैन आचार-धर्म का सार यही है कि प्रत्येक साधक सल्लेखना व्रत को स्वीकार कर अन्तिम समय में निर्विकल्प बने। जीवन में इस साधना क्षण में केवल आत्मा की आनन्द अनुभूति के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहता है। इसप्रकार की स्थिति को जो साधक प्राप्त कर सकता है, वही समाधिमरण कर सकता है।

यह संसार एक महार्णव के समान है। जीव को पुण्य से प्राप्त यह मनुष्य देह भवसागर को पार करने में नौका जैसी सहायक है। धैर्यमेरु जीव, ज्ञानी नाविक के समान इस नौका का प्रयोग कर संसाररूपी महोदधि से पार होता है। इस संसार को पार करनेवाले महर्षि सदासर्वदा के लिए वन्दनीय हो जाते हैं। ध्रुव तारे के समान मुक्ति का लक्ष्य आँखों के सामने रखते हुए अपने जीवन की नौका हाँकने वाले इन साधकों की योग्यता का कितना वर्णन करें? कन्नड़ भाषा में कहावत है—**शरणों की परीक्षा मरण में है** शरण अर्थात् साधु की परीक्षा मृत्यु के समय ही होती है। उनकी सत्त्वकसौटी या सत्त्वपरीक्षा की घड़ी भी वही होती है।

सल्लेखना का अर्थ पण्डित मरण या मृत्यु महोत्सव

प्रायः सभी जीव मृत्यु से डरते हैं। पराक्रमी धैर्यवान पुरुष हो या कोई भयग्रस्त मनुष्य हो, मृत्यु सबके लिए निश्चित है। इस संसार में आगमन के आनन्द को बिना समझे ही हम लोग जन्मते हैं और मृत्यु के समय भयभीत रहते हैं। इसीलिए यमराज पर विजय प्राप्त करनेवाले साधु सबके पूजनीय होते हैं। पशु के समान अज्ञानी रहकर मृत्यु के अधीन होने की अपेक्षा ज्ञानपूर्वक मृत्यु का स्वागत कर स्वत्व के साथ जीवनयात्रा की समाप्ति करना उत्कृष्ट मरण है। वह एक नियमबद्ध शास्त्र है। इसतरह का पण्डित मरण जीव के अगले कई जन्मों को नाश करता है। इसीलिए प्रजावंतों को ऐसी मृत्यु प्राप्त करनी चाहिए जिससे मरण भी सुमरण हो जाए।

‘तं मरणं मरियद्वं, जेण मओ सुम्मओ होई।’

‘निर्मय होकर प्राप्त किया गया ऐसा पण्डितमरण जन्म का सार्थक अन्त है और भविष्यकालीन जीवन का पवित्र पाथेय।’ यह शरीर धर्मसाधन और सदाचार के लिए प्राप्त होता है। शरीर का उचित उपयोग होने के पश्चात् शेष जीवन और देह का धर्म साधना के लिए उपयोग नहीं हो सकता। जब ऐसी स्थिति निर्माण होती है तब बड़ी प्रसन्नता के साथ इस देह का त्याग करना चाहिए। इसप्रकार के त्याग का एक अलग प्रकार का शास्त्र है। अपने भीतर स्थित चार कषायों— क्रोध, मान, माया, लोभ— को कृश करें। उससे आत्मा पवित्र बनती है। साथ ही भोजन का विधिपूर्वक त्याग करें, ताकि अपने आप शरीर कृश हो, जीर्ण-शीर्ण हो; यही सल्लेखना (सत्-विधिपूर्वक, लेखना-कृश करना) है। सल्लेखना में मायादि शल्य उतना ही कष्ट देते हैं जितना कष्ट घातक शस्त्र, जहूर, आसुरी शक्ति अथवा क्रोधित सर्प देता है। निर्विकल्प आत्मस्वरूप का लाभ और भविष्यकालीन भोग वासना का त्याग ही सच्ची निःसंगत्व की प्राप्ति है। इसी का दूसरा नाम सल्लेखना है। इस समय साधक की पूरी चर्या पर शुक्ल लेश्या की पवित्र उत्कृष्ट सद्भावना की उषा काल की किरणें फैलती हैं। मृत्यु के साथ चल रहे द्वन्द्व युद्ध में नियमित ध्यानाभ्यास कर चित्त पर अपना कब्जा करनेवाले ज्ञागृत वीर के समान यह साधक पराक्रम की बाजी लगाता है। अनेक शास्त्रों में इसे मृत्यु-महोत्सव भी कहा है। कवियों ने इसको ‘मुक्तिरमणी का विवाहोत्सव’ भी कहा है। इहपरलोक के किसी भी प्रकार की कामना का इस समय साधक के सामने विकल्प नहीं रहता। जीवन-मृत्यु, भौतिक सुख-दुःखों की इच्छा कब की समाप्त हो चुकी होती है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है

सल्लेखना से प्राप्त वीरमृत्यु को कभी-कभी अज्ञानवश आत्मघात या खुदखुशी मानने की एक भ्रमपूर्ण परिपाटी चली है; परन्तु सल्लेखना का अर्थ आत्मघात नहीं, इसके विपरीत आत्मप्राप्ति है। किसी भी कषाय के कारण या भय से अगर साधक मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है और स्वयं को भुलाकर उसे प्राप्त करता है तब उसे आत्मघात कहा जाएगा। भय के कारण कोई मृत्यु को स्वीकार करता है तो वह साधुत्व से भ्रष्ट हो गया कहना ही उचित है। सल्लेखना भय से प्राप्त मृत्यु नहीं है। जब तक शरीर को साधन मानकर जितना भी धर्मलाभ प्राप्त किया जा सकता है उतना करना चाहिए; परन्तु जब धर्मलाभ की अपेक्षा पाप बढ़ने की सम्भावनाएँ निर्माण होती हैं तब इस नश्वर कलेवर (देह) को बचाए क्यों रखें? इसीलिए ज्ञानीजन जीवन की चरम सीमा पर पहुँचकर पण्डितमरण का सहर्ष स्वागत करते हैं।

समाधि, सल्लेखना, वीरमृत्यु, मृत्यु महोत्सव आदि सब एकार्थवाचक शब्द हैं।

इस अवरथा में साधक सावधानी और खुशी के साथ मृत्यु का स्वागत करता है। शरीर नश्वर है और उसका सूखी पत्तियों के समान नष्ट होते जाना अटल बात है। वैसे देखें तो जन्म जितना सत्य है उतनी ही मृत्यु भी सत्य है। भोगासक्त बहिर्मुखी जीव जन्म का स्वागत मिठाइयाँ बाँटकर करते हैं परन्तु मृत्यु का नाम सुनते ही डर जाते हैं। यह जीव की अज्ञानता नहीं तो और क्या है? वस्तुतः जन्म, वृद्धि, परिपुष्टता और अन्त में नाश यह जीवसृष्टि के प्राणों की प्रकृति है। जीवन का अर्थ क्या है? इस देह का भरोसा कौन दे सकता है? फिर भी अज्ञानी जीवों द्वारा नित्य संकल्प-विकल्पों के बारे में सोचना जारी है, परन्तु इस चक्र को किसी एक जगह पर रोकना आवश्यक होता है।

‘आत्तसारेक्षुदाहेऽपि न हि शोचन्ति मानवाः।’

रस निकाले ईख की खोई जलाने पर कोई शोक नहीं करता है। एक बार वस्तु तत्त्व का आत्मसाक्षात्कार होने पर संकल्पों का परित्याग होता है। आत्मस्वरूप में स्थिरत्व आता है। ऐसा होने पर धीरे-धीरे विधिपूर्वक भोजन का त्याग करते हुए देह का विसर्जन होता है। इसी का आचार धर्म में सल्लेखना नाम है। अर्थात् इन सब प्रक्रियाओं में केवल देह-त्याग का महत्त्व नहीं है और प्रमुखता भी नहीं है। आत्मस्वरूप में अकंप (भयभीत हुए बिना) स्थिरत्व ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

सल्लेखना की सार्वकालिकता और सार्वजनिकता

सल्लेखना के सन्दर्भ में गहराई से सोचें और सार रूप में उसके अर्थ को स्पष्ट करें तो उसे सार्वकालिक और सार्वजनिकता की कसौटी पर आँका जाना उचित है। यह विचार प्राचीनकाल या किसी विशिष्ट धर्म को मानकर अस्वीकार करना विचार की हानि है। सल्लेखना का भूत, वर्तमान, भविष्य में महत्त्व रहेगा। दूसरी बात— इसकी पुष्टि वैदिक ग्रन्थों तथा अन्य धर्मीय ग्रन्थों से भी होती है, अर्थात् यह सार्वजनिक भी है। आत्मा अमर है और देह नश्वर है। नैतिकता, मानवता, सच्चा ज्ञान और आत्मसाक्षात्कार को यह तत्त्वज्ञान पुष्टि प्रदान करता है। सर्वधर्मसमभाव के धरातल पर उतरनेवाली यह सल्लेखना संकल्पना पंथ-धर्म को भूलने की बात करती है। इसकी सार्वकालिकता और व्यापकता अबाधित है। आचार्य विनोबा भावे ने इसी सल्लेखना (मृत्यु महोत्सव) से आत्मसाक्षात्कार किया है। सल्लेखना सनातन विचार है जिसे बीसवीं सदी के मध्य में आचार्यश्री शान्तिसागरजी ने सैद्धान्तिक आचार-धर्म-क्षेत्र में प्रभावी रूप से समाज में प्रस्थापित किया।



जैनेतर दर्शनों में सल्लेखना

डॉ. भागचन्द्र भास्कर

मृत्यु तीन प्रकार की हो सकती है— शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक मृत्यु को ही जैनधर्म में सल्लेखना कहा गया है। सल्लेखना श्रावक की तृतीय अवस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह विषय-वासनाओं से अनासक्त होकर शरीर को भी बन्धन रूप समझने लगता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समन्वित आचरण से उसका मन संसार से विरक्त हो जाता है। उस स्थिति में यदि शरीर और इन्द्रियाँ अपना काम करना बन्द कर देती हैं तो सम्यक् आचरण में बाधा उत्पन्न होती है और पराधीनता बढ़ती चली जाती है। इसलिए उससे मुक्त होने के लिए साधु अथवा श्रावक सल्लेखना (समाधिमरण), धारण करता है। आत्म साक्षात्कार के माध्यम से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक मृत्यु को स्वीकार किया गया है वैदिक, जैन, बौद्ध, चीनी, तिब्बती और जापानी पूर्वीय दर्शनों में उसका मूल उद्देश्य आत्मानुभूति या आत्मज्ञान प्राप्त करना रहा है और पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा से मुक्ति प्राप्त करना अथवा पुनर्जन्म प्राप्त करना रहा है।

सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायक शब्द हैं। सल्लेखना का उद्देश्य यही है कि साधक संसार परम्परा को दूर कर शाश्वत अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति करे। सल्लेखना जैसा कोई शब्द वैदिक संस्कृति में नहीं है। जैनधर्म में तो निर्विकारी साधु अथवा श्रावक के मरण को मृत्यु महोत्सव का रूप दिया गया है, जबकि अन्यत्र ऐसा कोई प्रसंग नहीं आता वस्तुतः समाधिमरण अन्तिम समय में आध्यात्मिक और पारलौकिक क्षेत्र में अपनी आत्मा को विशुद्धतम बनाने के लिए एक सुन्दर साधन है। वैदिक संस्कृति में प्रायोपवेशन, प्रायोपगमन जैसे कतिपय शब्द सल्लेखना के समानार्थक अवश्य मिलते हैं परन्तु उनमें वह विशुद्धता तथा सूक्ष्मता नहीं दिखाई देती। अधिक सम्भव यह है कि उस पर जैन संस्कृति का प्रभाव पड़ा होगा। बौद्ध संस्कृति में भी सल्लेखना से मिलता-जुलता कोई व्रत देखने में नहीं मिलता।

सल्लेखना अथवा समाधिमरण जैसा कोई व्रत वैदिक संस्कृति में यद्यपि उपलब्ध नहीं है पर नचिकेता और यम तथा अर्जुन और कृष्ण के बीच हुए वार्तालाप से आत्मसंमर्पण रूप भक्तियोग का रूप सामने अवश्य आता है। उपनिषद साहित्य में संसार (जन्म-मरण) विज्ञान का विकास हुआ है और अविद्या रूप कर्म के विनाश से मुक्ति प्राप्त की जाती है समाधि के माध्यम से। इससे अधिक कुछ नहीं मिलता। मृत्यु के बाद की क्रियाकाण्ड व्यवस्था में मन्त्रपूर्वक गंगाजल छिड़काना आदि कार्य इसकी परिधि के बाहर हैं।

बौद्धधर्म में मृत्यु के समय बौद्ध सूत्रों का पाठ किया जाता है और बाद में परित्राणकर साधुओं को आहार दान भी दिया जाता है। इस समय चीनी, तिब्बती और जैन बौद्धधर्म में भी लगभग यही रूप मिलता है।

मेसापोटामियां और मिस्र संस्कृति में मृत्यु के बाद ईश्वर रूप न्यायाधीश के सामने अपना पूरा लेखा-जोखा देना पड़ता है। हेब्रिक संस्कृति में मृत्यु की विशेष अवधारणा नहीं है क्योंकि वहाँ शरीर और आत्मा वापिस यथास्थान चले जाते हैं। उसे ईश्वर की सृष्टि का स्वाभाविक एक पवित्र भाग माना जाता है पर है वह पाप का फल। उसे मसीहा के सामने जाना पड़ता है।

क्रिश्चनिटी में आत्मा का पुनर्जन्म कुछ दूसरे रूप में है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उसमें पुनर्जन्म होता है जिसे Resurrection कहा जाता है। मरने के बाद आत्मा को स्वर्ग, नरक या विशुद्धि के लिए भेज दिया जाता है। मृत्यु के समय ईश्वर की प्रार्थना ही सबसे बड़ी शरण है।

इस्लाम में अल्लाह को ही एकमात्र ईश्वर माना गया है। मृत्यु के समय प्रार्थना की जाती है कि वह उसके सामने खड़ा रहे। वह अल्लाह से क्षमा याचना करता है और उससे पवित्र होने की प्रार्थना करता है और फिर अल्लाह में समाविष्ट हो जाता है। पुनर्जन्म यहाँ नहीं है। मरते समय कुरान का पाठ सुनता/पढ़ता है और पापों से मुक्त करने की प्रार्थना करता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो मृत्यु के समय सभी धर्मों में अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति व्यक्त की जाती है, स्तवन या सूत्रपाठ करके और कृत कार्यों का प्रायश्चित्त कर निरासक्ति पूर्वक जीवन का अन्तिम समय निकाला जाता है। इस प्रक्रिया में जैनधर्म की सल्लेखना का जो गहरा रूप हमारे सामने रहता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।

Euthanasia और सल्लेखना (Spiritual Death)

Euthanasia का अर्थ है Good death या dying well इसे विदेशों में Physician-assisted Suicide कहा जाता है। व्यक्ति एक लम्बी असहनीय बीमारी

से जब तंग हो जाता है तो वह चिकित्सक की सहायता से मृत्यु पाकर उससे मुक्त हो जाना चाहता है इसे Slippery Slope भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से आत्महत्या ही है जो सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से अनुचित और कानून के विरुद्ध है जीवन का यद्यपि यह एक स्वाभाविक परिणाम है, पर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क्या दूसरे के माध्यम से भी इस परिणाम को प्राप्त किया जा सकता है? यह एक यक्ष प्रश्न है जिस पर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और न्यायाधीश समुदाय में मतभेद खड़ा हुआ है।

आदिवासी जातियों में मृत्यु को स्वाभाविक न मानकर उसे शत्रु या भूत पिशाचों द्वारा दिया गया अपघात माना जाता है पर पूर्व और पाश्चात्य परम्परा में उसे स्वाभाविक ही कहा जाता है। ग्रीक दार्शनिकों ने तो मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है या नहीं, इस विषय पर भी काफी विचार किया है। Euthanasia शब्द ग्रीक eu से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है well और thanatos का तात्पर्य है मृत्यु। यदि शारीरिक और मानसिक बीमारी से रोगी अधिक परेशान हो जाता है तो वह न्यायालय में मृत्यु पाने के लिए निवेदन करता है। यदि न्यायालय उसे स्वीकार करता है तो न्यायाधीश रोगी को विष पिलाने स्वयं आता है।

अरिष्टोटल, प्लेटो और डिस्टानर ने आत्महत्या की निन्दा की है और स्वाभाविक मृत्यु को ही सही स्वीकार किया है। कदाचित् Sophocles पहला दार्शनिक है जिसने आत्महत्या को उचित माना है। रोम में उसे Summum Bonum माना जाता रहा, यदि उसका कारण बीमारी, उन्माद या अपमान हो, पर उसे सैनिकों, अपराधियों और दासों के लिए निषिद्ध माना है। लगभग तीसरी शती में ईसाई मत से प्रभावित नियोप्लाटोनिस्टो ने इसका विरोध किया और उसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त परिणाम माना। अगस्तायन ने पांचवीं शती में इसे छोटे कमांडमेंट Thou shalt not kill का विरोधक माना। तेरहवीं शती में Aquinas ने इसका यह कहकर समर्थन किया कि आत्महत्या करने वाला पश्चात्ताप (Repentance) से वंचित रह जाता है और स्वाभाविक मृत्यु से भी गलत आत्महत्या का विचार है। उन्होंने Summa theologica में आत्महत्या को पाप और कानूनन विरुद्ध कहा है। Renaissance ने यद्यपि इस परम्परा के विरोध में कुछ नहीं कहा, पर उस पर पुनर्विचार करने का वातावरण अवश्य बनाया। फलतः Thomas More ने Litopia में 1516 में और F. Bacon ने New Atlantis में 1926 में आत्महत्या के पक्ष में अपने तर्क दिये और उसे सही बता दिया। परन्तु 1757 में David Hume ने उन तर्कों का उत्तर देकर आत्महत्या को पुनः स्वीकार कर दिया।

19वीं शती में आत्महत्या पर वैज्ञानिक आधार से विचार किया जाने लगा।

1897 में Durkheim ने उसे सामाजिक अपराध कहकर उसके तीन कारण बताये—अहंकार, परोपकारिता और अपमान। Freud ने इसे भावात्मक उद्वेलन का कारण माना और स्वयं भी इसका शिकार हुआ। ओहियो में 1906 में अमेरिका ने आत्महत्या के पक्ष में बिल पास कराना चाहा, पर वह गिर गया। 1935 में ब्रिटेन में भी ऐसा ही बिल लाया गया, पर उसे मंजूरी नहीं मिल सकी। Johnson और Repouille को क्रमशः उनकी पत्नी और पुत्र को Mercy Killing करने पर दण्डित भी किया गया। हिटलर ने तो उसमें एक नया मोड़ ही ला दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में लगभग एक लाख लोगों को जातीय शुद्धिकरण के नाम पर नपुंसक बना दिया गया। जर्मनों ने लेथल गैस के माध्यम से 1939 में अपघातियों को मृत्यु के घाट उतार दिया। 1941 में तो अन्ततः उसके पक्ष में कानून भी बन गया। यह वस्तुतः एक प्रकार से सामूहिक वध ही था। इसे Euthanasia नहीं कहा जा सकता।

ब्रिटेन में Euthanasia Society की स्थापना हुई और Euthanasia के पक्ष में पुनः वातावरण बनाया गया। 1950 से 1969 तक लगातार ब्रिटेन और अमेरिका के इसके पक्ष में अनेक बार बिल रखे गये पर वे पास नहीं हो सके। Fleteher ने Euthanasia के पक्ष में जबर्दस्त तर्क प्रस्तुत किये। उसने Murder को Malice Aforethought कहा और Euthanasia को Mercy Aforethought कहकर उसे उचित ठहराया। जनमत कराकर भी इस पक्ष को मजबूत कराया गया केनेडा, ब्रिटेन और अमरीका में। इसके बाद Death with dignity bills भी लाये गये, पर Living will को कानूनी नहीं बनाया जा सका। अन्त में 1976 में केलिफोर्निया, अमेरिका में Right-to-die statue पास हो सका। नीदरलैण्ड आदि देशों ने भी इस पर विचार किया और Dutch Medical Council Voluntary Euthanasia को स्वीकृत किया। फिर भी विवाद शान्त नहीं हुआ। 1980 में Derek Humphry ने Hemlock Society बनाई, Let me die before I wake पुस्तक लिखी और Euthanasia Research of Guidance Organization Group ने तैयार किया। The world federation of right-to-die Societies भी बनाई गई पर उसे पूरी तरह कानूनी नहीं बनाया जा सकता। 1984 में नीदरलैण्ड ने कुछ शर्तों के आधार पर उसे स्वीकार कर लिया।

अमेरिका में इसे कानूनी जामा पहनाने का बड़ा प्रयत्न हुआ, पर सफलता नहीं मिल सकी। 1970 में सुप्रीम कोर्ट ने Right to Refuse Medical Treatment Constitution पास किया। Dr. Jack Kevorkian के अथक प्रयत्न से The Oregon Death with Dignity Act पास हुआ 1994 में, पर उसे 1997 में रद्द कर दिया गया और Physician-Assisted Suicide को गैर कानूनी माना गया। आज

भी उसे पूरी तरह वैधानिक रूप नहीं मिल सका। ब्रिटेन में फरवरी 14, 2003 को षड्वर्षीय Cloned Sheep Dolly को फेफड़ों में खराबी आ जाने के कारण Euthanized Death से समाप्त कर दिया गया। इसका तात्पर्य यही है कि अब असहनीय और ला-इलाज हो जाने पर करुणा के आधार पर प्राणी को मृत्यु का वरण कराया जा सकता है। महात्मा गांधी ने भी एक बछड़े को इसी आधार पर मारने की आज्ञा दी थी जिसकी काफी आलोचना की गई थी।

आत्महत्या (Suicide) को वैधानिक स्वीकृति न मिलने की पृष्ठभूमि में मूल भावना यह है कि व्यक्ति का समाज के प्रति एक विशिष्ट कर्तव्य हुआ करता है जो आत्महत्या से पतित हो जाता है। व्यक्ति पर समाज का अधिकार होता है। वह व्यक्ति को मारने में सहयोग नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में आत्महत्या को ईश्वर के विपरीत माना गया। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे स्वीकारा जा सकता है, पर वैधानिकता नहीं दी जा सकती। इनके अतिरिक्त आत्मस्वातन्त्र्य, कारुणिक मृत्यु, चिकित्सक की सहायता से प्राप्त मृत्यु आदि तर्कों ने भी जीवन की गुणवत्ता को कम नहीं किया। उसे अपराध की श्रेणी से मुक्त नहीं किया जा सका। नैतिकता की दृष्टि से भी इसे उचित नहीं कहा जा सका। ईसाई, इस्लाम, वैदिक, जैन, बौद्ध आदि कोई भी धर्म आत्महत्या की स्वीकृति नहीं देता।

भारतीय संविधान में भी आत्महत्या को किसी भी स्थिति में वैधानिक नहीं माना गया। उसका Article 21 और Section 309 स्पष्ट रूप से आत्महत्या को गैरकानूनी मानता है। धारा 14 और 306 भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

इसके बावजूद सती प्रथा सदियों से प्रचलित रही ही है। वैदिक धर्म यद्यपि आत्महत्या के पक्ष में नहीं है, फिर भी जहाँ कहीं वह उदारता के पक्ष में भी दिखाई देता है। जैनधर्म में इस उदारता को सल्लेखना का रूप दिया गया है। शारीरिक अक्षमता और रोग की गम्भीरता जब गहरी हो जाती है तो पूर्ण निरासक्त होकर, अहिंसक भाव से धार्मिक आराधना करते हुए व्यक्ति को जीवन-मुक्त होने को वैधानिक मानता है जैन धर्म। संविधान में भी इस प्रकार की धार्मिक मृत्यु को असंवैधानिक नहीं बताया गया। अमर उजाला, आगरा, अंक 2 अगस्त 2004 में श्री गुलाबचन्द के प्रकरण का सन्दर्भ प्रकाशित हुआ था और उस समय भी इस विषय पर काफी मन्थन हुआ। समान अधिकार और जीने का अधिकार के सन्दर्भ में 1974 में सर्वोच्च न्यायालय ने मरने के अधिकार को भी स्वीकार किया पर इस परिधि से आत्महत्या जैसा जघन्य अपराध बाहर रहा। इससे स्पष्ट है कि सल्लेखना एक आध्यात्मिक मृत्यु का वरण है, जबकि इच्छा मृत्यु या आत्महत्या एक अपराध है।



सिद्ध नाम सत्य है

✍ मिश्रीलाल जैन

आगे-आगे अपनी ही अरथी के मैं गाता चलूँ
सिद्ध नाम सत्य है, अरिहन्त नाम सत्य है।

पीछे-पीछे दूर तक दिख रही जो भीड़ है,
पंछी शाख से उड़ा खाली पड़ा नीड़ है।
सृष्टि सारी देख ले पर्याय ही अनित्य है, सिद्ध नाम सत्य है.....

जिनको मेरे सुख-दुःखों से, कुछ नहीं था वास्ता,
उनके ही कन्धों पर मेरा, कट रहा है रास्ता।
आँख जब मुँदी तो कोई शत्रु है न मित्र है, सिद्ध नाम सत्य है.....

डोरियों से मैं नहीं बंधा मेरा संस्कार था,
एक कफन पर ही मेरा रह गया अधिकार था।
तुम उसे उतारने जा रहे, यह सत्य है, सिद्ध नाम सत्य है.....

उनके अनुराग को आज ये क्या हो गया,
जिस क्षण चिता पर चढ़ा महान कैसे हो गया।
जो अनित्य वो ही नित्य, नित्य ही अनित्य है, सिद्ध नाम सत्य है.....

मैं अरूपी गंध दूर उड़ गई थी फूल से,
लहर थी, चली गई दूर मृत्यु कूल से।
सत्य देख हँस रहा, कि जल रहा असत्य है, सिद्ध नाम सत्य है.....

मैं तुम्हारे वंश से भटका हुआ हूँ देवता,
आत्मतत्त्व छोड़कर मैं जगत को देखता।
ये अनादि काल की, भूल का ही कृत्य है, सिद्ध नाम सत्य है.....



मरण : एक निश्चित स्थिति

डॉ. सुरेश चन्द्र जै

भारतीय दार्शनिक परम्परा में जीवन-मरण और पुनर्जन्म को आधार बनाकर चिन्तन की प्रक्रिया सतत प्रवाहमान रही है। जीवन और मरण दोनों को निश्चित मानकर ही जीवन जीने की विधि विकसित हुई और इसी बिन्दु को केन्द्र में रखकर विभिन्न धर्मों का अभ्युदय हुआ है। यों कहा जाय कि मरणाश्रित जीवन ही शाश्वत सत्य है, सम्भवतः इसीलिए अन्तिम यात्रा के समय 'राम नाम सत्य है' या 'अरिहन्त नाम सत्य है' का उच्चारण कर जीवन जीने वाले को बोध कराया जाता है कि एक न एक दिन सबकी यही स्थिति होने वाली है। महाभारत में एक प्रसंग है— अज्ञातवास के समय तृषातुर होकर युधिष्ठिर ने भाइयों को जल की खोज करने भेजा तो जंगल में एक सरोवर तट पर यक्ष ने सभी से प्रश्न पूछे और उचित उत्तर न मिलने पर सबको अचेत कर दिया। अन्त में युधिष्ठिर स्वयं भाइयों को तलाशते हुए उस सरोवर-तट पर पहुँचे तो यक्ष ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उसमें एक प्रश्न यह भी था कि इस जगत का आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने कहा— संसार में सभी मरणशील हैं, फिर भी जीने की आकांक्षा से मनुष्य स्वयं को मरणरहित मानकर प्रवृत्ति करता है।

श्रमण-परम्परा में मरण के विषय में व्यापक ऊहापोह किया गया है। मरण को दार्शनिक पृष्ठभूमि में एक पर्याय का विनाश माना गया है तो दूसरी का उत्पाद और जब तक सांसारिक जीवन है तब तक यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। नई पर्याय का उत्पाद, पुरानी का विनाश, परन्तु शाश्वत आत्मा का विनाश नहीं होता। पर्याय को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् न मानकर उसे सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् बनाने की प्रक्रिया का निरूपण करना जैन धर्म-दर्शन का अभिधेय रहा है।

मरण के सन्दर्भ में शास्त्रीय विश्लेषण करते हुए जैन वाङ्मय में मुख्यतः तद्भव मरण और नित्यमरण, बाल मरण, पण्डित मरण आदि की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

सामान्यतः आयुक्षय को मरण का कारण माना जाता है। प्रतिक्षण आयु आदि प्राणों का निरन्तर क्षय होते रहना नित्य मरण है। नूतन शरीर धारण करने के लिए पूर्वपर्याय का नष्ट होना तद्भव मरण कहा गया है। 'जातस्य मरणं ध्रुवम्' की

अवधारणा तो अनुभवगम्य है ही, परन्तु उस जन्म या पर्याय को किस प्रकार ऊर्ध्वगामी दिशा प्रदान की जाय, जिससे जीव जो तत्त्वतः अविनाशी-ध्रुव और चैतन्य स्वरूप है वह जीवन-मरण से मुक्त हो जाय, यही जैनधर्म-दर्शन का प्रतिपाद्य और जीवन की चर्या बन गई, जिसका निरूपण श्रावकाचार और श्रमणाचार में पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है।

श्रावक के प्रथम कर्तव्य देवपूजा में नित्यप्रति यह भावना भायी जाती है—
बोहिलाहो सुगईगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

इसी प्रकार मुनिचर्या का परम ध्येय भी बोधिलाभ एवं समाधिमरण है।

भगवती-आराधना में मुख्यतः पाँच प्रकार के मरण का उल्लेख है— 1. पण्डितपण्डित मरण 2. पण्डित मरण 3. बालपण्डित मरण 4. बालमरण 5. बालबालमरण। उत्तरभेद के रूप में बालमरण के चार भेद तथा बालबालमरण के पाँच भेदों का निरूपण है। इसीप्रकार जहाँ पण्डित मरण प्रायोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान और इंगिनीमरण के रूप में विभक्त है ती भक्त प्रत्याख्यान मरण — सविचार और अविचार के रूप में व्याख्यायित है। अविचार भक्तप्रत्याख्यान को भी निरुद्ध, निरुद्धतर और परमनिरुद्ध रूप में विभक्त किया है। निरुद्धाविचार भक्त प्रत्याख्यान प्रकाश रूप तथा अप्रकाश रूप से उल्लेखित हैं।

- पण्डित पण्डित मरण — क्षीण कषाय केवली भगवान् का मरण पण्डित-पण्डित मरण कहा गया है।^१
- पण्डित मरण — चारित्रवान् मुनियों का मरण पण्डित मरण कहलाता है।
- बाल पण्डित मरण — संयमासंयमी (विरताविरत) जीव के मरण को बालपण्डित मरण संज्ञा से अभिहित किया गया है।
- बालमरण — अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बालमरण कहते हैं अथवा रत्नत्रय रहित समाधिमरण के बिना मरण होना बाल मरण है।
- बाल-बालमरण — मिथ्यादृष्टि का मरण बाल-बालमरण है।

श्रमण-परम्परा में मरण के भेदोपभेद का कथन करने का यही अभिप्राय है कि दुर्लभ मनुष्य पर्याय को कैसे सार्थक बनाया जाय। सिद्धान्त एवं अध्यात्म ग्रन्थों, चारों अनुयोगों का प्रतिपाद्य विषय आत्मकल्याण की ओर जीव की प्रवृत्ति को उत्प्रेरित करना रहा है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र) का कथन इसी परिप्रेक्ष्य में है। मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है, परन्तु इसके विपरीत जीव और शरीराश्रित मन, वचन आदि की एकरूपता का श्रद्धान मिथ्यादर्शन अथवा बहिरात्मा रूप से जाना जाता है। शरीर जो जड़ एवं पुद्गल वर्गणाओं का समूह है और अचेतन धर्मी होने के कारण

वह कभी चेतनधर्मी नहीं हो सकता। द्रव्यमन हृदय स्थान में आठ पाखुड़ी के कमलाकार रूप में है तथा अतिसूक्ष्म वर्गणाओं से निर्मित है। भावमन कर्मों के क्षयोपशम के अधीन है। सामान्यतः कर्मों का विभाजन द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा भावकर्म के रूप में किया गया है। उनमें से ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म – कार्माण वर्गणाओं से रचित हैं। कार्माण वर्गणाओं से निमित्त औदारिक – वैक्रियिक, आहारक, तैजस शरीर रूप नो कर्म हैं तथा राग, द्वेष आदि आदि आत्म के वैभाविक परिणाम (भावकर्म) हैं।

उपर्युक्त तीन कर्मों से भिन्न आत्मा का परिचय प्राप्त कर मूलसिक, वाचिक और कायिक तथा विभाव-भावों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कहलाता है। जो अन्तरात्मा भेद-विज्ञान के माध्यम से निरन्तर स्वभाव की रक्षा करने में प्रवृत्त होता है वही क्रमशः परमात्म पद को प्राप्त हो सकता है। प्रकारान्तर से अन्तरात्मा का चिन्तन और व्यवहार परमात्म पद की प्राप्ति में साधन बन जाता है।

सम्यग्बोधि का अभिप्राय भी यही है— बारह भावना में इस यथार्थ बोध के लिए भावना भाने की प्रेरणा की गई है।

“धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।

दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।।” —कवि भृशरदास

जीवन की सार्थकता ज्ञानार्जन में और ज्ञान की सार्थकता सद्दिवेक पूर्ण आचरण में निहित है। धर्ममार्ग का अभिधेय एक मात्र यही है कि किसी भी तरह सद्दिवेक पूर्ण आचरण हो। अज्ञानी का आचरण विवेक शून्य होता है। पशु और मनुष्य पर्याय में अन्तर भी यही है। यदि इस अन्तर की प्रतीति न हो तो मनुष्य का जीवन-व्यवहार पशु तुल्य है। इन्द्रिय-विषय-व्यापारनिष्ठ मनुष्य का जीवन ऐहिक और दैहिक पूर्ति के निमित्त होता है और आत्मनिष्ठ व्यक्ति का जीवन उत्तरोत्तर आत्मगुणों की सम्प्राप्ति की ओर ऊर्ध्वगामी होता है। इसीलिए अन्तरात्मा देह को भिन्न मानता हुआ गृहवास न छोड़ते हुए भी अनासक्तिपूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करता है। ‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ को दृष्टि में रखकर आवश्यक आहार-पानी देता है। अन्तरात्मा की चिन्तन की दिशा ही बदल जाती है। उसका चिन्तन कुछ इस प्रकार होता है— 84 लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ तद् तद् पर्यायों में जन्मा और मरा। ज्ञानबुद्धि जागृत नहीं हुई। तीव्र मिथ्यात्व के सद्भाव में क्रोध-मान-माया-लोभ से जीवन व्यतीत किया। यह मेरा अज्ञान था जिसके कारण जो आत्मलाभ प्राप्ता होना चाहिए था वह न हुआ। जब मनुष्य पर्याय में ज्ञान को प्राप्त कर तदनुकूल आचरण से आत्म लाभ हो सकता है — अन्यथा जिस तरह बलदेव बुद्धिभ्रम और मोहापन्न होकर नारायण के मृत शरीर-की सेवा-सुश्रूषा

करते हैं और शरीर में कोई चेष्टा न होने पर अत्यन्त दुःखी होते हैं। जब बोध होता है तो अपनी करनी पर पश्चाताप करते हैं। अन्तरात्मा दृष्टि सम्पन्न का भी ऐसा ही चिन्तन होता है। मरणशील शरीर के प्रति उसकी यही दृष्टि बनती है। इसीलिए ऐसा जीव मरण को समीप जान कर यथायोग्य समय में समाधि या सल्लेखनापूर्वक मरण की तैयारी में जुट जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने सल्लेखना धारण की अवस्थाओं का दिग्दर्शन करते हुए लिखा है कि उपसर्ग, दुर्भिक्ष वृद्धावस्था अथवा असाध्य रुग्णावस्था की स्थितियों के उपस्थित होने पर आत्म धर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

वस्तुतः मनुष्य जन्म की सफलता ऐहिक भोग सम्पदा में नहीं होती। इस बात का ज्ञान अणुव्रती सदगृहस्थ को होता है। अतः उपर्युक्त अवस्था के उत्पन्न होने पर वह आत्मकल्याणार्थ सांसारिक चक्रव्यूह से स्वयं को निकालने का सार्थक प्रयत्न करने की ओर अग्रसर होता है।

सल्लेखना के वास्तविक निहितार्थ को न समझते हुए ही इसे आत्महत्या कहा जाता है। जबकि आत्म हत्या में संक्लेश परिणामों की प्रमुखता होती है और उन परिणामों के प्रतिकार के रूप में आत्म हत्या जैसी प्रवृत्ति पनपती है। ठीक इसके विपरीत निरन्तर सद्विवेकपूर्वक जीवन यापन करते हुए शारीरिक नियति को देखकर विधिवत् सल्लेखना धारण की जाती है। देह के निमित्त भोग-उपभोग की सीमाओं को क्रमशः ह्रासोन्मुख बनाते हुए आत्म जागरण का निरन्तर अभ्यास करते हुए देह का विसर्जन किया जाता है। सल्लेखनापूर्वक मरण करनेवाला मुमुक्षु साधक मृत्यु का आलिंगन करता है। देह छूटने की व्यग्रता समाप्त हो जाती है। कविहृदय मिश्रीलाल जैन ने इसका सटीक चित्रण किया है—

“आगे-आगे अपनी अरथी के मैं गाता चलूँ।

सिद्ध नाम सत्य है, अरिहन्त नाम सत्य है।।”

निष्कर्षतः जब मरण होना निश्चित है तो उसको सहजता से स्वीकार करते हुए मुक्ति का प्रयास करना ही तो सद्विवेक का तकाजा है। इसीलिए बिरले धीर-वीर व्यक्ति ही इसे मृत्यु महोत्सव का उपक्रम कर पाते हैं।

सन्दर्भ

1. तत्र नित्यगणनं समयसमये स्वायुसादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्य-
नन्तरोपरिनिष्ठं पूर्वभक्तियोगलभम्। —राजवार्तिक, 7/22/2
2. षडिदं षडिदमरणं षडिदमरणं षडिदयं बालषडिदं चैव।
बालमरणं वरत्थं पंचमयं बालबालं च।। —भगवती आराधना 26
3. षडिदं षडिदमरणं शीणकशाया मरति केवलिणो। —भगवती आराधना 27



सल्लेखना क्यों? और कब?

डॉ. कपूरचन्द जैन

‘जातस्य ही ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च’ तथा ‘मरणं प्रकृतिः शरीरीणाम्’ अर्थात् जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्यम्भावी है तथा मृत्यु देहधारियों का स्वभाव है। ऐसी कहावतें भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही हैं। वस्तुतः ये कहावतें न होकर जीवन की सच्चाई को प्रत्यक्ष दिखाने वाले वाक्य हैं। क्या कोई सदा इस पृथ्वी पर रह सका है? सचमुच दुनिया एक रंगमंच है जहाँ जीवरूपी पात्र आता है और अपना अभिनय करके चला जाता है। परन्तु क्या आवागमन/परिभ्रमण की यह सरणि सदा चलती रहेगी, जीव यों ही आता-जाता रहेगा, फिर जन्म, फिर मृत्यु, इस जीवन का कोई अन्त है? इस जीवन से छुटकारा है? सुख-दुःख की इस परम्परा का कोई अन्त है? कोई नाश है, कोई स्थान ऐसा है जहाँ से लौटकर नहीं आना है? शाश्वत/अविनाशी पद है कोई? यह चिन्तन भी भारतीय और केवल भारतीय रहा है।

अन्य धर्मों, दर्शनों ने मृत्यु को भय की संज्ञा दी है, किन्तु जैनदर्शन ने मृत्यु भी एक कला बताई है। उसे भी एक महोत्सव कहा है। सुनने में यह भले ही अटपटा लगे, किन्तु है सत्य। जैसे हम किसी उत्सव की पूर्व से ही तैयारी/योजना में लग जाते हैं, वैसे ही मृत्यु की तैयारी भी यथासमय प्रारम्भ कर देनी चाहिए। मृत्यु महोत्सव और इसकी तैयारी को हम सल्लेखना कह सकते हैं।

यह बात भी विचारणीय है कि यदि हम मृत्यु से भय करें, मृत्यु के समय नाना प्रकार के क्रन्दन/रुदन/आक्रोश/अश्रुपात आदि करें तो क्या मृत्यु हमें छोड़ देगी? नहीं, उल्टे परिणाम निरन्तर खोटे होते जायेंगे, भय से भय बढ़ता जायेगा और अशुभ कर्मों का निरन्तर आस्रव। बन्ध होने से आगे की गति बिगड़ जायेगी, फिर क्यों न हम समतापूर्वक देह का विसर्जन करें। जैसे देह का अर्जन — शृंगार किया उसी प्रकार विसर्जन करने में दुःख कैसा? हम एक शरीर पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय में ही तो जा रहे हैं, और दिगम्बर अवस्था में यदि समाधिमरण हो रहा है तो फिर तो सम्भव है इस जन्म-मरण की परम्परा से ही छुटकारा पा रहे हों।

जैन संस्कृति में श्रावकों की उस आचार संहिता का वर्णन है जिस पर चलते हुए वह शनैः शनैः मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता है और अन्त में दिगम्बर मुद्रा धारण कर मुक्तिवधू का वरण करता है। श्रीमद् भागवत् में कहा गया है कि ऋषभदेव ने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिए अवतार लिया था। जैन श्रावकों की आचार-संहिता में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके साथ ही एक तेरहवाँ व्रत है जिसे 'व्रतराज' कहा गया है और वह है 'सल्लेखना'। श्रावक जीवन भर इस व्रत की तैयारी करे, ऐसा आचार्यों का मत है। सल्लेखना मरणपर्यन्त ली जाती है, इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने इसे 'मारणान्तिकी' कहा है—

‘मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता’ —तत्त्वार्थसूत्र 7/22

लोक में यह कहावत भी प्रचलित है कि अन्त भला सो सब भला। यदि अन्त बिगड़ गया तो अनन्त संसार में परिभ्रमण निश्चित ही है। नीतिकारों ने कहा है—

“विराद्धे मरणे देव दुर्गतिदूरचोदिता।

अनन्तश्चापि संसारः पुनरप्यागमिष्यति।।”

सल्लेखना में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है काय और कषाय को कृश करना। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है— अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।

प्रश्न है— क्या इस काय और कषाय को एकदम कृश किया जा सकता है? नहीं। इसके लिए काफी समय पहले से तैयारी करनी होगी। साधक आहारादि का त्याग करते हुए काय को और परिणामों में शान्ति लाते हुए कषायों को कृश करता है। आचार्यों ने संवेग और वैराग्य भाव जगाने के लिए पुनः पुनः संसार की असारता तथा शरीर के स्वभाव का चिन्तन करने का उपदेश दिया है। यथा—

‘जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।’ —तत्त्वार्थसूत्र 7/12

द्वादश अनुप्रेक्षाओं का पुनः पुनः चिन्तन निश्चय ही संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न कराने वाला है। अतः उसका चिन्तन साधक ही नहीं, सामान्य जनो को भी सदैव करना चाहिए। हमारे आचार्यों ने सल्लेखना की इस तैयारी के लिए 12 वर्ष का समय बताया है जिसे नियम सल्लेखना कहते हैं। कहीं-कहीं सल्लेखना और समाधिमरण को एक कहा गया है, किन्तु कहीं-कहीं दोनों में सूक्ष्म अन्तर बताया गया है। आचार्यों ने सभी व्रतों का फल सल्लेखना बताया है।

“अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।

तस्माद्यावद्धिभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।” —आ. समन्तभद्र

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा सल्लेखना के माहात्म्य को प्रकट किया है। अनेक प्रकार के रत्न आदि का व्यापार करने वाला व्यापारी नहीं चाहता कि उसका गृह नष्ट हो किन्तु कदाचित् उसके विनाश का कारण उपस्थित हो जाय, तो उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है, किन्तु जब रक्षा का उपाय सफल नहीं होता तब घर में रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थों को निकाल लेता है और घर को अपनी आँखों के सामने नष्ट होते देखता है। इसी प्रकार व्रत, शील आदि गुणों का अर्जन करनेवाले श्रावक और साधु उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की रक्षा पोषक आहार औषधि आदि के द्वारा करते हैं उसका नाश उन्हें इष्ट नहीं है। यदि शरीर में असाध्य रोग आदि उपस्थित हो जायँ तो वे उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करते हैं और जब उनका दूर होना अशक्य मालूम पड़ता है तब सल्लेखना द्वारा अपने आत्मगुणों की रक्षा करते हैं और शरीर नष्ट होने देते हैं।

तथा— सल्लेखना कब धारण की जाए? यह सबसे महत्त्वपूर्ण और सामयिक प्रश्न है। क्या भले-चंगे, हृष्ट-पुष्ट, सन्मार्ग प्रसार में रत, नीरोग, अल्परोगी, सुखी व्यक्ति को सल्लेखना ले लेना चाहिए? नहीं। यदि ऐसी सल्लेखना ली जाती है तो वह उचित नहीं। इसीलिए जैनाचार्य सल्लेखना लेने के काल/समय परिस्थितियों के सम्बन्ध में चौकन्ने रहे हैं और लगभग सभी आचार्यों ने सल्लेखना की विधि आदि के साथ सल्लेखना—काल का उल्लेख/निर्देश किया है। आचार्य समन्तभद्र के मत में यदि ऐसा उपसर्ग या दुर्भिक्ष आ जाय, जिसका प्रतीकार सम्भव न हो, ऐसा बुढ़ापा आ जाय कि धार्मिक क्रियायें भलीभाँति सम्पन्न न हो सकें और ऐसा रोग हो जिसका कोई उपचार सम्भव न हो तब व्यक्ति को चाहिए कि धर्मभावना पूर्वक शरीर का विसर्जन करे, यही सल्लेखना है।

मूलाराधना में भी इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुए कहा गया है— जिसका कोई प्रतिकार न हो ऐसा असाध्य रोग उपस्थित होने पर, रूप, बल, बुद्धि विवेकादि गुणों का नाश करनेवाली वृद्धावस्था आ जाने पर, देव, मनुष्य अथवा तिर्यच आदि द्वारा आकस्मिक उपसर्ग आ जाने पर, चक्षु कर्म, इन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाने पर, भविष्य में समाधि कराने वाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे— ऐसा भय उत्पन्न हो जाने पर साधु को सल्लेखना धारण करना चाहिए। आचार्य सकलकीर्ति ने 'समाधि-मरणोत्साहदीपक' में लिखा है कि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होने पर, अतिवृद्धता, उपसर्ग एवं व्रतक्षय के कारण उपस्थित होने पर, महान् दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य और तीव्र रोग आ जाने पर, जंघाबल (कायबल) क्षीण हो जाने पर धर्मध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर, विद्वानों को चाहिए कि मोक्षप्राप्ति के लिए समाधिमरण करें।

आज पंचमकाल में उत्तम संहनन नहीं होते, अतः इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यास की प्राप्ति अति दुर्लभ है, मात्र भक्तप्रत्याख्यान साध्य है। आचार्यों ने इसका उत्कृष्ट काल 12 वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। मध्यमकाल के अनेक भेद हैं। इस प्रकार उक्त कारण कदाचित् उपस्थित हो जायें तो शक्त्यनुसार यम या नियम सल्लेखना धारण करना चाहिए। आचार्य दुर्गदेव ने अरिष्टसमुच्चय ग्रन्थ में निमित्त ज्ञान से अपनी अल्पायु का ज्ञान होने पर भी सल्लेखना धारण करने की बात कही है। मानव की मृत्यु से पूर्व उसके शरीर में कुछ ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, जिन पर ध्यान देने से आयु का निर्णय किया जा सकता है।

“पिण्डत्थं च पयत्थं रुवत्थं होई तं पि तिवि अप्पं।

जीवस्स मरण काले रिद्धं णत्थि त्ति संदेहो।।”

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि मरण समय में पिण्डरथ (शारीरिक) पदस्थ (सूर्य, चन्द्र आदि आकाशीय ग्रहों के दर्शनों में विकृति) आरू रूपरथ (निजच्छाया, परच्छाया आदि अंगविहीन दर्शन) इन तीन प्रकार के अरिष्टों का आविर्भाव होता है। इन अरिष्टों का विस्तार से वर्णन रिष्टसमुच्चय में किया गया है। इन अरिष्टों से अपनी आयु का परिज्ञान कर भव्यात्माओं को अवश्य सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

एक बात और कुछ लोग सल्लेखना को आत्मघात जैसे दूषित शब्दों से लांछित करते हैं। सल्लेखना आत्मघात नहीं है। दोनों में महान् अन्तर है। आत्मघात जब भी किया जाता है, वह तीव्र क्रोध के कारण ही किया जाता है, जबकि सल्लेखना में कषायों का अभाव विशेषतः सर्वप्रथम क्रोध-कषाय का ही अभाव किया जाता है क्योंकि क्रोध तो कषायों का सेनापति है। आत्मघात घनीभूत दुःख या पीड़ा में किया जाता है, जबकि सल्लेखना स्वयं इच्छा से सुखपूर्वक ली जाती है। वैदिक/अन्य धर्मों में भी इसका विधान किया गया है और वहाँ सल्लेखना को इच्छामरण कहा गया है। आत्मघात में एक बार में ही देह का घात किया जाता है, जबकि सल्लेखना में धीरे-धीरे देह को कृश किया जाता है। आत्मघात पाप है जबकि सल्लेखना एक धार्मिक क्रिया। आत्मघात अनन्त संसार का कारण है जबकि सल्लेखना सीधे या परम्परया मोक्ष का कारण है। आत्मघात कभी भी किया जा सकता है, जबकि सल्लेखना उपसर्ग आदि कारणों के उपस्थित होने पर ली जाती है। सल्लेखना लेने वाला क्षपक क्रोधादि कषायों का शमन करता हुआ भावना भाता है कि—

“सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, विलष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव !।।”

आइए, हम भी ऐसी भावना आज से ही भायें और कषायों को कृश कर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हों।



जैनसंघ में सल्लेखना का इतिवृत्त

डॉ. कामताप्रसाद जैन

जैनधर्म मानव को जीवन का सच्चा मार्ग बताता है। यह वह आत्मविज्ञान है जो मानव को सफल जीवन बिताने का मार्ग सुझाता है। मानव अपना हित साधे और सबको आत्महित साधने में सहायक हो, जैन का यह मार्ग है। जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करे, यह उनका नैसर्गिक कर्तव्य है। और सच्चा उपकार साथी को सम्यक्दृष्टि प्रदान करना है। श्रद्धा को सच्चे ज्ञान से रंग देना है। तब मानव सब प्राणियों में अपने ही समान आत्मा को देखता है और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करता है। नश्वर शरीर की सुविधा के लिए वह किसी को कष्ट नहीं देता। स्वयं आत्मोत्थान में लीन रहकर जीवन सफल बनाता है— जो अपने आत्मज्ञान को विकसित करके अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति को जागृत करता है, उसको ऐहिक ऐश्वर्य तो ब्याज में मिल जाता है। उसके चहुँ ओर प्राणी सुख से जीते और आनन्द भोगते हैं।

इसप्रकार का सफल जीवन जो बिता लेता है उसके जीवन की अन्तिम घड़ियाँ भी स्वर्णिम होती हैं। वह जीना जानता है तो मरना भी। मरना तो हर एक को है, कातर की तरह रो-रोकर वह मरते हैं जो अपने आत्मस्वरूप-से बेसुध हैं; परन्तु जो अन्तर्द्रष्टा हैं वे एक वीर योद्धा की तरह मौत के पिशाच से जूझते और विजयी होकर महाप्रयाण करते हैं। इस वीर-मरण अथवा घण्डित-मरण का नाम सल्लेखना है। मृत्यु के सम्मुख आ उपस्थित होने पर एक वीर की मौत मरने का पाठ सल्लेखना पढ़ता है। यही उसकी विशेषता है। जैन संघ में वीरों की यह वृत्ति बहुत पुरानी है, वृषभदेव ने इसका पहला पाठ लोक को सिखाया था।

सल्लेखना का ज्वलन्त उदाहरण

आज इस कलिकाल में सल्लेखना का साक्षात् रूप लोक ने तपोनिधि सम्यक्त्वनिलय योगिराट् चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के ज्वलन्त जीवन में देखा। आचार्यश्री शान्ति के सिन्धु थे। उनकी सल्लेखना महान् थी। उन्होंने संघ की परम्परा को मूर्तमान बना दिया।

इस प्रसंग में सल्लेखना के ऐतिहासिक इतिवृत्त पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना उपादेय है। पुराणों की बात हम न कहेंगे, हम तो इतिहास के चमकते हुए उदाहरणों को ही उपस्थित करेंगे।

भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त

अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु जैन संघ में सुप्रख्यात हुए। उनके शिष्य मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे। चन्द्रगुप्त उनके साथ दक्षिण भारत को गये थे और कटवप्र पर्वत पर उन्होंने सल्लेखना व्रत पालन किया था। श्रवणबेलगोल के शिलालेख में लिखा है— भद्रबाहुस्वामिना सर्व्वस्संघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथाम्प्रस्थितः ... अतः आचार्य प्रभाचन्द्रो नामावनितल-ललाम-भूतेऽथास्मिन् कटवप्र नामकोपलक्षिते समुत्तुंग-शृंगे शिखरिणि जीवितशेषमल्पहर-कालमवबुध्यात्मनः सुचरित-तपस्समाधिमाराधयि- तुमापृच्छ्य निरवशेषेण संघ विसृज्य शिष्यणैकेन पृथुलतरास्तीर्णतिलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्याराधितवान् क्रमेण सप्तशतमृषीणामारधितमिति जयतु जिन-शासनमिति।

—(शिलालेख नं. 182, शक सम्वत् 522)

भाव यह है कि भद्रबाहु स्वामी सर्व संघसहित उत्तरापथ से दक्षिणायण चले आये। उनके साथ प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) भी आये और कटवप्र पर्वत पर ठहरे। भद्रबाहुस्वामी ने अपनी अल्पायु जानकर सारे संघ को आगे भेज दिया और स्वयं वहाँ रहकर समाधिमरण किया। उनके पश्चात् क्रमशः सात सौ ऋषियों ने समाधिमरण किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त गुरु के समाधिस्थल पर रहकर तप तपते रहे और अन्त में उन्होंने भी वहीं समाधिमरण किया।

शान्तिसेन एवं अन्य ऋषिगण

स्वामी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनि द्वारा जैनधर्म की महती प्रभावना हुई थी। उनके पश्चात् वह किञ्चित् क्षीण हुआ तो शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। इन मुनियों ने बेलगोल पर्वत पर अशन आदि का त्याग कर पुनर्जन्म को जीत लिया— सल्लेखना की यह महत्त्वपूर्ण वार्ता श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 17-18 (31) शक सम्वत् 572 में इन शब्दों में अंकित है :—

“श्री भद्रबाहु स चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मदिनोप्पेवल् ।

भद्रमागिद् धम्ममन्दु बलिककेवन्दिर्निसल्फली ।।

विदुमाधर शान्तिसेन मुनीश नाक्किए बेलगोल ।

अदिमेलशनादि विट्टपुनर्भवक्केरे आगि... ..।।”

सम्राट् खारवेल के समय में

समाधि-सल्लेखना जैनसंघ की इतनी विशिष्ट क्रिया थी कि उसकी ठीक-ठीक आराधना के लिए यापज्ञापक लोग नियुक्त रहते थे। कलिंग सम्राट् खारवेल

के प्रसिद्ध हाथी गुफा वाले शिलालेख (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) में स्पष्ट उल्लेख है कि सम्राट् खारवेल ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में व्रत पूरा होने पर उन यापज्ञापकों को, जो कुमारी पर्वत पर, समाधियों पर याप और क्षेम की क्रियाओं में प्रवृत्त थे, जहाँ राजभृतियों को वितरण किया। (पंक्ति 14) इससे सल्लेखना समाधि का प्राचीन रूप स्पष्ट होता है। भगवती आराधना ग्रन्थ में भी यापज्ञापकों का उल्लेख मिलता है।

अनेक ऋषियों और आर्यिकाओं की सल्लेखना

श्रवणवेल्लोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर सल्लेखना विषयक सर्व प्राचीन और सर्वाधिक शिलालेख हैं, जिसमें अधिकांश 7वीं-8वीं शताब्दी अथवा इसके पूर्व के हैं। उपरान्त काल में सल्लेखना का उतना अधिक प्रचार प्रतीत नहीं होता। उनमें बड़े-बड़े आचार्य, मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका भी थे। श्रावकों में बड़े-बड़े राजा-महाराजा से लेकर साधारण किसान भी सल्लेखना करते थे। श्राविकायें भी पुरुषों से पीछे न थीं। इनके कतिपय उदाहरण देखिये।

आचार्यों और मुनियों में सर्वश्री शुभचन्द्र, मेघचन्द्र, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण, पण्डितार्य व श्रुत मुनि की प्रशस्तियाँ पठनीय हैं; जिनमें उन आचार्यों की कीर्ति सहित स्वर्गवास का वर्णन है। लेख नं. 159 (22) में लिखा है कि करलतूर के एक मुनि ने कटवप्र पर्वत पर 108 वर्ष तक तपश्चरण करके समाधिमरण किया था। इस पर्वत के कतिपय शिलालेखों के भाव भी पठनीय हैं :-

- कालाविर गुरु के शिष्य ने 21 दिन तक संन्यास व्रत पाल कर प्राणोत्सर्ग किया।
—(13-33, सं. 662)
- रूप, लीला, धन व वैभव, इन्द्रधनुष, बिजली व ओसविन्दु के समान क्षणिक हैं— ऐसा विचार कर नन्दिसेन मुनि ने संन्यास धार कर सुरलोक को प्रस्थान किया।
—(26-88 संवत् 622)
- मृत्यु का समय निकट जान गुणवान् और शीलवान् देवसेन महामुनिव्रत पाल स्वर्गगामी हुए।
—(32-113, सं. 622)
- अब मेरे लिए जीवन असम्भव है —ऐसा कहकर कोलतूर संघ के ने समाधि व्रत लिया।
—(33-93, सं. 622)
- व्रत-शील आदि सम्पन्न शशिभति गन्ति कत्वप्पु पर्वत पर आई और यह कहकर कि मुझे इसी मार्ग का अनुसरण करना है, तीर्थगिरि पर संन्यास धारण कर स्वर्गगामी हुई।

राजा-महाराजाओं की सल्लेखना

राजा-महाराजाओं में राष्ट्रकूट वंश के सम्राट् इन्द्र चतुर्थ और गंगवंश के सम्राट्

मारसिंह गुप्तिय गंग सल्लेखना के लिए उल्लेखनीय हैं। मारसिंह ने सन् 961 से 974 ई. तक सफल शासन किया था। जैनधर्म की प्रभावना के लिए भी उन्होंने अनेक कार्य किये थे। जब उन्होंने अपने को शिथिलगात पाया तो एक वर्ष पहले से राजभार त्याग दिया था। वह एकान्तवास के लिए अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के पास बांकापुर चले गये थे। वहाँ उन्होंने धर्मारधना की। अन्त समय में गुरु से सल्लेखना व्रत लिया और उन्हीं के पादमूल में तीन दिन तक आराधना करके समाधिमरण किया था।

—(इपी. कर्णाटका, 2, 59, पृष्ठ 12-14)

इस घटना के 8-9 वर्ष पश्चात् राटौर नरेश इन्द्रराज ने भी सल्लेखना व्रत धारण किया था। वह पोलो खेलने में बड़े चतुर थे। सन् 982 ई. में वह श्रवणवेलगोल आए और मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर उन्होंने गुरु महाराज से सल्लेखना व्रत लिया। शिलालेख में लिखा है कि स्थिरचित्त होकर लोकप्रसिद्ध इन्द्रराज ने व्रतों का पालन किया और सुरेश (इन्द्र) के वैभव को प्राप्त किया।

—(इपी. कर्णाटका, 2, 133, पृष्ठ 63)

रानी-महारानियों का संल्लेखना व्रत

रानी-महारानियों में शान्तलदेवी, उनकी माता माधिकव्ये पामब्ये आदि उल्लेखनीय हैं। रानी पामब्ये गंगनरेश बुटुग की बहन थीं। पडियार दोरपप्य नरेश उनके पति थे। दुर्घिपाकवश जब उन्हें वैधव्य का दुःख देखना पड़ा तो वह णाणब्ये नामक आर्यिका के पास पहुँची और केशलोच करके आर्यिका के व्रत धारण किये। तीस वर्ष तक लगातार पंचव्रतों का पालन करके सन् 971 ई. में वह स्वर्गवासी हुईं। शिलालेख में लिखा है कि जब लोग उनको बुटुग नरेश की बहन मानकर आदर करते थे और पूछते थे कि वह कोई सेवाकार्य बतायें, तो वह कह देती थीं कि मुझे जो कुछ मिला था उसका मैंने त्याग कर दिया। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।

—(इपी. कर्णाटिका 6, 1, पृष्ठ 1)

इसके पहले सन् 911 ई. में राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय के समय में वनवासी के अन्तर्गत नगरखण्ड के शासक नागार्जुन का अन्त हो गया तो उन्होंने उनकी विधवा पत्नी जिकिक्यव्ये को शासक नियुक्त किया था। उन्होंने बड़ी योग्यता से शासन किया था। अन्त समय में उनके शरीर को व्याधि ने घेर लिया तो जिकिक्यव्ये ने सोचा कि सांसारिक वैभव क्षणिक है और पुत्री को बुलाकर राजभार उसको सौंप दिया। स्वयं इच्छाओं को जीतकर सल्लेखना विधि से स्वर्गवास किया।

—(इपी. कर्णा. 7, 219, पृष्ठ 130-131)

महारानी शान्तलदेवी होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन की पट्टरानी थीं। वह एक आदर्श महिला थीं। जैनधर्म के लिए वह साक्षात् स्तम्भ थीं। लोग उन्हें सम्यक्त्व-

चूड़ामणि कहते थे। सन् 1131 ई. में जब वह शिथिलगात हुई तो उन्होंने शिवगंगा में सल्लेखना-विधि से स्वर्ग लोक को प्रयाण किया था। उनकी माँ माचिकव्ये ने जब यह सुना तो उन्होंने कहा कि मैं बुढ़िया अब जीकर क्या करूँगी, उनका हृदय टूट गया। वह श्रवणबेलगोल गई और सल्लेखना व्रत की आराधना करने लगी। अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से ध्यान माडकर वह निरन्तर पंचपरमेष्ठी भगवान का नाम जपती थीं। उन्होंने सभी इष्ट मित्रों से विदा ली और क्षमा माँगी। जिनेन्द्र के ध्यान में एक मास तक लवलीन रहकर वह स्वर्ग सिधारीं। आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, वर्द्धमानदेव और रविचन्द्रदेव ने उनको धर्म में सावधान रखा था। महान् थीं माचिकव्ये !

—(इपी. कर्णाटिका, 2, 143, पृष्ठ 73-74)

वीरगल

उपरान्त सल्लेखना मरण योद्धाओं की वीरगति के तुल्य माना जाने लगा। सल्लेखना लेने वालों के भी वीरगल बनने लगे। यह शिलापद वीर योद्धाओं की स्मृति में बनते थे और इन पर रणभूमि के दृश्य अंकित होते थे। सल्लेखना वीरगलों में जिनमूर्ति के अतिरिक्त आराधक का भी चित्र बना होता था। लोक विद्याधर की पत्नी उनके साथ रणांगण में संग्राम करने गई और मरणान्तिक शस्त्रघात से पीड़ित हो उन्होंने समाधिमरण किया। उनके वीरगल पट्ट पर उनका चित्र वैरी से युद्ध करते हुए दर्शाया गया है।

जैनसंघ में सल्लेखना की परम्परा प्राचीन काल से अब तक बराबर चली आ रही है। वह आत्मबल बढ़ाने का एक साधन है— कषाय और वासना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हठात जीवन का अन्त करना भी उनका ध्येय नहीं है। सल्लेखना तो सफल जीवन बिताकर जब मरणवेला आये तो उस समय वीर भाव से परलोक सिधारने का पाठ पढ़ाने के लिए स्वर्णिम सूत्र है, अतः ऐसी सल्लेखना को नमस्कार।



समाधिमरण

“प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये नार्जितो धर्मश्चतुर्थे किं करिष्यति।।”

अर्थ :- जिसने प्रथम बालावरथा में विद्यार्जन नहीं किया, द्वितीय युवावरथा में धनार्जन नहीं किया, तृतीय प्रौढ़ावरथा में धर्माार्जन नहीं किया; वह चतुर्थ वृद्धावरथा में – मरणकाल में क्या करेगा? तात्पर्य यह है कि उत्तम मृत्यु की साधना मृत्यु आने से पहले ही कर लेनी चाहिए।

जैन शिलालेखों में सल्लेखना

. डॉ. रमेशचन्द्र जैन

उपसर्ग की स्थिति में, दुर्भिक्ष में, वृद्धावस्था में अथवा रोग का प्रतिकार न होने पर धर्म के लिए शरीर का विमोचन करना सल्लेखना कहलाती है। जैनधर्म में सल्लेखना अथवा समाधिमरण की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसके शिलालेखीय साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। दक्षिण के अनेक शिलालेखों में सल्लेखना का उल्लेख है।

चन्द्रगिरि के शिलालेखों में सल्लेखना का वर्णन¹

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि के शिलालेखों में अनेक स्थानों पर सल्लेखना का वर्णन है।

शिलालेख नं. 7 [लगभग शक सं. 622] के अनुसार कित्तूर में बेलमाद के धर्मसेन गुरु के शिष्य बलदेव गुरु ने संन्यासव्रत पाल प्राणोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 8 [शक सं. 622] के अनुसार मलनूर के पट्टिनिगुरु के शिष्य उग्रसेन गुरु ने एक मास तक संन्यासव्रत पाल प्राणोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 13 [शक 622] के अनुसार तलेकाडु मेल्लेडि के कलापक गुरु कालाविर गुरु के शिष्य ने इक्कीस दिन संन्यास व्रत पाल प्राणोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 14 [शक सं. 622] के अनुसार ऋषभसेन गुरु के शिष्य नागसेन गुरु ने संन्यासविधि से प्राणोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 16 [शक सं. 622] के अनुसार म्मडिगल ने व्रत पाल देहोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 17, 18 [शक सं. 572] के अनुसार जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था, उसके किंचित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनः स्थापित किया। इन मुनियों ने बेलगोल पर्वत पर अशन आदि का त्याग कर पुनर्जन्म को जीत लिया।

शिलालेख नं. 19 [शक सं. 622] के अनुसार वेट्टेडेगुरु के शिष्य सिंहनन्दि गुरु ने व्रत पाल देहोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 26 [शक सं. 622] के अनुसार रूप, लीला, धन व वैभव,

इन्द्रधनुष विजली व ओसविन्दु के समान क्षणिक हैं, ऐसा विचार कर, नन्दिसेन मुनि ने संन्यास धार सुरलोक को प्रस्थान किया।

शिलालेख नं. 28 [शक सं. 622] के अनुसार नविलूर संघ की अनन्तामती-गन्ति ने द्वादश तप धार कटवप्र पर्वत पर यथाविधि व्रतों का पालन किया और सुरलोक का अनुपम सुख प्राप्त किया।

शिलालेख नं. 29 [शक सं. 622] के अनुसार मयूर ग्राम संघ की आर्या ने कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण धारण किया।

शिलालेख नं. 30 [शक सं. 622] के अनुसार गुणकीर्ति ने भक्ति सहित देहोत्सर्ग किया।

शिलालेख नं. 31 [शक सं. 622] के अनुसार नविलूर संघ के मौनिय आचार्य के शिष्य वृषभनन्दि मुनि ने समाधिमरण किया।

शिलालेख नं. 32 [शक सं. 622] के अनुसार मृत्यु का समय निकट जान गुणवान् और शीलवान् देवसेन महामुनि व्रत पाल स्वर्गगामी हुए।

शिलालेख नं. 33 [शक सं. 622] के अनुसार अब मेरे लिए जीना असम्भव है ऐसा कहकर कोलत्तूर संघ के..... [?] ने समाधिव्रत लिया और कटवप्र पर्वत पर से सुरलोक प्राप्त किया।

शिलालेख नं. 35 [लगभग शक सं. 622] के अनुसार व्रत, शील आदि सम्पन्न ससिमन्ति गन्ति कलवप्पु पर्वत पर आई और यह कहकर कि मुझे मार्ग का अनुसरण करना है, तीर्थगिरि पर संन्यास धारण कर स्वर्गगामी हुई।

कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ के लेख [शक सं. 896] में गंगराज मारसिंह के प्रताप का वर्णन है। इसमें कथन है कि मारसिंह [राष्ट्रकूट नरेश] ने कृष्णराज तृतीय के लिए गुर्जर देश को विजय किया। कृष्णराज के विपक्षी अल्ल का मद चूर किया; विन्ध्य पर्वत की तली में रहने वाले किरातों को जीता। मान्यखेट में नृप [कृष्णराज] की सेना की रक्षा की। इन्द्रराज चतुर्थ का अभिषेक कराया। पातालमल्ल के कनिष्ठ भ्राता वज्जल को पराजित किया। वनवासी नरेश की धन-सम्पत्ति का अपहरण किया। माटूर वंश का मस्तक झुकाया, नोलम्बकुल के नरेशों का सर्वनाश किया। काडुवट्टि जिस दुर्ग को नहीं जीत सका था, उस उचगि दुर्ग को स्वाधीन किया। शबराधिपति नरग का संहार किया। चौडनरेश राजादित्य को जीता। तापी तट, मान्यखेट, गोनूर, उर्च्चांग, वनवासी व पाभसे के युद्ध जीते व चेर, चोड़, पाण्ड्य और पल्लव नरेश को परास्त किया व जैनधर्म का प्रतिपालन किया और अनेक जिनमन्दिर बनवाए। अन्त में उन्होंने राज्य का परित्याग कर अजितसेन भट्टारक के समीप तीन दिवस तक सल्लेखना व्रत का

पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया।

चामुण्डराय बसदि के दक्षिण की ओर द्वितीय स्तम्भ पर शिलालेख नं. 44 [शक सं. 1043] में मार और माकण्ठके के सुपुत्र एचि व एचिगांक की भार्या पोचिकब्बे की धर्मपरायणता और अन्त में संन्यास विधि से स्वर्गारोहण का उल्लेख है। पोचिकब्बे ने अनेक धार्मिक कार्य किए। उन्होंने बेलगोल में अनेक मन्दिर बनवाये। शक सं. 1043 आषाढ़ सुदि 5 सोमवार को इस धर्मपरायण महिला का संन्यास हो जाने पर उसके प्रतापीपुत्र महासामन्ताधिपति, महाप्रचण्ड दण्डनायक विष्णुवर्द्धन महाराज के मन्त्री गंगराज ने अपनी माता के स्मारक (निषद्या) का निर्माण कराया।

एरडु कट्टे बसदि के पश्चिम की ओर मण्डप में दूसरे स्तम्भ पर [शक सं. 1037] उत्तकीर्ण लेख में कहा गया है कि सकलचन्द्र मुनि के शिष्य मेघचन्द्र त्रैविद्य हुए, जो सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंक और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान् थे। शक सं. 1037 मगसिरं सुदि 14 बृहस्पतिवार को उन्होंने सद्ध्यान सहित शरीर त्याग किया। उनके प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान गंगराज द्वारा उनकी निषद्या निर्माण कराई।

उपर्युक्त मण्डप में तृतीय स्तम्भ पर [शक सं. 1044] दण्डनायक गंगराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीपति के गुण, शील और दान की प्रशंसा की गई है। इस धर्मपरायण साध्वी महिला ने शक सं. 1044 में संन्यासविधि से शरीर त्याग दिया। वह मूल संघ, पुस्तक गच्छ, देशीगण के शुभचन्द्राचार्य की शिष्या थी। अपनी साध्वी स्त्री की स्मृति में दण्डनायक गंगराज ने यह निषद्या निर्माण करायी।

उपर्युक्त मण्डप में चतुर्थ स्तम्भ पर [शक सं. 1042] चामुण्ड नाम के किसी प्रतिष्ठित और राजसम्मानित वणिक् की धर्मवती भार्या देमति व देवमति की प्रशंसा है। दान-पुण्य के कार्यों में जीवन व्यतीत कर इस महिला ने शक सं. 1042 फाल्गुन वदि 11 बृहस्पतिवार को संन्यास विधि से शरीर त्याग किया। यह महिला शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी।

गन्धवारण बसदि के प्रथम मण्डप में एक स्तम्भ पर [शक सं. 1068] किसी वल्ल वल्लण नामक धनवान् पुरुष के संन्यास विधि से शरीर त्याग करने पर उसकी माता और भगिनी द्वारा उसकी स्मृति में एक पट्टशाला [वाचनालय] स्थापित करने और उसके चलाव के लिए कुछ जमीन दान करने का उल्लेख है।

उसी मण्डप में द्वितीय स्तम्भ पर [शक सं. 1041] में कहा गया है कि महाधर्मवान्, कीर्तिवान् और बलवान् दण्डनायक बलदेव और उसकी धर्मपत्नी ऋचिकब्बे का पुत्र सिंगमय हुआ, जो उदारचरित और गुणवान् था। उसकी धर्मपत्नी का नाम सिरियदेवी था। सिंगमय ने समाधि धारण कर स्वर्गलोक प्राप्त

किया। मण्डलाचार्य प्रभाचन्द्र के शिष्य सिरियब्बे और नागियक्क ने सिंगिमय की स्मृति में शक सं. 1041 कार्तिक सुदि 12 सोमवार को यह निषद्या निर्माण कराई।

शिलालेख नं. 72 में कहा गया है कि कुन्दकुन्दान्वय देशीगण के चारुकीर्ति पण्डितदेव के शिष्य अजितकीर्तिदेव के शिष्य शान्तकीर्तिदेव के शिष्य अजितकीर्तिदेव ने एक मास के उपवास के पश्चात् शक सं. 1731 भाद्रपद बदि 4 बुधवार को स्वर्गगति प्राप्त की।

शिलालेख सं. 159 में कालन्तूर के किसी मुनि के कटवप्र पर एक सौ आठ वर्ष तक तप के पश्चात् समाधिमरण की सूचना है। शिलालेख सं. 190 [शक सं. 622] में किसी के समाधिमरण की सूचना है। शिलालेख सं. 193 [शक सं. 622] के अनुसार महादेव मुनिपुंगव ने मृत्युकाल निकट आया जानकर पर्वत पर तपश्चरण किया और स्वर्गगति प्राप्त की। शिलालेख सं. 194 [शक सं. 622] के अनुसार इन्द्रनन्दि आचार्य ने मोह-विषयादि जीतकर कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण किया।

शिलालेख सं. 207 के अनुसार नविलूर संघ, आजिगण की साध्वी गन्ति ने पर्वत पर संन्यास धारण कर स्वर्गगति प्राप्त की। शिलालेख सं. 208 में पेट्वणि वंश के किसी व्यक्ति के समाधिमरण का उल्लेख है।

शिलालेख सं. 211 के अनुसार नविलूर संघ के किसी आचार्य ने संन्यास धारण कर प्राणोत्सर्ग किया। शिलालेख सं. 214 के अनुसार इसी संघ के माविअब्बे ने समाधिमरण किया।

कहा जाता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने निमित्त ज्ञान से जाना कि उत्तर भारत में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। ऐसी विपत्ति के समय में वहाँ मुनिवृत्ति का पालन होना कठिन जान उन्होंने अपने समस्त शिष्यों सहित दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी इस दुर्भिक्ष का समाचार पाकर संसार से विरक्त हो राज्यपाट छोड़ भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ली और उन्हीं के साथ गमन किया। जब यह मुनि संघ श्रवणबेलगोल पहुँचा, तब भद्रबाहु स्वामी ने अपनी आयु थोड़ी शेष जान संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं शिष्य चन्द्रगुप्त सहित छोटी पहाड़ी पर रहे। चन्द्रगुप्त मुनि ने अन्त समय तक उनकी खूब सेवा की और उनका शरीरान्त हो जाने पर उनके चरणचिह्न की पूजा में अपना शेष जीवन व्यतीत कर अन्त में सल्लेखना विधि से शरीर त्याग किया। चन्द्रगुप्त के श्रवणबेलगोला की छोटी पहाड़ी पर रहने के कारण इसका नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इस पहाड़ी पर विद्यमान भद्रबाहु गुफा में चन्द्रगुप्त के भी चरण चिह्न है। सेरिंगपट्टम [ए.क. 3] के 147 और 148 नं. के दो शिलालेखों

में उल्लेख है कि कलवप्पुशिखर {चन्द्रगिरि} पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न हैं। ये शिलालेख शक सं. 822 के हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन प्रमाण चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ वसदि के पास का शिलालेख {नं. 1} है। यह लेख श्रवणबेलगोल के समस्त लेखों में प्राचीनतम सिद्ध होता है। इस लेख में कथन है कि महावीर स्वामी के पश्चात् परमर्षि गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण, बुद्धिलादि गुरुपरम्परा में होने वाले भद्रबाहु स्वामी के त्रैकाल्यदर्शी निमित्तज्ञान द्वारा उज्जयिनी में यह कथन किए जाने पर कि वहाँ द्वादश वर्ष का वैषम्य {दुर्मिक्ष} पड़ने वाला है, सारे संघ ने उत्तरापथ से दक्षिणापथ को प्रस्थान किया, और क्रम से वह एक बहुत समृद्धियुक्त जनपद में पहुँचा। यहाँ आचार्य प्रभाचन्द्र ने व्याघ्रादि व दरी-गुफादि-संकुल सुन्दर कटवप्र नामक शिखर पर अपनी आयु अल्प ही शेष जान समाधितप करने की आज्ञा लेकर समस्त संघ को आगे भेजकर एक शिष्य को साथ रखकर देह की समाधि-आराधना की।¹ उपर्युक्त प्रभाचन्द्र को ही विद्वानों ने चन्द्रगुप्त माना है।

श्रवणबेलगोल नगर के शिलालेख में सल्लेखना का वर्णन

श्रवणबेलगोल मठ के उत्तर की गोशाला में {शक सं. 1041} उल्लेख है कि दिवाकरनन्दि के दो शिष्य मलधारिदेव और शुभचन्द्रदेव सिद्धान्तमुनीन्द्र थे। श्रीमती गन्ती ने उनसे दीक्षा लेकर समाधि-मरण किया।

जिननाथपुर के शिलालेख में सल्लेखना वर्णन

श्रवणबेलगोल के पास जिननाथपुर में अरेगल बसदि के पूर्व की ओर {लगभग शक सं. 1057} के शिलालेख में होय्सलवंशी नरेश विष्णुवर्द्धन और उनके दण्डनायक प्रसिद्ध गंगराज के वंशों का परिचय है। गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता वम्मदेव के पुत्र एच दण्डनायक ने कोपड, बेलगुल आदि स्थानों में अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये और अन्त में संन्यासविधि से प्राणोत्सर्ग किया। गंगराज के पुत्र वोप्पदेव दण्डनायक ने अपने भ्राता एचिराज की निषद्या निर्माण कराई तथा उनकी निर्माण कराई हुई बस्तियों के लिए गंगसमुद्र की कुछ भूमि का दान शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य माधवचन्द्र देव को किया।

दक्षिण भारत के अन्य शिलालेखों में सल्लेखना का वर्णन

बन्दलिके बसदि {शक 840=918 ई.} के प्रवेश द्वार के पाषाण पर एक शिलालेख है, जिसका सारांश यह कि जब प्रजापति संवत्सर शक वर्ष 834 में महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक कन्नरदेव का राज्य प्रवर्धमान था—

जिस समय कालिक देवय्यर-अन्वय के महासामन्त कलिविदुरस, बनवासि

12000 का शासन कर रहे थे— नागरखण्ड सत्तर के नाल गावुण्ड के पद को धारण करने वाले सत्तरस नागार्जुन के मर जाने पर राजा ने जक्कियव्वे को आवुतवूर और नागरखण्ड सत्तर दे दिया। जक्कियव्वे ने भी जक्कालि में मन्दिर के लिए 4 मत्तल चावल की भूमि दी। एक बीमारी के समय उसने शक सं. 840 बहुधान्यवर्ष में पूर्ण श्रद्धा से बसदि में आकर समाधिमरण ले लिया।

गोपी वीडु परगना के अन्तर्गत अंगडि में बसदि के पास के पाषाण पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि द्रविलसंघ, कोण्डकुन्दान्वय तथा पुस्तकगच्छ के त्रिकालमौनि-भट्टारक के शिष्य श्रीमद् ईखि वेडेडंग के गुरु विमलचन्द्र पण्डित देव ने संन्यासविधि से मरण कर मुक्ति प्राप्त की। विमलचन्द्र पण्डित देव की गृहस्थ शिष्या हवुम्बे की छोटी बहिन शान्तियब्बे ने अपने गुरु के स्वर्गवास के उपलक्ष्य में स्मारक खड़ा किया।

नल्लूर [हतुगट्टनाड] में तीतरमाड के घर के पास सर्वे {Survey} 117 नं. के तालाब के बाँध पर एक पाषाण-लेख अंकित है, जिसमें कहा गया है कि भय के साथ यह सुनकर कि दायतिमगति परलोक की इच्छा से मृत्यु को प्राप्त हुई तथा इस बात को न सहन कर अपने सम्बन्धियों की सम्मति लेकर जक्कियव्वे ने जो चन्द्रियव्वे-गावुण्डकी मन्त्रिकि और कस्तूरी भट्टार की श्राविका थी, संन्यसन विधि की और स्वर्गगत हुई। उसका पति श्रावक एडय्य था।

कणवे में कल्लु बसदि में एक समाधि पाषाण पर अंकित लेख {वर्ष शुक्ल 1190 ई.} में जिनशासन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रधान मन्त्री होय्सल देव के खजांची चन्द्रिमय्य की पत्नी बोप्पव्वे ने {उक्त तिथि को} संन्यसन करते हुए समाधिपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।

कणवे में एक दूसरे समाधि-पाषाण पर लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार देशयगण और पुस्तक गच्छ, —लोकियब्बे बसदि की तलताल बसदि के मलधारिदेव थे, कठोर तप से उनका सारा शरीर धूल-धूसरित हो रहा था, लोहे के समान बहुत समय तक उस पर जंग-सी चढ़ी हुई थी और वल्मीक के समान हो गया था। उनके शिष्य शुभचन्द्र देव ने समाधि के बल से स्वर्ग प्राप्त किया।

हुम्मच की पंचबसदि के प्रांगण में दक्षिण की ओर के एक पाषाण पर सम्भवतः 1098 ई. के एक शिलालेख में पार्श्वसेन भट्टारक के समाधिविधि द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति का उल्लेख है।

मत्तावार में पार्श्वनाथ बसदि के प्रांगण में एक पाषाण पर लेख है, जिसमें कहा गया है कि शक 1038 {1116 ई.} में मायन का पुत्र और मावण्ण का शिष्य संन्यसन धारण कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसका यह स्मारक है।

हिरे-आवलि में रामलिंग मन्दिर के सामने पड़े पत्थर पर अंकित लेख में कहा गया है— विक्रम चालुक्य के 49वें वर्ष {1124 ई.} की माघशुक्ल 5 बृहस्पतिवार को मूल संघ, सेनगण और पोगरिगच्छ के चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेव के शिष्य माधवसेन भट्टारक देव जिनचरणों का मनन करके, पंच परमेष्ठी का स्मरण करके समाधिमरण धारण कर स्वर्ग गए।

चन्नदहल्लि में अमृतेश्वर मन्दिर के सामने के वीरगल के ऊपर 1133 ई. में उल्लिखित लेख के अनुसार मूलसंघ और देसिग गण के माघनन्दि भट्टारक देव के एक गृहस्थ शिष्य, गंगवल्लिय दास-गावुण्ड के पुत्र वोप्पय समाधि विधि से मरण कर स्वर्ग को गए।

हेगरे की बसदि के एक शिलालेख के अनुसार शक 1085 {1163 ई.} में आषाढ शुक्ल 10 बुधवार को श्री मूलसंघ देशियगण, पुस्तकगच्छ और कौण्डकुन्दान्वय के माणिक्यनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य मेघचन्द्र भट्टारक देव ने संन्यसन विधिपूर्वक स्वर्ग प्राप्त कर पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त की।

हेरेकेरी में कुमार पण्डित की गृहस्थ शिष्या पेक्कन सेट्टि की पत्नी मल्लब्बे द्वारा जैनविधिपूर्वक किए गये समाधिमरण का वहाँ की बसदि के दक्षिण के समाधिपाषाण पर उल्लेख किया गया है। यह शिलालेख शक 1161 {1239 ई.} का है। इसी बसदि के उत्तर की ओर समाधि पाषाण पर शुभकीर्ति पण्डितदेव की शिष्या पेक्कम सेट्टि की पुत्री कामव्वे द्वारा समाधिग्रहण का उल्लेख है। यह शिलालेख शक 1165 {1243 ई.} का है।

उद्धि के एक शिलालेख {E.C. VIII Sorab tl No. 42} में {जो कि वनशंकरी मन्दिर के एक पाषाण पर उत्कीर्ण है} समाधिमरण धारण कर सुगति-प्राप्ति का उल्लेख है।

हुम्मच में पद्मावती मन्दिर में प्रांगण में दूसरे पाषाण पर सोभय के पुत्र—डे वेग्गडे के लिए समाधिमरण पूर्वक सुरलोक-प्राप्ति का उल्लेख है। यह शिलालेख शक 1170 {1248 ई.} का है। हुम्मच के पद्मावती मन्दिर में एक पाषाण पर शक 1172 {1250 ई.} के एक शिलालेख के अनुसार महामण्डलेश्वर ब्रह्म भूपाल के मन्त्री ब्रह्माय्य सेनबोवे के प्रिय पुत्र पार्श्व सेनबोव ने समाधि-विधि से स्वर्गलोक प्राप्त किया।

चिक्क भागाडि में बसदि के पास के पाषाण पर लगभग 1256 ई. का एक लेख है जिसके अनुसार यादव-नाशयण भुजबल प्रताप चक्रवर्ती कन्दार देव के 11वें वर्ष में मुडिके सा वन्त ने संन्यसन महोत्सव की विधि को करते हुए सुखी हालित प्राप्त की।

हुम्मच के शक 1178 [1256 ई.] के शिलालेख के अनुसार यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, मौनानुष्ठान, जप, समाधि तथा शील गुण से सम्पन्न, त्रिशत्य रहित त्रिपद [अपूर्वकरण, अधःकरण और अनिवृत्तिकरण] को धारण कर, त्रिगार्व से मुक्त होकर त्रिगुप्ति से संयुक्त होकर, सप्त भय से रहित होकर महामण्डलाचार्य और राजगुरु पुष्पसेन देव और अकलंकदेव ने संन्यसन विधि से शरीर त्याग कर मुक्ति का मार्ग प्राप्त किया। परमात्मा के ध्यान में अपने को लगाकर शाश्वत सुख देने वाले पंच नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करते हुए बलिदान मुनि के चरण-कमलों के भ्रमर पुष्पसेन मुनि ने मुक्ति फल प्राप्त किया। आनन्द के साथ संभले हुए पुष्पसेन मुनि ने इच्छापूर्वक देहत्याग किया।

हलेबीड की बस्तिहल्लि में शान्तिनाथेश्वर बसदि के एक पाषाण पर लेख अंकित है कि बालचन्द्र के पुत्र अभयचन्द्र रात को अपने सल्लेखना के समय को जानकर उसकी विधि को धारण कर दिवंगत हुए। यह शिलालेख शक 1201 [1279 ई.] का है।

तवनन्दि में पाँचवें समाधि पाषाण पर एक लेख [ई. 1292] उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार वीर महादेवण के कुल को आनन्दित करने के लिए राम की कुक्षि से दण्डेशु माधव उत्पन्न हुआ था। वह माधवचन्द्र देव के चरण-कमलों का भ्रमर था। उसने तमाम कौटुम्बिक बन्धनों को छोड़कर जिनमन्दिर बनवाकर समाधिमरण पूर्वक स्वर्ग को प्रयाण किया।

हिरे आवली में ध्वस्त जिन बसदि के सामने के पाषाण पर [1295 ई. को] अंकित है कि यादव नारायण भुजबल प्रौढ़ प्रताप चक्रवर्ती रामचन्द्र के विजय राज्य के 23वें वर्ष में जो कि मन्मथ वर्ष का था, श्री मूलसंघ कौडकुन्दान्वय तथा सुराष्ट्रगण के देवनन्दि देव के गृहरथ शिष्य नालप्रभु आवलि काल गवुड समाधि विधि को धारण कर स्वर्ग गया। इसी प्रकार इसी बसदि के सामने के 14वें पाषाण पर [1296 ई. का] किसी के समाधिमरण धारण करने का उल्लेख है। इसी बसदि के सामने के दूसरे पाषाण पर [1296 ई. का] शिरियम गौडि के सकल संन्यसन पूर्वक समाधिमरण का उल्लेख है। इसी बसदि के सामने के दूसरे पाषाण पर [1366 ई. का] अंकित है कि जिस समय विजयनगर और दूसरे समस्त पट्टण नगरों का अधीश्वर अभिनव बुक्क राय राज्य कर रहा था, उस समय सिद्धान्तदेव का गृहरथ शिष्य आवलि बेच गौड के पुत्र चन्दगौड का छोटा भाई संन्यसन और समाधिविधि से मरकर स्वर्ग गया।

तवनन्दि में ही तीसरे समाधिपाषाण पर [1301-1379 ई. का] अंकित है कि जिस समय वीर बुक्क राय के पुत्र हरिहर राय शासन कर रहे थे, उस समय पूष

बदी 3 सोमवार को आब्लुव महाप्रभु 18 कम्पणों का शिरोरत्न महा-प्रभुओं का सूर्य तवनिधि बोम्म गौड संन्यसन की विधिपूर्वक मरकर स्वर्ग को गया।

उदि के तालाब की मोरी के पास के पाषाण {1388 ई.} पर अंकित है कि मुनिभद्र ने हिस्सुगल बसदि को बनवाया और मुलुगुण्ड जिनेन्द्र मन्दिर का विस्तार किया। जिस समय हरिहरराय विजयनगरी में विराजमान थे, सेन गण के वृद्धजनों ने उस यति के गुणों को नमस्कार किया था। तपश्चरण के बाद उन्होंने बहुत समय तक निर्श्चित जीवन बिताया। अन्त में उन्होंने अपना अन्त निकट जानकर विधि का अनुष्ठान करके उच्चावस्था के लिए अपने को तैयार किया तथा चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, शनिवार को संन्यसन की विधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग करके शाश्वत सुख का आनन्द लिया।

हिरे आवलि के 16वें पाषाण [शक 1211-1289 ई.] पर अंकित है कि हिरिय चन्द्रप्प ने संन्यसन विधिपूर्वक समाधि कर स्वर्ग प्राप्त किया। यहीं के 11वें पाषाण पर काल गौड़ के समाधिपूर्वक स्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख है।

हलेसोरब में उसके दक्षिण पूर्व में तालाब के उत्तरीय नष्ट बन्ध के पास के समाधि पाषाण पर [शक सं. 1317-1395 ई.] अंकित है कि सोरब के तम्म गौड को क्षयरोग हो जाने से घट्टों के नीचे नगिलेयकोष्प में दवाई लेने के लिए गया। लेकिन चूँकि बीमारी उसे छोड़ने वाली नहीं थी, अतः वह सिद्धान्तिदेव की आज्ञा के अनुसार पंचनमस्कार के उच्चारणपूर्वक जिन के पादमूल में गया।

हिरे आवली में तीसरे पाषाण [1395 ई.] पर अंकित है कि जिस समय राजधानी हस्तिनापुर-विजयनगर और समस्त पट्टणों के अधीश्वर महाराजाधिराज हरिहर राज्य कर रहे थे, उनके मन्त्री हरिहर राय के समय में फाल्गुन मास की बहुला एकादशी को बुधवार के दिन कानरामण की स्त्री काम गौण्डिने संन्यसन लेकर मृत्यु को प्राप्त हो स्वर्ग गयी।

हुम्मच में पार्श्वनाथ बसदि के मुखमण्डप के तीसरे पाषाण [शक 1321-1399 ई.] पर अंकित है कि होम्युच्च के पायण ने संन्यसन और सल्लेखना के द्वारा अपने को शरीर-भार से मुक्त किया और स्वर्ग प्राप्त किया।

हिरे आवलि में 5वें पाषाण [शक 1321-1399 ई.] पर अंकित है कि हरिहरराय के राज्य में शक वर्ष 1321 आषाढ शुक्ल 12 बुधवार को गौण्डिने संन्यसन विधिपूर्वक समाधि धारण कर स्वर्ग प्राप्त किया।

भारंगी कल्लेश्वर बसदि के पाषाण पर [1337-1415 ई.] अंकित है कि गोष्पण ने समाधि की रस्म से शरीर-त्याग कर स्वर्ग प्राप्त किया।

हिरे आवली में 17वें पाषाण पर अंकित है कि बोम्मि गौण्डि ने शक 1325-

1403 ई. में भाद्रपद बहुल सप्तमी सोमवार रोहिणी नक्षत्र में संन्यसन विधिपूर्वक शरीर के भार को छोड़कर स्वर्ग प्राप्त किया।

हिरे आवलि के 19वें पाषाण पर अंकित है कि शक वर्ष 1339 के चैत्र बहुल 10 गुरुवार को गोपगौण्ड ने समाधि धारण कर स्वर्ग प्राप्त किया।

हदिकल्लु में रते हक्कल के पास के समाधि पाषाण पर कालि गावुण्ड के समाधि धारण कर 1417 ई. में आषाढ शुक्ल 1 बृहस्पतिवार को स्वर्ग प्राप्त करने का वर्णन है।

हिरे आवलि के 20वें पाषाण [शक 1343-1421] पर समाधि के स्मारक का उल्लेख है। यहीं के 18वें पाषाण पर इसी वर्ष फाल्गुन सुदि 4 को भदुक गौंडे की समाधि का उल्लेख है।

मलेयूर (उप्पमवल्लि परगना में पहाड़ी पर स्थित गुण्डीन ब्रह्मदेवरु के मार्ग में) शिलालेख के अनुसार [शक सं. 1735-1813 ई.] देशीयगण के अग्र कनकगिरि के प्राप्त सिंहासन के ईश भट्टाकलंक ने इस टीले पर सुमरणपूर्वक स्वर्गलोक को प्राप्त किया।

शक संवत् 785 में बेंदूर में एक शिलालेख लिखा गया, जिसमें चिक्कण्ण नामक अधिकारी को कुछ भूमि दिए जाने का उल्लेख है। व्रतों का पालन और संन्यसन इनका भी उल्लेख हुआ है। अतः यह समाधिमरण का स्मारक प्रतीत होता है।

चिक्कहनसोगे के 10वीं सदी के एक निषधिलेख में नागकुमार की पत्नी जक्कियब्बे के समाधिमरण का उल्लेख है। यहीं के एक अन्य शिलालेख [10वीं सदी का प्रारम्भ] में गंगराज ऐरेय के समय एलाचार्य के समाधिमरण का तथा उनके शिष्य कल्लेदेव द्वारा उनकी निषधि की स्थापना की उल्लेख है।

उम्मत्तूर [कर्नाटक] के 10वीं सदी के लेख में विमलचन्द्र के शिष्य सोत्तियूर के शासक मारम्मय के पुत्र सिन्दय्य के समाधिमरण का उल्लेख है।

अंकनाथपुर [कर्नाटक] के 10वीं सदी के अंकनाथेश्वर मन्दिर की छत में लगे एक अभिलेख में प्रभाचन्द्र सिद्धान्त भट्टारक की शिष्या देवियब्बे के समाधिमरण का उल्लेख है।

10वीं सदी के कोडिहल्लि शिलालेख में किसी मय्य के समाधिमरण का निर्देश है।

कोप्पल [शायचूर, कर्नाटक] के 108 ई. के शिलालेख में सिंहनन्दि आचार्य के इगिनीमरण तथा उनकी स्मृति में कल्याणकीर्ति द्वारा एक जिनेन्द्र चैत्यालय के निर्माण का उल्लेख है।

बेचारक बोललापुर [कर्नाटक] के शक 935 सन् 1013 के शिलालेख में

माकब्बेगन्ति नामक महिला के समाधिमरण का उल्लेख है।

इसी प्रकार मोख (धारवाड़, कर्नाटक) छवि (जिला धारवाड़, कर्नाटक वनवासि [कर्नाटक] सांगरकट्टे [कर्नाटक] चिक्क मंगलूर [कर्नाटक], बम्बई [महाराष्ट्र], इंगलेश्वर मनोली [जिला-बेलगाँव, कर्नाटक], मावलि [कर्नाटक], रूगि [बीजापुर, कर्नाटक], नेगलूर [धारवाड़, कर्नाटक], इत्तिमतूर [धारवाड़, कर्नाटक], संगूर [धारवाड़, कर्नाटक], मुलुगुन्द [धारवाड़, कर्नाटक], कलकेरी [कर्नाटक] चिप्पगिरि [जिला बेल्लारी कर्नाटक], वरुण [कर्नाटक], मोटेबेन्नूर [धारवाड़, कर्नाटक] साविकेरि [धारवाड़, कर्नाटक], गेरसोप्पे [कर्नाटक] संगूर [धारवाड़, कर्नाटक], हले सोरव [कर्नाटक], तगडूर [कर्नाटक], भटकल [उत्तर कनारा, कर्नाटक], गोरसप्पे [कर्नाटक], सालूर [कर्नाटक], उम्मत्तूर [कर्नाटक], पेनुकोण्ड [अनन्तपुर, आन्ध्र], अंबले [कर्नाटक], बादगट्टि [धारवाड़, कर्नाटक], गुडगुडि [धारवाड़, कर्नाटक], बालेहल्लि [धारवाड़, कर्नाटक], मन्तगि [धारवाड़, कर्नाटक], माकतूर [धारवाड़, कर्नाटक], देबूर [बीजापुर, कर्नाटक], तारेनगल्लु [बिल्लारी, कर्नाटक]; लोकिकेरे [बिल्लारी, कर्नाटक], गरगर्ग [धारवाड़, कर्नाटक], कुंमट [उत्तर कनारा, कर्नाटक], तम्मदहल्लि [अनन्तपुर, आन्ध्र] तथा रामपुरम् [अनन्तपुर, आन्ध्र] के शिलालेखों में भी समाधिमरण के उल्लेख हैं। ये शिलालेख प्रायः 11 से 14वीं सदी ई. के हैं।

शिगवरम् (दक्षिण अकटि, तमिलनाडु) के सातवीं सदी के तमिल शिलालेख में, [जो कि इस ग्राम के तिरुनाथरु कुण्णु नामक चट्टान पर अंकित है] 57 दिन के उपवास के बाद चन्दनन्दि, आशिरिगर के दिवंगत होने का वर्णन है। बस्तिपुर [कर्नाटक] के 10वीं सदी के एक संस्कृत कन्नड अभिलेख में आचार्य पुष्पनन्दि के समाधिमरण का वर्णन है।

बोधन [निजामाबाद, आन्ध्र] के 11वीं सदी के संस्कृत कन्नड स्तम्भ लेख में देवेन्द्र सिद्धान्तमुनीश्वर के शिष्य शुभनन्दि के समाधिमरण का उल्लेख है।

येत्तिनहट्टि [शयचूर, कर्नाटक] के लेख में [जो कि सन् 1194 का है] द्राविड संघ के अजितसेन मुनि के समाधिमरण का वर्णन है।

हिरेंकोनति [धारवाड़, कर्नाटक] के 1271 ई. के कन्नड शिलालेख में सातिसेट्टि की पत्नी के समाधिमरण का उल्लेख है। यहीं के 1278 ई. के कन्नड शिलालेख में जिन भट्टारक के किसी शिष्य के समाधिमरण का उल्लेख है।

इन शिलालेखों के अतिरिक्त सुतकोटि [धारवाड़, कर्नाटक 1283 ई.], अलदगेरि^१ [कर्नाटक 13वीं सदी], हिरैअणजि [धारवाड़, कर्नाटक], केभावी^२ [गुलबर्गा, कर्नाटक, शक 1262], बोरगाव [बिलगाव, कर्नाटक, शक 1322] तथा कडकोल के शिलालेखों में समाधिमरण के उल्लेख हैं।

उपर्युक्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक सल्लेखना का काफी प्रचार था। सल्लेखनाधारी मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सभी होते थे। शिलालेखों में साधारण गृहस्थों द्वारा भी सल्लेखना धारण करने के उदाहरण विपुल हैं। मुनि का तो सारा जीवन ही समाधि की साधना में रत रहता है। सल्लेखना के लिए समाधि, सल्लेखना और संन्यसन इन तीन शब्दों का प्रयोग प्रायः हुआ है। कहीं-कहीं व्रत, उपवास व अनशन द्वारा मरण अथवा स्वर्गारोहण कहा है। एक मुनि ने कटवप्र पर 108 वर्ष तक तपश्चरण कर समाधिमरण किया। सल्लेखना सम्बन्धी इन अभिलेखों, में प्राचीन भारतीय इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इनमें आचार्यों के संघ गण, गच्छ, अन्वय, आम्नाय आदि के उल्लेख हैं। अनेक शिलालेखों में तत्कालीन राजा, सामन्त, सेनापति, महामात्य आदि का उल्लेख हुआ है। कई शिलालेख आचार्यों की परम्परा जानने के लिए उपयोगी हैं। कई में महत्त्वपूर्ण घटनाओं के उल्लेख हैं। इस प्रकार इन अभिलेखों में सल्लेखना के प्रसंग महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे जैनधर्म और संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

सन्दर्भ :-

1. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 1, पृष्ठ 4
2. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 1, पृष्ठ 54-55
3. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 1, (प्रस्तावना, पृष्ठ 61-62)
4. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 164
5. इस शिलालेख में यापनीय संघ कुमुदिगण का उल्लेख है।
6. यहाँ के तीसरे निषधिलेख में सूरस्थ गण-चित्रकूटान्वय का उल्लेख है।
7. यहाँ के शिलालेख में मूलसंघ सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण तथा कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है।



दुनिया

एक साधु के पास चार सज्जन आये और उन्हें दुनिया का अनुभव बताया। पहला— अरे दुनिया बड़ी मक्कार है, हरएक किसी-न-किसी तरह के छल से अपना उल्लू सीधा करने में लगा हुआ है। दूसरा— क्या कहें ! आज दुनिया में इतनी अनीति बढ़ गयी है कि किसी का भी विश्वास नहीं किया जा सकता। तीसरा— दुनिया में सब स्वार्थ के सगे हैं। चौथा— इस दुनिया में सुख व समाधान बिलकुल नहीं। सबकी सुनकर साधु बोले— तो चलो, हम सब संन्यास ले लें। ऐसी दुनिया में लगे रहने से क्या फायदा? आगे साधु क्या कहते हैं— यह सुनने के लिए चारों में से एक भी नहीं ठहरा।

जब प्राण तन से निकलें

ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
नवकार जपते-जपते, मम प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
ये क्रोध मान माया, अरु लोभ जो बताया
चारों कषायें छूटें, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
नहीं बैर हो किसी से, सम भाव होय सबसे
शांति क्षमा हो मन में, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
ये कर्म जो दुखेरे, लागे हैं संग मेरे
इनसे मैं मुक्त होऊँ, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
होवे मरण समाधी, व्यापे न मोह व्याधी
घट में हो ध्यान मेरा, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
वस्तु स्वरूप निरखूँ, प्रभु ! आत्मगुण निहारूँ
निज में हो ध्यान मेरा, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
भक्ती में रत हूँ तेरी, शुद्धात्मा हो मेरी
प्रभु नाम भजते-भजते, मम प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें
कर जोड़ अर्ज मेरी, काटो करम की बेड़ी
सम्यक्त्व होय पैदा, जब प्राण तन से निकलें
ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें



समाधिमरण : जीवन-सुधार की कुंजी

पं. रतनलाल कटारिया

काय और कषायों को कृश करते हुए शान्त भावों से शरीर के त्याग को समाधिमरण कहते हैं। सल्लेखना, संन्यासमरण, अन्त्यविधि, पण्डित मरण, अन्तक्रिया, मृत्यु महोत्सव, आर्याणां महाऋतुः आदि सब इसी के नाम हैं। समाधिमरण धारण करनेवाले को साधक, प्रेयार्थी आदि कहते हैं।

अनेक अपराध करने पर भी अन्त में मनुष्य क्षमा माँगने पर जैसे अपराधों से मुक्त हो जाता है, उसी तरह जीवनभर पापारम्भ करनेवाला भी अगर अन्त समय में समाधि धारण कर लेता है तो अवश्य सुगति का पात्र होता है। 'अन्त भला सो सब भला' की इस बात को जैन ही नहीं जैनैतर सम्प्रदायों में भी महत्त्व दिया गया है। वैदिक पुराणों में अनेक ऐसे आख्यान आते हैं जिनमें अन्त समय में नारायण का नाम लेने वाले पापी भी बैकुण्ठगामी हुए हैं। अजामिल ने सारी जिन्दगी पापकर्म में बिताई परन्तु अन्त समय में नारायण का नाम लेने से वह बैकुण्ठवासी हुआ। इसी बात को जैन-कथाकारों ने भी दूसरे शब्दों में चित्रित किया है। जीवन्धर कुमार ने मरणासन्न कुत्ते को गणोकार मन्त्र दिया तथा तीर्थंकर पार्श्वप्रभु ने अग्नि में जलते हुए दो सर्पों को पंच परमेष्ठी मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह तिर्यच जीव भी देवगति को प्राप्त हुए। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद अपना कार्य पूरा हुआ जानकर सहर्ष मृत्यु का स्वागत करनेवाले भीष्म पितामह की 'इच्छा-मृत्यु' भी जैन-सल्लेखना से मिलती हुई है।

सारी जिन्दगी जप-तप करने पर भी अगर मृत्यु-समय समाधि धारण न की जाये तो सारा जप-तप उसी तरह वृथा होता है जिस तरह विद्यार्थी पूरे वर्ष भर पाठ याद करे और परीक्षा के समय उसे भूल जाये या शस्त्राभ्यासी योद्धा रणक्षेत्र में जाकर कायर बन जाये या कोई दूर देशान्तर से धनोपार्जन करके लाये और उसे गाँव के समीप आकर लुटा बैठे। बिना समाधिमरण के चारित्रवान् भी जीवन के फलहीन वृक्ष की तरह निस्सार होता है। इसी को स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है— समस्त मतावलम्बी तप का फल अन्तक्रिया समाधिमरण पर ही आधारित बताते हैं, अतः पुरुषार्थ भर समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना

चाहिए। भारतीय संस्कृति में जो अन्तःक्रिया पर इतना महत्त्व दिया गया है, उसमें वैज्ञानिक रहस्य है। इससे भारतीय महर्षियों के आत्म तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा जानी जाती है। मृत्यु के समय अगर आत्मा कषायों से सचिक्कण (चीकनी) नहीं होती तो अनायास शरीर त्याग कर देती है और उसे मारणांतिक संक्लेश भी विशेष नहीं होता, उसका मानसिक सन्तुलन ठीक रहता है जिससे स्वेच्छानुसार सद्गति प्राप्त करने में वह समर्थ होती है, और जब सद्गति प्राप्त हो जाती है तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्म भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते, और अगर अन्त समय में परिणाम क्लृप्त हो जाते हैं तो दुर्गति प्राप्त होती है जिसमें पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों को भोगने का अवसर ही नहीं मिलता। इसतरह सारा काता-पीदा कपास हो जाता है और दुर्गति की परम्परा बढ़ जाती है। इससे जाना जा सकता है कि समाधिमरण की जीवन में कितनी महत्ता है। तपे हुए तपः पालन किए हुए व्रत और पढ़े हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में ही है— बिना समाधिमरण ये वृथा हैं।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि जब समाधि-मरण से सब कुछ होता है तो क्यों जप-तप-चारित्र्य की आफत मोल ली जाय, मरण-समय समाधि ग्रहण कर लेते परन्तु ऐसा विचारना ठीक नहीं, क्योंकि सारी जिन्दगी तप और चारित्र्य काय तथा कषाय के कृश करने का अभ्यास इसीलिए किया जाता है कि अन्त समय में परिणाम निर्मल रहे और समाधि ग्रहण करने में सहूलियत रहे। सम्भवतः इसीलिए कुन्दकुन्द आचार्य ने सल्लेखना को शिक्षाव्रत में स्थान देने की दूरदर्शिता की है। समाधिमरण और तप-चारित्र्य में परस्पर कार्य-कारण रूपता है। जब उपसर्ग और अकाल मृत्यु का अवसर आ उपस्थित हो; यथा— सिंहादि क्रूर जन्तुओं का अचानक आक्रमण, सोते हुए घर में भयंकर अग्नि लग जाना, महावन में रास्ता भूल जाना, बीच समुद्र में तूफान से नाव डूबना, विषधर सर्प का काट खाना आदि, तब पूर्वकृत चारित्र्य का अभ्यास ही काम आता है। सारी जिन्दगी चारित्र्य में बितानेवाला अगर अन्त समय में असावधान होकर अपने आत्मधर्म से विमुख हो जाये तो उसका दोष तपः चारित्र्य पर नहीं है। यह तो उसके पुरुषार्थ की हीनता और अभ्यास की कमी है या बुद्धि विकार है। इसे ही तो 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' कहते हैं।

समाधिमरण का इच्छुक मृत्यु से भयभीत नहीं होता। वह अच्छी तरह समझता है कि मरण आत्मा का नाश नहीं है, मरण तो दूसरा जन्म धारण करने को कहते हैं। वह मृत्यु को महोत्सव समझता है। इसे आत्मा का शरीर के साथ विवाह समझता है। शरीर का शरीर के साथ विवाह तो लौकिक है, वह इसे अलौकिक विवाह समझता है और इसतरह मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करता है। तेलहीन दीप, दग्ध रज्जु तथा वृक्ष के सूखे हुए पत्ते की तरह जीर्ण और शिथिल शरीररूपी नौकर को जब वह

अपने चारित्र-साधन के लिए अयोग्य समझता है तो उसे पेंशन देकर दूसरे योग्य नौकर (शरीर) का प्रबन्ध करता है। इतनी उदात्त भूमिका पर स्थित साधक कभी कायर नहीं हो सकता, वह तो परम शूर, आत्मविजयी मृत्युंजयी है।

आत्मघात (विष खाकर, तालाब कुएँ आदि में डूबकर, स्वयं फाँसी लगाकर या शस्त्रास्त्र से अपनी जीवन-लीला समाप्त करना), सती-प्रथा (मृत पति के साथ चिता में जल जाना), आमरण अनशन (अपनी किसी माँग की पूर्ति के लिए आहार त्याग करना मरण पर्यन्त) आदि समाधिमरण की कोटि में नहीं आ सकते। समाधिमरण और आत्मघात में आकाश-पाताल, कांच-हीरा, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात और ३-६ के अंक की तरह महान् अन्तर है। ये कषायों की तीव्रता से, स्वार्थ की भावना से कलुषित हृदय से किए जाते हैं, जबकि समाधिमरण शान्त परिणामों से विवेकपूर्वक बिना किसी वांछा के किया जाता है। ❖❖

अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी

अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी, तेरे मन में जितनी उठीं कामनाएँ।
भला कामनाओं का क्या है ठिकाना, कभी एक जाए कभी चार आएँ॥
नई चाह जब-जब कभी द्वार आयीं, भली आदतों के चरण डगमगाए।
ये आँधी-सी बन साथ तूफान लायी, अगर जाती बरसाती बोझिल घटाएँ॥
ये ठगिया है नागिन-सी विष की भरी है, डसा इसका पानी भी न माँग पाए।
अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी, तेरे मन में जितनी उठीं कामनाएँ॥
कहाँ दौड़ते हो, तनिक तो विचारो, क्या छाया भी हाथों किसी के है आयी।
जितना पकड़ने को दौड़ोगे इसको, ये उतनी ही दूरी पे-देगी दिखाई॥
हविश छोड़ इसकी तनिक मुँह, तो मोड़ो, ये पीछे चलेगी बिना ही बुलाए।
अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी, तेरे मन में जितनी उठीं कामनाएँ॥
न जाने कहाँ मन चले कारवाँ का, कहाँ दिन उगेगा कहाँ शाम होगी।
इसके फरेबों में हरगिज न आना, तेरी हरित सचमुच ही बदनाम होगी।
इसी राह से इसकी दुनिया मिटेगी, जहाँ ये कहे तू वहाँ पै न जाए।
अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी, तेरे मन में जितनी उठीं कामनाएँ॥
अरे तू प्रभु था, न साथी ये होतीं, कि पतझड़ में तूने बहारें लुटा दीं।
तू अनमोल हीरा लगी इतनी कालिख, कि अनजान बन के कीमत घटा दी।
धिसटता रहा बनके पंगु अभी तक, तुझे पाँव अपने हिलाने न आए।
अरे मन समुन्दर में लहरें न उतनी, तेरे मन में जितनी उठीं कामनाएँ॥

सल्लेखना की विधि

पं. मनोहरलाल शास्त्री

इस भव में मरण के समय होनेवाली सल्लेखना को बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा शरीर और कषाय को अच्छी तरह कृश (क्षीण) करने को शास्त्रों (भगवती आराधना, मूलाचारादि) में कही हुई विधि के अनुसार चतुर्गति के दुःखों से मुक्त होने वाले जीवों को अवश्य ही धारण करना चाहिए।

जिसप्रकार बहुमूल्य और परिश्रम से निर्मित मन्दिर की श्री (शोभा) सुवर्ण कलश बिना शून्य कही जाती है, उसी प्रकार अनेक घोर तपश्चरणों द्वारा साधित व्रतरूप सुवर्ण-मन्दिर पर सल्लेखना रूप रत्नत्रय कलश के आरोहण बिना सब व्यर्थ कही गई है। यहाँ पर सल्लेखना के दो भेद हैं— एक काय सल्लेखना, दूसरी कषाय सल्लेखना। जिसका कोई प्रतिकार नहीं ऐसा उपसर्ग आ जाने पर, दुर्भिक्ष होने पर, जरा (बुढ़ापा) आने पर, रोग हो जाने पर, धर्म की रक्षा के अर्थ शरीर का त्याग करना गणधर देव ने सल्लेखना कही है। पूर्वजन्म-वैरी असुरादि देवकृत, दुष्ट वैरी भील चण्डालादि मनुष्य कृत तथा दुष्ट सिंह व्याघ्र गज सर्पादि तिर्यच कृत उपसर्ग आने पर अथवा प्राणनाशक घोर वृष्टि, पवन, शीत, उष्ण, अग्नि, पाषाण आदि द्वारा उपसर्ग आने पर, दुष्ट धर्मद्रोही राजा मन्त्री इत्यादि कृत उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष के समय अन्न-पानादि के मिलने पर, नेत्र-कर्णादि इन्द्रियाँ शिथिल होने पर, वृद्धावस्था में शरीर की शिथिलता होने पर तथा तीव्र असाता कर्म के उदय से ज्वर अतिसार-प्यास कास कफ अग्निमन्दता रुधिर-विकार रक्तक्षय आदि प्रबल व्याधियाँ प्रतिदिन वृद्धि को होते देख धैर्य धारण कर चार प्रकार की आराधना के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करते हुए संसार और देह के स्वरूप की अनित्यता पर पूर्ण विचार कर संसार-परिभ्रमण से रक्षा करनेवाला जो रत्नत्रय रूप धर्म वह परलोक पर्यन्त मलिन न हो जाए— ऐसा निश्चय कर देह और भोगों से निर्मम होकर पण्डित-मरण के प्रति सोत्साह प्रयत्न करे।

“तिविहं भणियं मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।

तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।।” —मूलाचार

मूलाचार में मरण के तीन भेद बतलाये गये हैं— 1. बाल मरण 2. बालपण्डित मरण 3. पण्डित मरण। अन्य ग्रन्थों में बालबाल मरण, पण्डितपण्डित मरण के भेद से पाँच प्रकार के भी मरण कहे गये हैं। उनमें से बालबाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है। असंयमी सम्यग्दृष्टि के बाल मरण, संयतासंयत के बालपण्डित मरण, पण्डित मरण संयमी मुनि के और पण्डितपण्डित मरण केवली के होता है।

“भक्तपङ्णा इंगिणि पाउवग्गणाणि जाणि मरणाणि ।

अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकखाणि ।।” —मूलाचार

मरण पर्यन्त चार प्रकार के आहार का त्याग करना निराकांक्ष अनशन तप है। उसके मुख्य तीन भेद हैं :— 1. भक्त प्रतिज्ञा 2. इंगिनी मरण 3. प्रायोपगमन मरण।

जिसमें दो से लेकर 48 तक निर्यापक मुनि, जिसकी शरीर-सेवा (वैयावृत्ति) करें तथा आप भी अपने अंगों से शरीर की टहल करे— ऐसे मुनि के आहार का त्याग यह भक्तप्रतिज्ञा है। जिसमें पर के उपकार की इच्छा न हो वह इंगिनी मरण है और जिसमें अपने और पर दोनों की अपेक्षा न हो अर्थात् जो न दूसरों से शरीर सेवा (वैयावृत्ति) करावे और न स्वयं करे वह प्रायोपगमन मरण है।

कुछ लोगों का मानना है कि सल्लेखना में आत्मघात का पाप है क्योंकि भूख-प्यास आदि द्वारा आत्मा को क्लेशित किया जाता है, परन्तु आचार्य कहते हैं नहीं, अप्रभित्त्वात् प्रमादाभाव (कषाय का सर्वथा अभाव) होने से। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोषणं हिसेत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति, कुतः रागाद्यभावात्। रागद्वेषमोहादिविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरण-योगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति, न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो न आत्मवधदोषः। प्रमाद (कषाय) के योग से दश प्रकार के प्राणों का वियोग (घात) करना हिंसा कही गई है, 'सो सल्लेखना में तो कषाय रंचमात्र भी नहीं है; क्योंकि सर्वथा उसमें राग-द्वेष-मोहादि का अभाव है। जो राग-द्वेष-मोहादि-युक्त आत्मा (जीव) है सो विष-भक्षण, शस्त्रादि उपकरणों से स्वघात करता है। इसलिए सल्लेखना धारण करनेवाले के रागद्वेषादि न होने से आत्मघात का सर्वथा अभाव ही है।

“सहगामी कृतं येन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।

समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ।।”

जिसने संसार को समूल नाश करनेवाले रत्नत्रय की एकाग्रतापूर्वक प्राण त्याग करने रूप समाधिमरण को धारण किया, उसने व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय को दूसरे भव में साथ ले जाने के लिए साथ-साथ चलनेवाला अपना सहयोगी बनाया।

“अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।

तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं ।।”

अन्तक्रिया (संन्यासमरण) जिसका आधार है उस तप के फल की सकलदर्शी

(सर्वज्ञ) भगवान प्रशंसा करते हैं। जिस तप करनेवाले को तप के फल से अन्त में संन्यास नहीं हुआ वह तप निष्फल कहा गया है। तप, व्रत, संयम करने के फल लोक में अनेक हैं। स्वर्ग में देव-अहमिन्द्रादि, मनुष्यों में चक्रवर्ती नारायण बलभद्रादि विभव सम्पन्न निरोगतादि बहुत हैं, परन्तु अन्त में समाधिमरण बिना सब व्यर्थ है।

“आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विदुर्द्धयेत्पानं।

स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः।।

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।

पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन।।”

क्रम से अपनी आयु का विचार कर देह इन्द्रियों से निर्भय होकर आहारादि के स्वाद से विरक्त होकर चिन्तवन करें।

“जइ उप्पज्जइ दुक्खं तो दहो सभावदो नरके (गिरये)।

कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण।।” —मूलाचार

यदि संन्यास के समय क्षुधादिक दुःख उत्पन्न हो तो नरक के स्वरूप का चिन्तवन करना कि जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण करते हुए मैंने कौन से दुःख नहीं भोगे।

“संसार चक्कबालम्मि मए सब्बेपि पोग्गला बहुसो।

आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तिच्ची।।” —मूलाचार।

संसार-चक्र में भ्रमण करते हुए मैंने दही, गुड़, शक्कर, चावल, जलादि सभी पुद्गल बहुत बार भक्षण किये, तो भी मेरे तृप्ति (सन्तोष) नहीं हुई।

- संसार-परिभ्रमण करते हुए इतना आहार किया कि जो एकत्रित किया जाये तो अनेक सुमेरु प्रमाण हो जाये और अनन्त जन्मों में इतना जल पिया कि यदि संग्रह किया जाये तो अगणित समुद्र भर जाये। सोचो, जब इतने अन्न और जल से तृप्ति नहीं हुई तो फिर भला व्रत सम्पन्न निकट मरण के समय थोड़े से अन्न-जल से कैसे तृप्ति हो सकती है? इस संन्यास के शुभ अवसर पर यदि आहारादि की तरफ मन चलायमान किया तो समस्त व्रत संयम धर्म बिगड़ कर संसार का पात्र बनेगा, ऐसा विचार कर धीरे-धीरे कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, कभी एक बार, कभी आहार लेता हुआ, कभी नीरस, कभी ऊनोदर, इसप्रकार क्रम से अपनी शक्ति और आयु की स्थिति अनुसार आहार को कम करके दुग्धादि पान करे फिर दुग्धादि को छोड़कर छाछ और गरम जल को ग्रहण करे। अन्त में जलादि समस्त आहारों का त्याग कर उसकी शान्ति के लिए परम वीतराग का शरण ग्रहण कर बल और उत्साह को प्रगट करते हुए असाता कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली वेदना (क्षुधा-तृषा-रोगादि) को सावधानी से आत्मा के सम्यक् स्वभाव का चिन्तवन करे।

- पूर्वकाल में महावीर धीर-वीर परम तपस्वी साधुओं के ऊपर कैसे-कैसे तीव्र

उपसर्ग हुए? तत्काल के दीक्षित कोमलांग सुकुमार मुनि को स्यालनी ने 3 दिन पर्यंत शरीर भक्षण किया, परन्तु समाधि से विचलित नहीं हुए। गजकुमार मुनि को पूर्व जन्म के वैरी ने समस्त अंग में कीलें ठोक दी थी। भद्रबाहु मुनि को तीव्र क्षुधा रोग हो गया, परन्तु प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुए। काकन्दी नगरी में अभयघोष मुनि को पूर्व-जन्म के वैरी ने समस्त शरीर में कीलें ठोक कर चालनी की तरह शरीर कर दिया, परन्तु समाधि से चलित नहीं हुए। ऐसे-ऐसे महान् तपस्वी साधुओं का कोई सहायी नहीं हुआ? क्या उनसे अधिक वेदना है? कैसे दुःखी होते हो? तुम पर तो कोई उपसर्ग भी नहीं हुआ है, तुम्हारे समीप में सावधानी के लिए विद्वान् साधर्मिजन उपरिथत हैं। धैर्य धारण करो, भगवान् वीतराग के वचन-रूप ओषधि का पान करो। देखो, आगम में कहा है—

“जिनवयणमोसहमिणं विसमसुहविरयणं अमिदभूदं।

जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।” —मूलाचार

ये जिनवचन रूप ओषधि इन्द्रिय-जनित विषय-सुखों का विरेचन करनेवाली है, अमृत स्वरूप है और जरा-मरण-व्याधि-वेदना आदि सब दुःखों का नाश करनेवाली है।

इसप्रकार पंचपरमेष्ठी का ध्यान करता हुआ शरीर का त्याग करे सों काय-सल्लेखना हैं। साथ ही में राग-द्वेष-मोहादि कषायों का कृश (क्षीण करना, जीतना) कषाय-सल्लेखना है। अन्तरंग में कषायों की सल्लेखना बिना काय-सल्लेखना व्यर्थ है, क्योंकि शरीर क्षीण तो रोगादि द्वारा व पराधीनता से सबके हो सकता है, इसलिए क्रोधादि कषायों को जिन्होंने जीत लिया है, वे ही सल्लेखना-धारण में विजय प्राप्त कर सकते हैं। विषय-कषाय-युक्त आत्मा सल्लेखना का पात्र नहीं हो सकता है। आचार्यों ने आराधक का स्वरूप इसप्रकार बतलाया है—

“णिम्ममो णिरहंकारो णिवक्साओ जिदिदिओ धीरो।

अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरतो आराहओ होइ।।” —मूलाचार

जो चेतन-अचेतन परवस्तु में ममता-रहित हो, अभिमान-रहित हो, क्रोधादि कषाय रहित हो, जितेन्द्रिय हो, पराक्रम-सहित हो, शिथिल न हो, रोगों की वांछा से रहित हो और सम्यग्दर्शन को भलीभाँति प्राप्त किया है— ऐसा आराधक ही समाधि का पात्र हो सकता है।

“आराहण उवजुत्तो कालं कारुण सुविहिओ सम्मं।

उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण म लहइ निव्वाणं।।” —मूलाचार

सम्यग्दर्शनादि चार आराधना से उपयुक्त आत्मा, अतिचार रहित आचरण करनेवाला मुनि अच्छी तरह मरण कर उत्कृष्ट तीन भव प्राप्त कर निर्वाण (मोक्ष) पद को प्राप्त होता है। ❖❖

सल्लेखना आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं

ॐ पं. फूलचन्द जैन बरैया

यह तो ध्रुव सत्य है कि भारत सदा से आध्यात्मिक विद्या का केन्द्र बिन्दु रहा है। इसका मुख्य हेतु यही है कि यहाँ के मुमुक्षु श्रमण सन्तों ने जीवन के उद्देश्य को विनाशक जग के भोग और उपभोग की विषय-सामग्री में न देखकर इनके त्याग और आत्मसाधना में देखा। इस प्राप्य क्षणभंगुर शरीर को केवल हाड-मांस का पिंजर ही न समझा, किन्तु इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के दिव्य प्रकाशमयी करण्ड को प्राप्त किया। ईसी परम्परा में चारित्र्यकवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज थे जिन्होंने अपनी प्रखर आध्यात्मिक विद्या के बल पर समाधिमरण किया और विश्व के समक्ष एक परम अनुपम आदर्श उपस्थित किया। यह है उनके वास्तविक मूल्य की परख। निःसन्देह पूज्यश्री ने मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त किया। यह है उनके स्वात्मानुभूतिपूर्वक सल्लेखना का सुप्रतिफल।

यह सैद्धान्तिक सिद्ध है कि मानव पर्याय अमूल्य पर्याय है, इसकी समानता अन्य पर्याय नहीं कर सकती, यह महान पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त होती है, इसको देवदुर्लभ भी कहें तो कोई अनुचित न होगा। इस पर्याय में ही दुःख की अन्तिम अवरथा की निवृत्ति हो सकती है, अन्य में नहीं— यह है इसकी विशेषता तथा अनुपमता। यों तो जीव सदैव अनेक बार इस संसार में जन्म-मरण करता रहा है और करता ही रहेगा, किन्तु बुद्धि तो इसी में है कि इस महान् दुर्लभ मानव शरीर को पाकर इस मरण के दुःख से छुटकारा हो। मृत्यु कब आ जाये—इसका कोई निश्चित समय नहीं, अतः इस पर्याय को सफल बनाने के लिए सर्वदा कठोर व्रत, तप आदि की ओर सन्मुख होना चाहिए। आगमानुसार मरण के समय सल्लेखनापूर्वक प्राणों का उत्सर्ग करें, यह जीवन के कल्याण और मुक्ति का उत्कृष्ट साधन सिद्धान्त में लिखा है— 'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता' जब यह भलीप्रकार विदित हो जाये कि मरण-काल आ ही चुका है तो उस समय का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि श्रावक निःशल्य होकर निःकषाय भावों से, मरने-जीने की, मित्र-अनुराग, सुख-प्राप्ति और निदान की कांक्षा रहित होकर प्राणों को छोड़े।

मरण के वेत्ताओं ने मरण के अनेक भेद बताये हैं। भगवती आराधना में 17 प्रकार के मरण-भेदों का विशद विवेचन किया है। तात्पर्य प्रयोजनार्थ तो यहाँ यह लिखना उपयुक्त प्रतीत होता है— 'स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्'। जीव अपने परिणामों से जितने काल के लिए आयु कर्म का बन्ध करता है, उसी के अन्तिम समय को प्राप्त करनेवाली आयु और इन्द्रिय, बल, मन, वचन, काय इन बलों का किन्हीं कारणों से विनष्ट हो जाना मरण कहलाता है। यही विद्वानों ने मरण का स्वरूप माना है। एक-इन्द्रिय जीव के चार प्राण से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के दस प्राण होते हैं। इसप्रकार जीव के जितने प्राण होते हैं उनका क्षय होना मरण कहलाता है। इसी की पुनः पुष्टि करते हैं— 'अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्'। —राजवार्तिक

मरण के प्रयोजनार्थ दो भेद बताये हैं— एक तो नित्य मरण, दूसरा तद्भवमरण। नित्य मरण का तात्पर्य यह है कि जिस जीव ने जितने आयु कर्म को बाँधा है उतनी अवधि के लिए और उसी समय तक आयुकर्म पुद्गल परमाणु उदय में आते रहे सो क्षण-क्षण में अपनी आयु, इन्द्रिय, शरीरादि के निषेक हैं वे समाप्त होते जाते हैं, वह नित्य मरण कहलाता है। इसमें इतना विशेष अवश्य है कि आयु कर्म के पुद्गल परमाणु क्रम-क्रम से खिरते हैं और उनका खिरना तभी तक होता है जबतक उनके मध्य काल में किसी कारणवश उदीरणा न होवे। अतः यह अन्त मरण हो जाता है। तद्भव मरण का अर्थ है कि दूसरे भव प्राप्ति के क्षण में ही पूर्व भव का विनाश हो जाना। जब आयु कर्म के निषेक निःशेष रह जाते हैं वही अन्त का मरण है। मरण का अर्थ तद्भव मरण का ही है अर्थात् जो मरण के समय सल्लेखना ली जाती है वह मरण काल की कहलाता है। मरण का समानार्थ पर्याय त्यागना है। यह प्रत्येक जीव के साथ सम्बन्धित है। केवली या छद्मस्थ सम्पूर्ण जीव आयु कर्म के द्वारा शरीर का सम्बन्ध पाते हैं और उसी कर्म के क्षय के साथ-साथ शरीर को छोड़ते हैं। अतः इस दृष्टि से सबका मरण कहना अनुचित नहीं। इसमें विशेषता इतनी अवश्य है कि केवली तो प्राप्त शरीर को छोड़कर पुनः नवीन अंग को धारण नहीं करते हैं जबकि अल्पज्ञ पूर्व शरीर को त्यागते ही क्षण भर में अन्य नवीन शरीर धारण कर लेते हैं। केवली का पुनः मरण नहीं होता है। वे अजर-अमर हों जाते हैं किन्तु अल्पज्ञ पुनः मरण करता है। अतः मरण पुनः-पुनः जन्म-मरण का निमित्त है। अनेक रोगों से पीड़ित और अनेक कष्टों से ग्रसित छोटे से छोटा जीव भी मरण से व्याकुल होता है, अतः इस महान् दुःख से छुटकारा पाने का एकमात्र मुख्य उपाय समाधिमरण ही है, जो इस महान् कष्टदायक रोग मरण की परमौषधि है।

जब साधक को निश्चयपूर्वक यह ज्ञात हो जाता है कि आयु का अन्त आ गया है उसी समय वह आत्मा की शुद्धि, निर्मलता एवं कषायों को दूर करने के लिए

प्रीतिपूर्वक सल्लेखना को धारण करता है। जब प्राण जाने के कारण उपरिथत हो जायें तो यदि निःकषाय भाव से ही प्राण निकलें तो कल्याण ही है। इसमें तो आत्मा की विशुद्धता की जागृति ही है। सल्लेखना का विधान सर्वप्रकार से हितकारी ही है। बिना आशा तथा उपाय से, कण्ट, दुष्काल, वृद्धापन और रोग आदि आने पर रत्नत्रय स्वरूप धर्म को विधिवत् पालन हेतु शरीर त्यागना सल्लेखना या समाधिमरण कहलाता है। ध्यान, योग आदि पर्यायवाची शब्द हैं।

जिस आत्मा में राग-द्वेष की ग्रन्थि हो तो वस्तुतः उसका समाधिमरण आत्महत्या ही है। राग, द्वेष, मोह, लज्जा, क्रोध, लालच, बड़प्पन, भय, आदि से तप करना, समाधि लेना, पहाड़ से गिरना, अग्नि में जलना, रेल में दबना, विष खाना, शस्त्र-अस्त्र से घात करना आदि कृत्य आत्महत्या ही है। जब तक उक्त विचार आत्मा को विकृत करते रहेंगे तब तक आत्मशान्ति की आशा करना व्यर्थ है। समाधि भूखों मरना नहीं है, समाधि शरीर कमजोर करना नहीं है, वह तो शुद्ध आत्मभाव का अन्वेषण, शुद्धात्म का चिन्तन, शुद्धात्मतत्त्व के अविकारी भावों की जागृति, शाश्वत सुख की खोज, स्वरूप में रमण, अहिंसादि महाव्रतों की अडिग प्रतिज्ञा का पालन, ध्यान, ध्याता, ध्येय की एकता का प्रकाश, मोक्ष की श्रेणी है। यदि सयमी सम्यग् प्रकार सल्लेखना धारण करे तो नियम से मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यहाँ तक वज्रऋषभनाराच संहनन वाला तो उसी भव से मुक्ति-रमणी का स्वामी होता ही है अतः युक्तियुक्त-समाधिमरण आत्मोपकारी ही है। 'रागात् अभावात्।' जहाँ राग-द्वेष है वहाँ हिंसा है और जहाँ राग-द्वेष नहीं वहाँ हिंसा नहीं, किन्तु अहिंसा ही है। आत्मा में राग-द्वेषादि विभाव की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है तथा उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यही अहिंसा-हिंसा का लक्षण है तो समाधिमरण करनेवाला व्रती तो राग-द्वेष के नाश के अभिप्राय से एवं वीतराग भावों से अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है तो फिर आत्मवध का दोष कैसा? वहाँ तो वीतरागता का उज्ज्वल प्रकाश, आत्मा की विशुद्धता, शुद्ध भावों का अनुपम स्रोत, आत्मा के स्वभावरूप परिणमन है, अतः सल्लेखना को अषघात कहना आगम विरुद्ध है।

“अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः।

अहिंसा तत्परित्यागो व्रत धर्मोऽथवा किल ॥ 755 ॥” —पंचाध्यायी

यह तो सर्वमान्य है कि स्व या पर के प्रति हृदय में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। प्रथम तो जो प्राणी राग-द्वेष करेगा उसके आत्मा में तत्क्षण इसके प्रभाव से भाव विकृत हो जायेंगे। जिस पदार्थ में राग है उसके वियोग में द्वेष अवश्य होगा और जिसमें द्वेष है उसके नष्ट-भ्रष्ट के मानने में क्रोधादि भावों का सद्भाव सदैव रहेगा। वह नियम से किसी का पालन, किसी का ताड़न, किसी का घात, किसी का हरण

आदि क्रियायें करता रहेगा। क्रोध, मोह, लालच, भय, ईर्ष्या, निन्दा, घात, अपघात, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि राग-द्वेष की ही सन्तान हैं। इनके सद्भाव में नियम से हिंसा ही है। स्व और पर की आत्मा में विकृतभावों का उत्पाद होना ही हिंसा है। जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य कदापि नहीं हो सकता।

रागादि के त्याग में ही अहिंसा, धर्म और व्रत होते हैं। जब सम्पूर्ण रागादि के अभाव में ही सल्लेखना होती है तो सल्लेखना अपघात, अधर्म कैसा? 'मरणस्यानिष्टत्वात्' यथा कोई वणिक स्वघर में अग्नि लगते देखकर कि अब मेरा घर न बच सकेगा तो वह प्रयत्नशील होकर घर में रखी हुई, अमूल्य वस्तुओं की रक्षा करने में सन्नद्ध हो जाता है। बस इसी प्रकार जब व्रती को पूर्णरूपेण यह विदित हो जाता है कि अब मेरा शरीर अधिक जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और शीघ्र नष्ट हो जानेवाला है तो वह अपने इस क्षणिक शरीर की चिन्ता न कर अमूल्य आत्मिक गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र की रक्षा के लिए राग-द्वेष-मोहादि को नाश करते हैं तथा अन्तकाल के समय का मूल्य समझकर समाधिमरण लेकर चिर शान्ति प्राप्त करते हैं। 'उभयानभिसंधानात्'। जिसप्रकार एक सन्त रागादि भाव को छोड़ता हुआ आत्मचिन्तन में लीन होता है, वह घोर तपश्चर्या करता है, वह तो स्वयं दुःखों का आह्वान करता है। शीत, उष्ण आदि के घोर उपसर्ग उपस्थित होते हैं, किन्तु वह अप्रमत्त है। वह तो शुद्धात्म तत्त्व का अडिग खोजक सदैव अपने शुद्ध परिणामों की सम्भाल करता है। क्षणिक शरीर में उसका तनिक भी मोह नहीं होता है। यह है एक सन्त की वीतरागता में अडिग श्रद्धा — इसप्रकार अप्रमत्त होता हुआ निर्दोष समाधिमरण करता है जो सर्वथा आत्मोपकारी है। 'स्वसमयविरोधात्'। जो अनात्मवादी हैं उनके मत में आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वे सल्लेखना को अपघात कहते हैं। यह दोष उनका स्ववचन-विरोधी है क्योंकि जब आत्म तत्त्व का कोई अस्तित्व ही नहीं तो अपघात किसका, पर्याय परिवर्तन किसका? अन्य दर्शन वाले आत्मा को निष्क्रिय मानें और सल्लेखना को अपघात का दोष दें तो उनका कथन भी मिथ्या ही है। अपने माने हुए सिद्धान्त का विरोध करना ही है। जो आत्मा क्रिया रहित है तो फिर उसका वध कैसा, क्रिया रहित आत्मा का वध तो होता ही नहीं। निष्क्रिय आत्मा में वध का दोष देना अनुचित है। आत्मा का वध मानने में आत्मा को सक्रिय मानना होता है। ऐसी स्वीकारता में निष्क्रिय प्रतिज्ञा भंग होती है, अतः उनके निष्क्रिय सिद्धान्त से सल्लेखना में अपघात का उपालंभ निर्दोष टहरता है। उक्त दर्शन ने पदार्थों की व्यवस्था इसप्रकार मान रखी है जिससे उनका विरोध उनके सिद्धान्त का घातक होता है; अतः यह ध्रुव सत्य है कि सल्लेखना (समाधिमरण) आत्मरक्षा ही है, आत्महत्या नहीं। ❖❖

सल्लेखना एवं भारतीय दण्ड-विधान

✍ अनुपचन्द्र जैन एडवोकेट

सल्लेखना का अर्थ

सल्लेखना (सत्+लेखना) अर्थात् काय और कषायों को अच्छी तरह से कृश करना सल्लेखना है। इसे ही समाधिमरण भी कहते हैं। मृत्यु के सन्निकट होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देहत्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है। जैन साधक मानव-शरीर को अपनी साधना का साधन मानते हुए, जीवन पर्यन्त उसका अपेक्षित रक्षण करता है, किन्तु अत्यन्त बुढ़ापा, इन्द्रियों की शिथिलता, अत्यधिक दुर्बलता अथवा मरण के अन्य कोई कारण उपस्थित होने पर जब शरीर उसके संयम में साधक न होकर बाधक दिखने लगता है, तब उसे अपना शरीर अपने लिए ही भारभूत-सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में वह सोचता है कि यह शरीर तो मैं कई बार प्राप्त कर चुका हूँ, इसके विनष्ट होने पर भी यह पुनः मिल सकता है। शरीर के छूट जाने पर मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होगा, किन्तु जो व्रत, संयम और धर्म मैंने धारण किये हैं, ये मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं। बड़ी दुर्लभता से इन्हें मैंने प्राप्त किया है। इनकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। इन पर किसी प्रकार की आँच न आये, ऐसे प्रयास मुझे करने चाहिए, ताकि मुझे बार-बार शरीर धारण न करना पड़े और मैं अपने अभीष्ट सुख को प्राप्त कर सकूँ। यह सोचकर वह बिना किसी विषाद के प्रसन्नतापूर्वक आत्मचिन्तन के साथ आहार आदि का क्रमशः परित्याग कर देहोत्सर्ग करने को उत्सुक होता है, इसी का नाम सल्लेखना है।

सल्लेखना का महत्त्व

सल्लेखना को साधना की अन्तिम क्रिया कहा गया है। अन्तिम क्रिया यानि मृत्यु के समय की क्रिया, इसे सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके संन्यास धारण करना—यही जीवन भर के तप का फल है। जिस प्रकार वर्ष भर विद्यालय में जाकर अध्ययन करने वाला विद्यार्थी यदि परीक्षा में नहीं बैठता तो उसकी वर्ष भर की पढ़ाई निरर्थक हो जाती है, उसी प्रकार जीवन भर साधना करते रहने के उपरान्त भी यदि सल्लेखनापूर्वक मरण नहीं हो पाता है तो साधना

का वास्तविक फल नहीं मिल पाता। इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना अवश्य करनी चाहिए। मुनि और श्रावक दोनों के लिए सल्लेखना अनिवार्य है। यथाशक्ति इसके लिए प्रयास भी करना चाहिए। जिसप्रकार युद्ध का अभ्यासी पुरुष रणांगण में सफलता प्राप्त करता है, उसी प्रकार पूर्व में किए गए अभ्यास के बल पर ही सल्लेखना प्राप्त होती है। अतः जब तक भय का अभाव नहीं होता, तब तक हमें प्रतिसमय सफलतापूर्वक मरण हो, इसप्रकार का भाव और पुरुषार्थ करना चाहिए। वस्तुतः सल्लेखना के बिना साधना अधूरी है। जिस प्रकार मन्दिर के निर्माण के बाद जब तक उस पर कलशारोहण नहीं होता, तब तक वह शोभास्पद नहीं लगता, उसी प्रकार जीवन भर की साधना, सल्लेखना के बिना अधूरी रह जाती है। सल्लेखना साधना के मण्डप पर किया जाने वाला कलशारोहण है।

मरण के भेद

मरणं द्वित्रिचतुःपञ्चविधं वा मरणं दो, तीन, चार अथवा पाँच प्रकार का है।

मरण के दो प्रकार :— नित्यमरण और तद्भव मरण के भेद से मरण दो प्रकार का है। प्रतिसमय आयु आदि प्राणों का क्षीण होते रहना नित्यमरण है। इसे अवीधि मरण भी कहते हैं। आयु के पूर्ण होने पर होने वाला मरण तद्भव मरण कहलाता है।

मरण के तीन प्रकार :— भक्त-प्रत्याख्यान-मरण, इंगिनी-मरण और प्रायोगमन-मरण, मरण के तीन भेद हैं। स्व-पर की वैयावृत्तिपूर्वक होने वाली सल्लेखना अथवा समाधिमरण को भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसमें आहार आदि का क्रमशः त्याग करते हुए शरीर और कषायों को कृश किया जाता है। जिस सल्लेखना में पर की वैयावृत्ति स्वीकार नहीं होती उसकी इंगिनीमरण संज्ञा है। इस विधि से सल्लेखना धारण करने वाले साधक दूसरों की कोई भी सेवा स्वीकार नहीं करते। अपनी और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित सल्लेखना को प्रायोगमन मरण कहते हैं। इस विधि से समाधिमरण करने वाले साधक दूसरों की सेवा तो स्वीकारते ही नहीं, स्वयं भी किसी प्रकार का उपचार (प्रतीकार) नहीं करते। वे सल्लेखना धारण करते समय जिन स्थिति या मुद्रा में रहते हैं, अन्त तक वैसे ही रहते हैं, अपने हाथ-पैर तक नहीं हिलाते। वे सभी प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते हैं। उत्तम संहननधारी मुनिराज ही इस विधि से सल्लेखना धारण करते हैं।

मरण के चार प्रकार :— 1. सम्यक्त्वमरण 2. समाधिमरण 3. पण्डितमरण 4. वीरमरण सम्यक्त्व के छूटे बिना होने वाला मरण सम्यक्त्व मरण है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के साथ होने वाले मरण को समाधिमरण कहते हैं। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी अथवा प्रायोगमन विधि से होने वाला मरण पण्डितमरण कहलाता है। धैर्य और उत्साह के साथ भेदविज्ञान पूर्वक होने वाले मरण की वीर मरण संज्ञा है।

मरण के पाँच प्रकार :- 1. बालबाल-मरण 2. बाल-मरण 3. बालपण्डित-मरण
4. पण्डित-मरण 5. पण्डितपण्डित-मरण — मरण के ये पाँच प्रकार हैं।

मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण बाल-बालमरण है। असंयत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण कहलाता है। देशव्रती श्रावक के मरण को बालपण्डित मरण कहते हैं। चारों आराधनाओं से युक्त निर्ग्रन्थ मुनियों के मरण का नाम पण्डित मरण है तथा केवलज्ञानी भगवान की निर्वाणोपलब्धि पण्डित-पण्डित मरण कहलाती है।

समाधि : सामान्य लक्षण

“वयणोच्चारणकिरियं परिचतं वीयरायभावेण ।

जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ।।” —नियमसार, 122

वचनोच्चार की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।

“संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कज्ञाणेण ।

जो ज्ञायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ।।” —नियमसार, 123

जो संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान से आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि होती है।

“सयल-दियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणति ।

तेण सुहासुह-भावणा मुणि सयल वि मेल्लति ।।”

—परमात्मप्रकाश, 2/190

समस्त विकल्पों का नाश होना परम समाधि है। इसी से मुनिराज समस्त शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ देते हैं।

‘युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।’

—तत्त्वार्थवार्तिक 6/9/12

योग का अर्थ ध्यान और समाधि भी होता है।

‘समाधानं मनसः एकाग्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा ।’

—भगवती आराधना/वि./67/194/8

मन को शुभोपयोग में अथवा शुद्धोपयोग में एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।

“यत्साम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा ।

स समाधिरिति ज्ञेय स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ।।” —म.पु. 21/226

उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है वही यथार्थ में समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।

साम्य, स्वारथ्य, समाधि, योगनिरोध और शुद्धोपयोग —ये समाधि के एकार्थवाची

नाम हैं। ध्येय और ध्याता का एकीकरण रूप समरसी भाव ही समाधि है। धर्म और शुक्ल ध्यान को समाधि कहते हैं। बहिर् और अन्तर्जल्प के त्याग स्वरूप योग है। और स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है। सम्यग्दर्शनादि को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना समाधि है।

जैनधर्म में समाधिमरण का बड़ा महत्त्व है। इसे एक परमावश्यक अनुष्ठान माना गया है। जैनाचार्यों का कहना है कि समाधिमरण के द्वारा ही जन्म सफल हो सकता है। यह केवल मुनियों के लिए नहीं, वरन् गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है। आचार्य समन्तभद्र इसे तप का एक फल मानते हैं। समाधिमरण के लिए तीर्थ क्षेत्र या पुण्यभूमि उत्तम स्थान है। विधिपूर्वक समाधि-साधन के लिए शास्त्रज्ञ प्रभावशाली आचार्य का होना भी जरूरी है जिसे निर्यापकाचार्य कहा जाता है। सल्लेखना की प्रतिज्ञा ले लेने पर पूर्व के संस्कारों के कारण क्षपक का पुनः पुनः विचलित होना सम्भव है।

‘मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम्।’

बड़े-बड़े योगियों को भी कषायों के तीव्र उदय से मन में अत्यन्त चंचलता होती है, फिर साधारण पुरुषों की क्या बात है। चित्त की अस्थिरता और दुर्बलता नाष्ट करने के लिए और धर्म में स्थिर रहने के लिए, योग्य गुरु का सान्निध्य आवश्यक है।

विधिपूर्वक एकाग्रचित्त से धारण की हुई सल्लेखना का प्रत्यक्ष फल कषायों की मन्दता और परोक्ष फल पंचमगति अर्थात् मोक्ष है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

“निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखान्बुनिधिम्।

निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः।।”

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार 130

अर्थात् समाधिमरण धारण कर जिन्होंने धर्मामृत पान करते हुए, आत्मा को पवित्र किया है वे स्वर्ग में अनुपम अभ्युदय के स्वामी बनकर अन्त में सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो — जिसका कभी विनाश (अन्त) नहीं ऐसे अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति स्वरूप सुखसागर के पान में निमग्न हो जाते हैं। अर्थात् समाधिमरण द्वारा अर्जित धर्म के प्रसाद से स्वर्ग के साथ अन्त में अनुक्रम से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

अतः प्रत्येक विचारशील गृहस्थ को जैनधर्म के अनुसार समाधिमरण की विधि और उसकी महत्ता पर विचार कर लाभ उठाना चाहिए।

सल्लेखना आत्मघात नहीं

देहत्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्मघात कहते हैं परन्तु सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जैन धर्म में आत्मघात को पाप — हिंसा एवं आत्मा का अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और सल्लेखना, दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में

महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है जबकि सल्लेखना परम उत्साह से समभाव धारण करके की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है तो सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, वह तो जीवन के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, अनुपयुक्तता, भारभूतता अथवा मरण के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है, जबकि आत्मघात जीवन में किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणामों में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है, तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सदभाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है तो सल्लेखना निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है, तो सल्लेखना का ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अपने सदगुणों की रक्षा और अपने जीवन के निर्माण का है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना, तो दूसरे का लक्ष्य जीवन को सँवारना है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तु रखी हो और कदाचित् भीषण अग्नि से घर जलने लगे, तो वह उसे येन-केन-प्रकारेण बुझाने का प्रयास करता है परन्तु हर सम्भव प्रयास के बाद भी, यदि आग बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने अपनी ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, किन्तु जब रक्षा असम्भव हो गयी तो एक कुशल व्यक्ति के नाते बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ही उसका कर्तव्य बनता है। इसी प्रकार रोगादिकों से आक्रान्त होने पर एकदम से सल्लेखना नहीं ली जाती। साधक तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझ यथासम्भव रोगादिकों का योग्य उपचार (प्रतिकार) करता है किन्तु पूरी कोशिश करने पर भी जब रोग असाध्य दिखता है और निःप्रतिकार प्रतीत होता है, तब उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत होता हुआ, अपने संयम की रक्षा के लिए समभावपूर्वक मृत्युराज के स्वागत में तत्पर हो जाता है।

सल्लेखना को आत्मघात नहीं कहा जा सकता। यह तो देहोत्सर्ग की तर्कसंगत और वैज्ञानिक पद्धति है, जिससे अमरत्व की उपलब्धि होती है।

सल्लेखना और भारतीय दण्ड-विधान

भारतीय दण्ड विधान की धारा 306 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करने का प्रयास करे तो जो कोई ऐसी आत्महत्या का दुष्प्रेरण करेगा, वह दोनों में से, किसी भाँति के (सश्रम या साधारण) कारावास से, जिसकी अवधि दस वर्ष तक ही हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा। एवं धारा 309 आत्महत्या करने का प्रयत्न – जो कोई आत्महत्या करने का प्रयत्न करेगा या उस अपराध के करने के लिए कार्य करेगा, वह सादा कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक ही हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से, दण्डित किया जायेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ आत्महत्या के लिए दुष्प्रेरित करने वाले को दस वर्ष तक की सजा और जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है वहीं जो व्यक्ति आत्महत्या का प्रयास करता है उसे एक वर्ष की सजा या जुर्माने या दोनों से दण्डित किया जा सकता है।

यह पहला अपराध है जहाँ भारतीय दण्ड विधान में अपराध करने के पश्चात् अभियुक्त को सजा नहीं मिलती क्योंकि आत्महत्या के पश्चात् अभियुक्त का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है किन्तु आत्महत्या के लिए दुष्प्रेरित करने वाले को अपराध पूर्ण होने के बाद भी सजा मिल सकती है।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने पी. रथीनाम बनाम भारत सरकार एवं अन्य के प्रकरण में न्यायमूर्ति आर.एम. सहाय एवं न्यायमूर्ति बी.ए. हंसारिया की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 309 को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के परिप्रेक्ष्य में मौलिक अधिकारों का हनन घोषित किया था और दिनांक 26 अप्रैल 1994 को दिए गए निर्णय में धारा 309 आई.पी.सी. को संविधान के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन मानते हुए अवैध घोषित कर दिया था, साथ ही यह भी अवधारित किया था कि इस धारा को भारतीय दण्ड विधान से हटा देना चाहिए।

खण्डपीठ ने इस निर्णय के प्रारम्भ में महात्मा गाँधी को उद्धृत करते हुए कहा कि— 'गाँधी जी ने एक बार कहा था कि मृत्यु हमारी दोस्त है। दोस्त का विश्वास करें। यह हमें आतंक और भय से मुक्ति देती है। मैं नहीं चाहता कि मैं असहाय और लकवे जैसी स्थिति में एक पराजित व्यक्ति की तरह चिल्लाता हुआ मरूँ।' इसी निर्णय में अंग्रेजी कवि विलियम एनवेट हैनले की यह पंक्तियाँ भी दी गई हैं कि— 'मैं स्वयं का मालिक हूँ और अपनी आत्मा का कप्तान।'

इस खण्डपीठ ने संविधान के अनुच्छेद 21 की व्यापक समीक्षा करते हुए और उसके साथ अनुच्छेद 14 की भी समीक्षा करते हुए यह कहा था कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 जहाँ व्यक्ति को जीवित रहने का मौलिक अधिकार देता

है वहीं यह अनुच्छेद उसे मरने का भी अधिकार देता है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार से पीड़ित है, वह आत्महत्या का प्रयास करता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाना चाहिए। इस निर्णय के अनुसार आत्महत्या का प्रयास किसी धर्म नैतिकता या सार्वजनिक नीति का विरोधी भी नहीं है। इस निर्णय में विधि आयोग द्वारा दी गई रिपोर्ट संख्या 42/1971 जिसके अनुसार आत्महत्या के प्रयास को अनौचित्यपूर्ण माना गया और धारा 309 को निरस्त करने का सुझाव दिया गया किन्तु संसद में विभिन्न तकनीकी कारणों से वह विधि का रूप नहीं ले सका। लगभग 20 पृष्ठों के निर्णय में उपर्युक्त न्यायमूर्तियों ने यह अवधारित किया कि धारा 309 भारतीय दण्ड संहिता के अनुच्छेद 21 में दिये गए मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती है और इसीलिए उसे हटाया जाना चाहिए।

इस निर्णय से किसी भी कारण से की गई आत्महत्या के प्रयास को दण्डनीय नहीं माना गया, किन्तु यह निर्णय बहुत दिनों तक प्रभावी नहीं रह सका। इससे पहले कि निर्णय को लेकर भारतीय संसद कानून में कोई परिवर्तन या संशोधन करती, माननीय उच्चतम न्यायालय की पाँच सदस्यीय खण्डपीठ जिसमें न्यायमूर्ति श्री जे.एस. वर्मा, न्यायमूर्ति श्री जी.एन. रे., न्यायमूर्ति श्री एस.पी. सिंह, न्यायमूर्ति श्री फ़ैजुद्दीन एवं न्यायमूर्ति श्री जी.टी. नानावटी थे, ने श्रीमती ज्ञानकौर बनाम स्टेट ऑफ पंजाब एवं अन्य अपीलों में एक साथ दिनांक 21.3.96 को दिये गए निर्णय में 1994 के निर्णय को पलट दिया और उन्होंने अपने निर्णय में यह अवधारित किया कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 जीने का अधिकार किसी भी रूप में मरने के अधिकार को शामिल नहीं करता। जीवन-समाप्ति जीवन का संरक्षण नहीं कही जा सकती, इसीलिए भारतीय दण्ड विधान की धारा 309, जिसमें आत्महत्या के प्रयास को दण्डनीय ठहराया गया है, किसी भी प्रकार से भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन नहीं करती और अवैध न होकर वैध है। लगभग दस पृष्ठों में दिए गए निर्णय में न्यायालय ने धारा 306 और 309 को वैध ठहराया और सन् 1994 में माननीय उच्चतम न्यायालय तथा 1987 में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए निर्णयों को पलट दिया। इस प्रकार वैधानिक रूप से आत्महत्या का प्रयास या उसके लिए किया जाने वाला दुष्प्रेषण अपराध की श्रेणी में आता है और वह भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत दण्डनीय है, किन्तु सल्लेखनापूर्वक किया गया समाधिमरण आत्महत्या का प्रयास या आत्महत्या नहीं है। बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने ऐसे समाधिमरण को मृत्यु-महोत्सव कहा था। किसी विद्वान् कवि ने शायद ऐसी मृत्यु के लिए ही लिखा था—

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का, मृत्यु एक विश्राम स्थल है। ❖❖

समाधिमरण

५ राकेश जैन शास्त्री

चतुर्गति भ्रमणरूप संसारचक्र में भ्रमण करते-करते महाभाग्य सम्पदा से मनसहित पंचेन्द्रिय दशा में उत्तमकुल, क्षेत्र आदि समागमों सहित मानव-देह पाकर इस जीव को निरन्तर भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा क्षणिक, अविश्वसनीय एवं वीमारियों के घर रूप देह से विरक्त हो विषय-कषाय को विषरूप समझकर उनसे बचते हुए एकमात्र अपने, स्वाधीन, अनादि-अनन्त, कभी साथ न छोड़ने वाले अपने ज्ञान-दर्शन आदि चैतन्य वैभव युक्त, सदाकाल आकुलता का अभाव कर निसंकुल परमानन्द को देनेवाली एक अक्षय सत्ता ही विश्वास योग्य है, जानने योग्य है एवं ठहरने योग्य है तथा यही अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्राप्त एवं प्रकाशित मोक्षमार्ग है।

जगत् में मिलने वाले संयोग तो नियम से वियोग स्वभावी हैं परन्तु जिन संयोगों के मिलने में हर्ष होता है उनके वियोग का काल इस जीव को अतिकष्टदायी, पीडाकारक प्रतीत होता है, परन्तु क्योंकि वह है तो संयोग ही, अतः समय आने पर वियुक्त तो होगा ही, यह जानकर विवेकीजन उदयाधीन संयोग के मिलने पर हर्ष वृत्ति नहीं करते प्रत्युत् संयोगों के मिलने को अपने लिए 'संसार का बढ़ना अरे नर देह की यह हार है' जानते हैं। इन संयोगों को अपने पूर्वकृत परिणामों का ही फल जानकर उनसे आगामी जुड़ाव न रहे, यह विचारते हुए अपने को निरन्तर असम्बन्धित समझते हैं।

पूर्व जन्मों में किये हुए परिणामों के अनुसार ही इस जीव को मनुष्य देह का संयोग मिला है जो कि—

“जन्मे भरे अकेला चेतन सुख-दुःख का भोगी।

और किसी का क्या इकदिन यह देह जुदी होगी।।”

जन्मक्षण से ही प्रत्येक समय करते-करते मरण की नजदीकी आती जा रही है। अन्य संयोगों के वियोग की तो बात ही क्या? जिससे हमारी अगाध प्रीति है, जिसके बिना हम अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर पाते, ऐसी यह रोगमयी, मल-मूत्र से भरी हुई देह भी जन्मक्षण से ही हमारी आज्ञानुसार न चलते हुए अपने

स्वाभाविक पूरण-गलन लक्षण को प्राप्त होती हुई निरन्तर वियोग के खतरे से जीव को सचेत करती रहती है। पं. दौलतराम जी के शब्दों में— 'जब लौं न रोग-जरा गहै तबलौं झटिति निज हित करौं।' की प्रेरणा देती रहती है।

इस मनुष्य देह की सार्थकता तो इसी में है कि अनादिकाल से अनजान रहे अपने चैतन्य वैभव से यह जीव परिचित हो।

देह-मिलन एक संयोग है और आयु अंत में यह संयोग वियोगरूप मृत्यु का अवश्य दाता है। इस भव के एक-एक समय का व्यतीत होना मृत्यु की नजदीकी बढ़ाना है, यह तो जीव की अकुशलता की ही सूचना है, जैसाकि पं. भूधरदास जी ने जैनशतक में लिखा है—

“जोई दिन कटै सोई, आयु में अवश्य घटै,
बूद-बूद बीतै जैसें अंजुलि कौ जल है।
देह नित झीन होत, नैन तेज हीन होत,
जोबन मलीन होत, छीन होत बल है।।
आवै जरा नैरी तकै, अंत अहेरी आवै,
परभौ नजीक जात, नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापीजन, पूछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा मांही मित्र! काहे की कुशल है।।”

जय देह का स्वरूप ही नित्यप्रति क्षीणता, रुग्णता को प्राप्त होना है, मल प्रदान करना है तो विवेकी पुरुष को तो देह के प्रति मोह छोड़ना ही कर्तव्य है। यह देह छूटे तो यह विचार कर्तव्य है—

मैंने अनादिकाल से अब तक अनन्त जन्म पाये हैं, उनमें अनेक बार उत्कृष्ट संयोगों की प्राप्ति हुई, राजा हुआ, ऋद्धियाँ प्राप्त हुई, कभी माता-पिता-पुत्र, कभी पुरुष, कभी स्त्री तो कभी नपुंसक शरीर हुआ। अनेक बार देवगति में देव हुआ और वहाँ के अनेक सुख से प्रतीत होने वाले भोग भोगे। कभी नरकगति में जाकर कर्मयोग में अनन्त दुःख भोगे, कभी तिर्यच गति पाकर अनेक कष्ट रहे, और अनेक बार साधमीजन का संग भी मिला, जिनेन्द्रपूजन आदि भी किये, सत्सत्त्वों को दानादि भी दिये, और तो और भगवान् जिनेन्द्र के समवसरण में जाने का सद्भाग्य भी अनेक बार लिया किन्तु एकमात्र सम्यक्त्व की प्राप्ति से वंचित रह, समाधि को प्राप्त न कर अनादि से अब तक सदैव कुमरणों को प्राप्त करता आया हूँ।

यदि सम्यक्त्वपूर्वक मुझे स्व और पर का ज्ञान हुआ होता तो कभी भी कुमरणों की दशा नहीं भुगतनी पड़ती। यह देह तो विनाशी लक्षण वाली ही है, किन्तु मैं स्वयं तो ज्ञान-दर्शन स्वरूपी अविनाशी हूँ। मैंने इस अविनाशी स्वाधीन निजलक्ष

की अजानकारी में पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर इस जड़ देह को अपना स्वरूप जाना और इस मिथ्या श्रद्धानपूर्वक दुःखमय चारों गतियों में भ्रमण करता फिरा हूँ।

अब इस देह वियोग के काल में वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की शरण में यह भावना भाने योग्य है कि मुझे इस अन्तिम घड़ी में शरीर में लगे रोगों की पीड़ा न हो एवं कषायों के परिणाम न उत्पन्न हों। ये पीड़ाओं का भोग और कषायें मुझे मरणसमय में दुःख देंगी अतः अब तो समाधिपूर्वक देह छोड़कर इस मृत्यु को महोत्सव बनाने का ही उद्यम कर्तव्य है।

देह तो छूटना ही है, यदि इसके छूटने के काल में, आकुलतापूर्वक मरण हुआ तो कुगति भ्रमण होगा और यदि इस देह के छूटते वक्त अपने ज्ञान, दर्शन, वैभव-सम्पन्न-चैतन्य की सुध जागृत रही तो समाधिमरण होगा। जब हम ज्ञानपूर्वक देह छोड़ते हैं तब समाधिमरण कहलाता है और जब यह देह हमें छोड़ देता है तब हम आकुलता पालते हुए कुमरण या बाल-बालमरण को प्राप्त होते हैं।

चित्तवृत्ति को इस समय यह विचार कर्तव्य है कि यह देह तो खून, मांस, हड्डी, वसा, मल, मूत्र आदि कुधातुओं से निर्मित है जिन्हें कि देखते ही ग्लानि उत्पन्न होती है। ऊपर से तो चमड़े से लिपटी हुई है किन्तु भीतर से तो विष्टायुक्त ही है। इस अपवित्र से तो मूर्खों को ही प्रीति हो सकती है किन्तु इसके भीतर जो निर्मल आनन्द का निकेतन, नित्य लक्षण आत्मा विद्यमान है, वही मैं हूँ।

लोक में भी जब नई आलीशान कोठी मिलती हो और पुरानी सड़ी-गली झोंपड़ी छूटती हो तो हर्ष ही होता है। ऐसे ही समताभावपूर्वक यह मलिन देह छूटकर उत्कृष्ट देह धारण का अवसर जीव को मिलता है तो वह आनन्ददायी ही होगा।

इस अपेक्षा से तो मृत्यु का हमारे ऊपर उपकार है जो यह जीर्ण-शीर्ण शरीर छुड़ा कर हमें नई देह दिलाता है। इसकारण मृत्यु का अवसर तो हमें महोत्सव मनाने लायक हो जाता है।

मैंने अपने जीवन के चौबीसों घंटे और वर्षों, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन ही इस देह की सेवा में व्यतीत किया है, पंचेन्द्रिय विषयों की व्यवस्था में निरन्तर दासवृत्ति से लगा रहा हूँ। यह तन भी मेरे काम तो आता नहीं अपितु अपनी स्वतंत्रवृत्ति से रोग एवं मृत्यु को प्राप्त होता है। यह तो मेरे साथ कृतघ्नता का कार्य करे और मैं इसका सेवक बना रहूँ, यही तो मेरी अज्ञानता है।

जिन इष्टमित्र, परिवारजन आदि के प्रति मैं समर्पित रहा हूँ वे भी सब स्वार्थपूर्ति में लगे रहते हैं और मेरा मोह बढ़ाकर दुर्गति दिलाने वाले दुःखदायी ही

हैं। इसलिए इनसे ममत्व तोड़कर सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप चारों आराधनाओं द्वारा अपने जन्म को सफल करने का अवसर इस मृत्यु प्रसंग ने दिया है।

इस शरीर के स्वरूप का जितना-जितना विचार किया जाए, उतना ही वैराग्य बढ़ता है क्योंकि यह तो निरन्तर जीर्णता को प्राप्त होता है, तेज, बल आदि निरन्तर घटते रहते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं इसलिए यह समतापूर्वक छोड़ने लायक ही है। कविवर मंगतरायजी ने बारह भावना में लिखा है—

“तू नित पोखै यह सूखै, ज्यों धोवै त्यों मैली।

निशदिन करे उपाय देह का, रोग दशा फैली।।”

यदि यह मृत्यु आकर मुझे इस देह से न निकाले तो मैं निरन्तर इस रोगमयी, जीर्ण-शीर्ण, मल-मूत्रादिपूरित देह में ही सड़ता रहूँ। इस मृत्यु ने आकर इन मलिन पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध में से छुड़ाकर मुझे अविनाशी अतीन्द्रिय निज चैतन्य को जानने का अवसर दिया है। यह मृत्यु ही इस दुःखमयी मनुष्य देह से छुड़ा कर स्वर्ग-मोक्ष सम्पदा का लाभ कराती है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिग्रह सामग्री भी जो पुण्य-पापोदय से हमें मिली है, वह भी परभव में साथ नहीं जाती। वास्तव में तो इस भव में भी सदैव साथ नहीं निभाती है। ये सब सामग्री तो पुण्य-पाप उदय की गुलाम हैं। इन सामग्रियों को अपने अनुकूल व स्थायी रखने की चाह में मैं अपने स्थायी आनन्दधाम को विस्मृत ही करता रहा हूँ इसलिए ये भी मेरे लिए प्रीतिकर नहीं रह जाती हैं।

जो परभव में भी मेरे साथ चलें, ऐसे संगी साथी ही मेरे विचारने लायक, अपनाने लायक रह जाते हैं और ऐसे तो हमारे हितकारी ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव ही हैं जिन्हें हम व्रत, संयम, दशलक्षण धर्म, षोडशकारण भावना, बारह भावना आदि भाकर इस जीव को उत्तम गति की प्राप्ति में सहयोगी बना सकते हैं।

पूर्वकाल में अनेक महापुरुष-महान धैर्य के धनी सुकुमाल मुनिराज, सुकौशल मुनिराज, गजकुमार मुनिराज, सनत्कुमार मुनिराज, समन्तभद्र मुनिराज, श्रीदत्त मुनिराज, वृषभसेन मुनिराज, अभयघोष मुनिराज, अभिनन्दन मुनिराज, पाँचों पाण्डव मुनिराज, अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज, और तो और स्वयं तीर्थकरं प्रकृतिधारी पार्श्वनाथ मुनिराज आदि के जीवन में आयीं विकट से विकट परिस्थितियाँ हमें इस ‘जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्’ से परिचित कराकर विरक्ति अवधारण के लिए प्रेरित करती हैं। बड़े-बड़े तीर्थकरादि महापुरुषों पर अनेक व्याधियाँ, उपसर्ग आदि आये। उस समय उन्होंने समताभाव धारण कर देह के वियोग को ज्ञाता-द्रष्टा रहकर विरक्तचित्त होते हुए परमसिद्धि निर्वाण को पाया है। हमारे ऊपर तो कौन-सा इतना बड़ा पापोदय आया है जो हम धैर्य छोड़कर

आकुलित हों? बल्कि हमें तो पूर्णतः धैर्य धारण कर स्वरूपसन्मुखता में ही रहकर बारम्बार दुःखमयी संसार में भटकना न पड़े, ऐसा उपाय कर्तव्य है।

लोक में जो कोई दिन-दो दिन की यात्रा को परदेश जाता हो तो उसके इस अवसर पर परिवारजन उत्तम से उत्तम मुहूर्त में, अपशकुनों से बचाते हुए मंगलद्रव्यों के समागम द्वारा शुभ शकुन मिलाते रहते हैं। जब एक दिन की यात्रा के लिए इतने यत्न तो फिर जहाँ से पुनः लौटकर नहीं आना, ऐसी परभव की महायात्रा पर भी हमारा कर्तव्य ज्ञान-दर्शन की आराधना एवं संयमभाव आदि शुभकार्य रूप, तत्त्वचर्चा चिन्तनादि रूप शुभ शकुन विचार करने का होना चाहिए। ऐसे समय में जब सब संयोगी, कुटुम्बीजन रोने-रुलाने का कार्य करें तब अपशकुन विचार कर इनसे बचकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास, उपदेश, बारह भावनाओं का चिन्तन लाभ लेकर अपने को विरक्तचित्त रहते हुए धर्मध्यान रत रहकर प्रसन्नता से समताभावों सहित देह छूटने को देखना-जानना चाहिए।

काय और कषाय को कृश करते हुए स्वरूप ध्याते हुए शान्तिपूर्वक शरीररूपी गृह को त्यागना सो ही सुमरण है। इसे ही समाधिमरण, सत्लेखनामरण, संन्यासमरण एवं मृत्यु-महोत्सव कहते हैं। कषाय सहित मरण को तो आत्मघात या कुमरण कहते हैं। समाधिमरण दो प्रकार का है— 1. सविचार समाधिमरण जिसका उत्कृष्ट काल 12 वर्ष है। 2. अविचार समाधिमरण अचानक मृत्यु आने पर किया जाता है। समाधिमरण के समय शुद्ध मनपूर्वक राग, द्वेष, मोह का त्याग कर सबसे क्षमा माँगे एवं करें। पाँच अतिचारों से बचें। बारह भावना, समाधिमरण, आत्मचिंतन, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त करनेवाली चर्चा करें तथा बड़े-बड़े सत्पुरुषों, सुकुमाल, गजकुमार, सुकौशल मुनिराजादि ने भारी परीषह उपसर्गजय कर समभावोंपूर्वक समाधिमरण साधा है, उनकी कथाएँ सुनें।

17 प्रकार के मरणों को 5 में गर्भित करके श्री भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में उनका विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य है। संक्षिप्ततः निम्नानुसार है—

1. पण्डित-पण्डित मरण :- दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अतिशयतापूर्वक केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर कषायरहित केवली भगवान् का निर्वाणगमन रूप देह-वियोग, पण्डित-पण्डित मरण है।
2. पण्डितमरण – आचारग्रन्थों की आज्ञाप्रमाण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप पाँचों महाव्रतों का निरतिचार पालन, समिति, गुप्ति सह स्वरूप की विशेष स्थिरतापूर्वक, श्रेणी आरोहण द्वारा कषायों को जीतते हुए मुनिराजों के देह रूपी गृह का छूटना, जिसके होने पर दो-तीन भव में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है पण्डितमरण है। पण्डितमरण के तीन प्रकार हैं—

(अ) भक्तप्रतिज्ञा – भक्त प्रतिज्ञा में संघ से भी वैयावृत्ति करावे और स्वयं भी करे एवं अनुक्रम से आहार, कषाय, देह का त्याग करे।

(ब) इंगिनीमरण – पर से वैयावृत्त्य नहीं करावे तथा आहार पान आदि रहित एकाकी वन में देह त्याग करे, अपनी टहल आप करे।

(स) प्रायोपगमन – वैयावृत्त्य आप भी न करे, पर से भी न कराये, सूखा काष्ठवत् वा मृतकवत् सर्व काय-वचन की क्रिया रहित यावत् जीवन त्यागी हो धर्मध्यान सहित मरण को वरे।

● बालपण्डित मरण – देशसंयम का पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावक के प्यारह प्रतिमाओं में से कोई भी प्रतिमाधारी का समताभावों पूर्वक देह से छूटता जानना बालपण्डित मरण कहलाता है। इससे सोलहवें स्वर्ग तक की ही प्राप्ति होती है। उक्त तीनों मरण प्रशंसा योग्य हैं।

● बालमरण – अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रत संयम रहित, केवल तत्त्वश्रद्धानपूर्वक शांत परिणीमों सहित देह के वियोग को प्राप्त करना है जिससे बहुधा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

● बाल-बालमरण – जिसके सम्यक्त्व व व्रत कुछ भी नहीं होते, ऐसे मिथ्यादृष्टि का आकुलतापूर्वक कषायों एवं राग, द्वेष, मोहादि सहित मरण बाल- बालमरण है जो चतुर्गति-भ्रमण का कारण है। यह निकृष्ट मरण गिना जाता है।

यथार्थ में मरण शरीरधारी प्राणियों के लिए उतना ही सत्य है जितना जीवन सत्य है। जीवन के मोह में पड़कर मनुष्य उस सत्य को भुला देता है और किसी भी उपाय से सदा जीवित रहने का ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता। एक दिन मृत्यु उसके इस प्रयत्न को समाप्त कर देती है। अतः जीवन के साथ मृत्यु के भी सुनिश्चित होने से मनुष्य को जीवन के साथ मरने की भी तैयारी करते रहना चाहिए। जीवन में हर्ष और मृत्यु में विषाद नहीं करना चाहिए। जिनका जीवन शानदार होता है, उनकी मृत्यु शानदार होती है। रोते हुए प्राणों का त्याग करना एक तरह से कायरता ही है। अतः मृत्यु का आलिंगन भी साहस के साथ करना चाहिए।

यदि कदाचित् कोई व्यक्ति पहले व्रतों का निर्दोष पालन आदि कुछ भी नहीं किये हुए हो और मरणकाल में अच्छी तरह आराधना को प्राप्त हो गया हो, तो सभी को वैसा हो जायेगा, हम भी अन्तकाल में आराधना कर लेंगे, ऐसा मानकर प्रमादी होकर नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि ऐसा होना तो स्थाणुमूल निधानवत् है अर्थात् कोई जन्मांध व्यक्ति मार्ग में जा रहा था। अचानक स्थाणु (टूट) से टकराया, मस्तक से विकारी खून निकल गया और उसके नेत्र खुल गये। साथ ही जीर्ण स्थाणु (टूट)

उखड़ जाने से उसके मूल में रखा हुआ धन का घट भी उसे प्राप्त हो गया। यह कार्य जिसप्रकार असंख्य जीवों में से किसी एक के ही संभव है, सबके लिए तो असंभव ही है, ऐसे ही बिना पूर्व में रत्नत्रय की साधना किए बिना सल्लेखना की प्राप्ति होना अशक्य है। अमितगति आचार्यकृत मरणकण्डिका में उल्लिखित है—

“यद्यभावितयोगोऽपि, कोऽप्याराधयते मृतिम् ।

तत्प्रमाणं न सर्वत्र, स्थाणुमूलनिधानवत् ॥”

इस देह का वियोग समताभावपूर्वक हो— इसी मंगल भावना सहित। ❖❖

तू दुनिया से जाएगा

अपनी ढपली राग बजाता, तू दुनिया से जाएगा।
करना हो सो कर ले बंदे, फिर पीछे पछताएगा ॥

तूने ऊँचे महलों की जो, गहरी नींव खुदायी है।
चलने को पाँवों के नीचे, ये चाँदी बिछवायी है।
ईट-ईट दीवारें माना, सोने से सजवायी हैं।
साथ तुझे ले जाने को न, मिले एक भी पाई है।
साम्राज्य का स्वामी कल, मरघट में अलख जगाएगा।
अपनी ढपली राग बजाता, तू दुनिया से जाएगा ॥

तू चूम रहा जो कोमल कर, कल तेरी चिता बनाएँगे।
कन्धे से कन्धे बदल-बदल कर, मरघट में पहुँचाएँगे।
तू भूल रहा तेरे तन में ये, दारुण आग लगाएँगे।
जब साथ कोई न जा पाया, फिर साथ ये कैसे जाएँगे।
पाप-पुण्य ले यमद्वारे का, घंटा स्वयं बजाएगा।
अपनी ढपली राग बजाता, तू दुनिया से जाएगा ॥

कह रही अयोध्या की सरयू, मेरा लक्ष्मण और राम कहाँ।
वृन्दावन की गलियाँ बोली, वह मुरलीघर घनश्याम कहाँ।
हरिस्तनापुर के खंडहर बोले, वे पांडव-से बलधाम कहाँ।
ले गयी सभी को बीन बीन, ये लेती है विश्राम कहाँ।
आज सजा ले तन कल तेरी अरथी कौन सजाएगा?
अपनी ढपली राग बजाता, तू दुनिया से जाएगा ॥

दशक समाधि

“पार्श्वप्रभु के चरणयुग, पूजूँ मन वच काय।

हो समाधि, बल यह मिले, जन्म-मरण नश जाय।।”

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यों में जीव द्रव्य सर्वोपरि है, क्योंकि वह चैतन्य गुण से उपलक्षित है। जीव अनन्तानन्त है। उनमें से अनन्त जीव तो अपने समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा शुद्धात्मानुभूति के अवलम्बन से अपने स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा के अभाव में संसार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच अनादि काल से पिसते चले आ रहे हैं। रात और दिन के सदृश जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म का अनादि प्रवाह सम्बन्ध प्रत्येक संसारी प्राणी के साथ है।

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च’ इस नीत्यनुसार जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म अवश्यम्भावी है। आयुक्षय के कारण प्राप्त होने पर शरीर का अथवा दस प्राणों के विनाश का नाम मृत्यु है और आयुर्कर्म के उदयवशात् मनुष्य आदि स्थूल व्यंजन पर्यायों में दश प्राणों के साथ जीव का आविर्भाव होना जन्म है। जन्म लेने के बाद देव तथा तिर्यच आदि व्यंजन पर्याय में जीव का अवस्थान अधिक से अधिक 33 सागर और कम से कम एक श्वास के अठारहवें भाग अर्थात् क्षुद्रभवप्रमाण है। मध्यम अवस्थान के असंख्यात भेद हैं। इस स्थिति में त्रैशिक विधि के अनुसार भूतकाल में होने वाले अपने मरणों की संख्या निकालें तो अनुमान कीजिए कि वह कितनी होगी? अनन्तानन्त से कम तो नहीं होगी। अनन्तानन्त बार यह जीव जन्म और मरण कर चुका है, फिर भी इसे-इन क्रियाओं में अनादर उत्पन्न नहीं हुआ, यह महान् आश्चर्य है। ‘अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति’ नीत्यनुसार भी जन्म-मरण की इन अतिपरिचित क्रियाओं में अवज्ञा होनी चाहिए थी, किन्तु नहीं हुई, इसी कारण यह संसार भी नहीं छूटा। ‘मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्’ अर्थात् मरना देहधारियों का स्वभाव है और ‘स्वभावोऽतर्कगोचरः’ स्वभाव में तर्क नहीं चलता, फिर मरण से भय क्यों? क्या हमारे डरने पर यह मरण हमें डरपोक समझकर छोड़ देगा? क्या मरण से कोई रक्षा कर सकेगा? नहीं। फिर मरण-समय कायरता और कातरता क्यों?

मानव को भय उनसे होता है जिनसे उसका परिचय नहीं होता, किन्तु हमारा तो इस मरण से मात्र एक-दो बार नहीं, प्रत्युत अनन्त बार परिचय हो चुका है तथा इस क्रिया का रोगादि के द्वारा, क्षुधादि के द्वारा अतिशीत, अति उष्णता के द्वारा या तीव्र क्रोधादि के आवेश में आकर विषभक्षणादि के द्वारा एवं अज्ञानतावश अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, श्वासनिरोध, शस्त्रप्रयोग एवं गिरि-पात आदि के द्वारा मरण करके खूब अभ्यास भी किया है, फिर भी हमें इस मृत्यु से भय ही होता है क्योंकि अभी तक हमें इसकी यथार्थता का परिचय नहीं हुआ। जिन महापुरुषों ने मरण की यथार्थता को आत्मसात कर लिया है, उन्होंने मरण को मृत्यु-महोत्सव कहा है क्योंकि मृत्यु-सदृश हमारा उपकारी अन्य कोई नहीं है।

मृत्यु की विलक्षणता का समीचीन दिग्दर्शन जैनदर्शन कराता है। जैनदर्शन जिस प्रकार जीवन के मार्ग को प्रशस्त बताता है, उसी प्रकार मरण के मार्ग को भी प्रशस्त बताता है और मरण की इसी प्रशस्तता का अपर नाम सल्लेखना या समाधिमरण है।

सल्लेखना का लक्षण

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शरीर और रागादि कषायों को उनके कारणों को क्रमशः कम करते हुए स्वेच्छापूर्वक कृश करने का नाम सल्लेखना या समाधिमरण है। समन्तभद्राचार्य भी रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में सल्लेखना का लक्षण बताते हुए कहते हैं किं प्रतीकाररहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धता और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, त्याग और संयम आदि गुणों के द्वारा चिरकाल तक आत्मा को भावित करने के बाद आयु के अन्त में अनशनादि विशेष तपों के द्वारा शरीर को और श्रुतरूपी अमृत के आधार पर कषायों को कृश करना ही सल्लेखना है। जिस प्रकार मूल (जड़) से उखाड़ा हुआ विषवृक्ष ही प्रयोजन की सिद्धि करता है, मात्र शाखाओं, डालियों एवं पत्रों आदि का काटना नहीं, उसी प्रकार कषायों की कृशता के साथ ही हुई कायकृशता ही प्रयोजन की संरक्षिका है, मात्र काय की कृशता नहीं।

सल्लेखना कब करनी चाहिए?

“प्रतिदिवसं विजहद् बलमुज्जद् भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।

वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम्॥”

चिरकाल से पोषित इस शरीर की शक्ति जब प्रतिदिन क्षीण हो रही हो, भोजन छूट रहा हो, रोगादिक का प्रतीकार न हो सके, ऐसा अवसर आने पर मनुष्य को समाधिमरण धारण करना चाहिए।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण -इन पाँच शरीरों में से औदारिक शरीर की उत्पत्ति एवं रचना अत्यन्त घृणास्पद तत्त्वों अर्थात् हड्डी, मांस, रुधिर और चर्म आदि से होती है तथा इसकी अवस्थिति भी इसके योग्य भोजन पान एवं अन्य पोषक पदार्थों के बिना नहीं होती। यह औदारिक शरीर अधिक प्रयत्नों द्वारा रक्षित रहता है और अति अशुचि है, किन्तु रत्नत्रय का आधार होने से आत्मा को मोक्षमहल में ले जाने में अन्धे की लकड़ी के सदृश सहायक भी यही होता है। 'आचारसार' में श्रीवीरनन्दि आचार्य कहते हैं कि जब चूल्हे में जलाई जाने वाली लकड़ी भी सिर पर रखकर लाई जाती है तब मोक्षप्राप्ति का साधनभूत यह शरीर प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय है किन्तु इसकी रक्षा तभी तक योग्य है जब तक यह हमारे रत्नत्रय के पालन में सहयोगी है, इसके बाद तो इसे सल्लेखनापूर्वक कृश ही करना चाहिए। इसी बात को आचार्य पूज्यपाद दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं कि मरण किसी को इष्ट नहीं है। अनेक प्रकार के रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार करने वाले किसी व्यापारी को अपने गृह का विनाश इष्ट नहीं है; यदि कदाचित् उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जायँ तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल नहीं होता, तब घर में रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थों को निकाल लेता है और घर को अपनी आँखों के सामने ही नष्ट होते देखता है। इसी प्रकार व्रतशीलादि गुणों का अर्जन करने वाले श्रावक और साधु उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की रक्षा पोषक आहार-ओषधि आदि के द्वारा करते हैं, उसका नाश उन्हें इष्ट नहीं। यदि शरीर में असाध्य रोग आदि उपस्थित हो जायँ तो वे उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करते हैं और जब उनका दूर होना अशक्य मालूम होता है तब सल्लेखना द्वारा अपने आत्मगुणों की रक्षा करते हैं और शरीर को नष्ट होने देते हैं।

सकलकीर्त्याचार्य सल्लेखना अंगीकार करने के कारण बतलाते हुए कहते हैं कि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होने पर, अतिवृद्धता, उपसर्ग एवं व्रतक्षय के कारण उपस्थित होने पर, महान् दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य और तीव्र रोग आ जाने पर, जंघाबल (कायबल) क्षीण हो जाने पर धर्मध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर, विद्वानों को चाहिए कि मोक्ष (आत्म-कल्याण की) प्राप्ति के लिए समाधिभ्रमण ग्रहण करें। मूलाराधना में भी आचार्य लिखते हैं कि जिसका कोई प्रतीकार न हो सके— ऐसा असाध्य रोग उपस्थित होने पर; रूप, बल, बुद्धि और विवेकादि गुणों का नाश करनेवाली वृद्धावस्था आ जाने पर; देव, मनुष्य तिर्यच अथवा आकरिमक उपसर्ग आ जाने पर; चक्षु या कर्ण इन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाने पर और 'भयिष्य' में समाधि करानेवाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे' ऐसा भय

उत्पन्न हो जाने पर साधु को सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

इनके सिवा और भी अनेक कारण हैं जिनके उपस्थित होने पर आत्मार्थी को मृत्यु का सहर्ष आह्वान करते हुए सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए। यथा— जल में बह जाने पर, एकाएक दृष्टि चले जाने पर, अटवी आदि में भटक जाने पर, मार्ग न मिलने पर तथा कर्ण आदि इन्द्रियों के निस्तेज हो जाने पर सल्लेखना धारण कर लेनी चाहिए। अचानक उपद्रव उपस्थित होने को उपसर्ग कहते हैं। तिर्यच, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होने से उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं। ऐसे प्रतीकार-रहित उपसर्ग आदि के उपस्थित होने पर अपने रत्नत्रय-गुणों की रक्षा के लिए कल्याणार्थी जीवों को सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए।

सल्लेखना क्यों धारण करनी चाहिए

मृत्यु प्रायः परप्रत्यय से आती है अर्थात् मृत्यु आने के पूर्व कोई-न-कोई कारण अवश्य उपस्थित हो जाता है। इन्हीं कारणों को देखकर देह में आत्मबुद्धि रखने वाले अज्ञानी जन ये-न-केन प्रकारेण अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार न रखते हुए इस भौतिक शरीर के संरक्षण की व्यग्रता को प्राप्त होते हुए हाय-हाय करते हैं, किन्तु जैनधर्म के मौलिक तत्त्वों को समझने वाले तथा आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय समझने वाले मोक्षार्थी जीव संकटावस्थाओं में भी आत्मश्रद्धा से च्युत नहीं होते, अपितु उसकी रक्षा के लिए समतापूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देते हैं।

आत्मा शरीर से भिन्न है— इस भेदविज्ञान की दृढ़ता के लिए जिन्होंने चिरकाल तक व्रत, तप, संयम एवं शीलालादि का दृढ़तापूर्वक पालन किया है उन्हें अपने इस चारित्ररूपी मन्दिर के ऊपर सल्लेखना रूपी कलश अवश्य चढ़ाना चाहिए। यदि वे संन्यासक्रिया में कायरता लाते हैं तो उनके जीवन भर के तपश्चरण का श्रम उसी प्रकार निष्फल हो जाता है, जिस प्रकार चिरकाल से शस्त्रों का अभ्यास करने वाले राजकुमार का श्रम युद्ध क्षेत्र में चूक जाने पर निष्फल हो जाता है। इसलिए रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् संन्यास धारण करने को तप का फल कहते हैं, इसलिए यथाशक्ति समाधिमरण के विषय में प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् संन्यास धारण करना ही तपश्चरण आदि का फल है, अतः इस अन्तिम क्रिया का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।

लोक में व्रत, तप, संयम और चारित्र आदि के फल अनेक प्रकार से प्राप्त होते देखे जाते हैं। इनके फलस्वरूप जीवों को स्वर्ग के अनुपम भोग, बलभद्र, चक्रवर्ती, नारायण और प्रति-नारायण आदि के पद तथा आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र आदि परिकर, इच्छित वैभव और सुन्दर-सुडौल शरीर आदि की भी प्राप्ति हो जाती है किन्तु समाधिमरण की क्रिया के अभाव में संसार का छेद शीघ्र नहीं हो पाता; जबकि

सल्लेखनारूपी शरीर-परित्याग से संसार की अवधि सात-आठ भव से अधिक नहीं रहती, इसलिए सल्लेखनारूपी असिधारव्रत का पालन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वपूर्वक किन्तु समाधिमरण-रहित तपश्चरणादि करने वाला प्राणी अधिक से अधिक कुछ काल कम अर्धपुद्गलपरावर्तन तक संसार-परिश्रमण कर सकता है, किन्तु सम्यक्त्वसहित तप एवं चारित्र धारण करनेवाले जीव यदि मरणसमय में संन्यास विधि का आश्रय लेते हैं तो वे अल्पकाल में ही मोक्ष के भाजन बन जाते हैं।

सल्लेखना का काल

इस निकृष्ट पंचम काल में उत्तम संहनन नहीं होते, अतः इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यास की प्राप्ति अति दुर्लभ है, मात्र भक्तप्रत्याख्यान संन्यास साध्य है। आचार्यों ने इसका उत्कृष्ट काल 12 वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। मध्यम काल के असंख्यात भेद हैं। पूर्वकथित कारण उपस्थित होने पर तो यम अथवा नियम सल्लेखना धारण करनी ही चाहिए, किन्तु निमित्तज्ञान से अपनी अल्प आयु का निर्णय करके भी सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

किसी निमित्त विशेष से अथवा अन्य प्रकारों से अपनी आयु की समाप्ति समीप जानकर अपने आचार्यादि पद एवं शिष्यादि का परिग्रह त्याग कर ऐसे निर्यापकाचार्य की खोज करनी चाहिए जो आचारवान्—पंचाचार से युक्त हो, आधारवान्—बहुश्रुत का धारी हो, व्यवहारवान्—गुरुपरम्परा से प्राप्त हुए प्रायश्चित्तसूत्र के ज्ञान से विभूषित हो, प्रकर्ता—सर्व संघ की वैयावृत्य करने में समर्थ हो आयापायविदर्शी—रत्नत्रय का विनाश और रत्नत्रय का लाभ, इन दोनों के गुण-दोष समझाकर मायाशल्य को दूर करने में निपुण हो, अवपीडक—अपने तेजस्वी वचनों द्वारा क्षपक के दोषों को बाहर निकाल कर उसे निःशल्य बना देने वाला हो, अपरिस्रावी—क्षपक द्वारा कहे गये दोषों को अन्य किसी को प्रगट न करने वाला, गम्भीर स्वभाव वाला हो, शीत, उष्ण, भूख, प्यास तथा रोग की तीव्र वेदना आदि के कारण क्षुब्ध हो जाने वाले क्षपक की आराधनाओं की पूर्ति के लिये अनेक उपायों का ज्ञाता हो, वैयावृत्य कराने में समर्थ हो। ऐसे निर्यापकाचार्य ही क्षपक की सल्लेखना निर्विघ्न पूर्ण करा सकते हैं। उनके समक्ष साधक को अपनी सल्लेखना पूर्ण करनी चाहिये। सर्वप्रथम साधक का कर्तव्य है कि वह शोक, भय, खेद, स्नेह, राग, द्वेष और अप्रीति का परित्याग करते हुए सभी से क्षमायाचना करे अपने को दुःख देने वालों को अथवा शत्रु आदि को मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक स्वयं क्षमा करे क्योंकि जो स्वयं दूसरों को क्षमा करते हैं और दूसरों से क्षमा कराते हैं वे ही इस दुर्लभ संसार-समुद्र को पार कर पाते हैं। क्षमा माँगने वालों को जो क्षमा नहीं करते हैं वे दीर्घसंसारी होते हैं।

सम्पूर्ण आलोचना किये बिना समाधि ठीक नहीं होती इसलिये आलोचना करने के पूर्व निर्यापकाचार्य क्षपक को समझाते हैं कि जैसे पैर आदि में लगा हुआ काँटा मनुष्य को दुःख देता है और काँटे के निकल जाने पर सुख का अनुभव होता है, वैसे ही व्रतसंयम आदि में लगे हुए दोषों को दूर न करने वाला साधक माया, मिथ्या और निदान रूपी शल्य के कारण दुःखी होता है और इनकी आलोचना कर सुखी होता है। दूसरों की वञ्चना करने का नाम माया, विपरीताभिनवेश का नाम मिथ्या और संसार के भोगों की इच्छा का नाम निदान शल्य है। ये तीनों शल्य संसार निमित्तक हैं। अतः आपको परीषहों की सेना को अगीकार करते हुए समाधि धारण करनी चाहिए। पाँच इन्द्रियों के विषय पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और क्रोधादि चारों कषायों का क्षमा आदि के द्वारा नियंत्रण करना चाहिए। सम्पूर्ण जीवन में किए गए तप, व्रत और संयम आदि का अन्तिम फल सल्लेखना है और सल्लेखना की सफलता निर्दोष आलोचना पर निर्भर है, अतः आपको सर्व दोषों का परिहार करते हुए निर्दोष आलोचना करनी चाहिए। तत्पश्चात् निर्यापकाचार्य की हितकारी शिक्षा को ग्रहण कर साधक को अरिहन्त सिद्ध परमेष्ठियों की प्रतिगाओं के समक्ष अथवा इनके मन्दिरों में, पर्वतादिकों पर समुद्र के समीप, कमल युक्त सरोवरों के समीप, क्षीर वृक्षों एवं पत्र-पुष्प और फलों से युक्त वृक्षों के समीप, उद्यान, वन, वागों से स्थित प्रशस्त एवं सुन्दर स्थानों पर मन-वचन-काय की सरलतापूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र, पाँच महाव्रत आदि 28 मूलगुणों व उत्तर गुणों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना करके अपने हृदय को निर्गल बना लेना चाहिए। तत्पश्चात् निर्यापकाचार्य साधक को सम्बोधित करते हुए समझाते हैं कि मोक्षमार्ग में पग रखने के इच्छुक सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग करते हैं, किन्तु 'अविद्याभ्याससंस्कारैर्वशं क्षिप्यते मनः' अर्थात् अनादिकाल से अविद्यामिथ्यात्व आदि के (अभ्यास के) संस्कारों द्वारा मन अवश होता हुआ चंचल बना रहता है। जैसे चिरकाल से बिल में निवास करने वाला सर्प निवारण करने पर भी बिल में ही प्रवेश करता है, रोकने पर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार संसारी जीवों के हृदय रूपी बिल में अनादि काल से निवास करने वाला मिथ्यात्व रूपी सर्प बारम्बार रोकने पर भी नहीं रुकता, प्रवेश कर ही जाता है, अतः अन्नती हो या व्रती श्रावक हो या मुनीश्वर हो अथवा क्षपक हो, सभी को मिथ्यात्व के अभाव की ओर सम्यक्त्व की दृढ़ता की भावना निरन्तर करनी चाहिए।

तीनों लोकों में और तीनों कालों में मिथ्यात्व रूपी महाशत्रु के द्वारा जो दुःख दिया जाता है, वैसे दुःख अग्नि, विष एवं कृष्ण सर्प आदि किसी के द्वारा भी नहीं दिया जाता, क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ तो एक ही भव में दुःख देते हैं, जबकि

मिथ्यात्व रूपी शत्रु तो असंख्यात और अनन्त भवों में बारबार दुःख देता है। यह जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से अनन्त बार अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, पर्वत से गिरकर, कूप आदि में पड़कर और शस्त्रघात से मरा है। अनन्त बार सिंह आदि दुष्ट पशुओं के द्वारा खाया गया है, दुष्ट मनुष्यों के द्वारा मारा गया है और बन्दीगृह आदि में सड़ा है, रोगों की तीव्र वेदना से मरा है, भूख-प्यास एवं उष्ण-शीत की वेदना से मरा है। अनन्त बार शरीर के अंगोपांग गल जाने से मरा है, दरिद्रता की पीड़ा से मरा है, सम्पूर्ण दुःखों का मूल एक मिथ्यात्व है, अतः इसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करो। जिस प्रकार विषबाण से बीधे गए पुरुष का मरण अवश्यम्भावी है और प्रतीकाररहित है, उसी प्रकार मिथ्या शल्य से युक्त साधु का संसार-परिभ्रमण अवश्यम्भावी है। उसे उन दुःखों से बचाने में कोई समर्थ नहीं है। मिथ्यात्व के सद्भाव में धारण किया हुआ दुर्द्धरचारित्र भी जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाने में समर्थ नहीं है; जैसे गिरी सहित कड़वी तूमड़ी में रखा हुआ दूध कटुक और गिरी रहित तूमड़ी में रखा हुआ दूध मधुर होता है, उसी प्रकार जीव के मिथ्यात्वयुक्त तप, व्रत, संयम एवं चारित्र आदि नाश को प्राप्त होते हैं और मिथ्यात्वरहित वे ही तप आदि सफल होते हैं। यह मिथ्यात्व परभव में तो दुःख देता ही है, किन्तु इसका कटुक फल तत्काल भी प्राप्त होता जाता है। यदि तुम भी मिथ्यात्व को धारण करोगे तो दुर्गति के पात्र बनोगे। अतः अपने परिणामों की सँभाल में निरन्तर प्रयत्नशील रहो।

सम्यक्त्व के उपकारों का दिग्दर्शन

तीनों लोकों और तीनों कालों में ऐसा कोई भी सुख नहीं है जो सम्यक्त्वरूपी महाबन्धु के द्वारा उपलब्ध न होता हो। सम्यग्दर्शन संसार के समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ है, अतः उसके धारण और रक्षण में प्रमादी मत वनों। निरन्तर ऐसा उद्यम करो जिससे सम्यक्त्व दृढ़ और उज्ज्वल बना रहे, क्योंकि ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य रूप आराधना की आधारशिला सम्यग्दर्शन ही है। जैसे नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है, बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार, ज्ञानादि आराधनाओं में प्रवेश करने का द्वार सम्यक्त्व है। जैसे मुख की शोभा नेत्रों से है, उसी प्रकार ज्ञानादि अनन्तगुणों की शोभा सम्यग्दर्शन से है। जैसे वृक्ष की स्थिति मूल (जड़) से है, वैसे ही आत्मा के गुणों की अवस्थिति सम्यग्दर्शन से है। ऐसा दृढ़ विश्वास करके, समाधिमरण स्वीकार करने वाले आपको ज्ञानादि शेष आराधनाओं की शुद्धि के लिए सप्त भयों और पच्चीस दोषों का विनाश कर सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के सामने तीनों लोकों की सम्पदा का भी कोई मूल्य नहीं है। अतः आप अविनाशी सुख की प्राप्ति हेतु सम्यक्त्व रूपी अमूल्य रत्न की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो।

अर्हदादि-भक्ति का माहात्म्य

इस समाधि के समय आपके हृदय में जिनेन्द्र भगवान् के प्रति अन्तःकरण से भावशुद्धिपूर्वक विशेष अनुराग होना चाहिए, क्योंकि अकेली जिनभक्ति ही सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ है, मुक्ति के लिए परम कारण है, दुर्गतिनिवारण में सक्षम है, सिद्धिपर्यंत सुखों के कारणभूत पुण्य को परिपूर्ण करने वाली है और सम्पूर्ण रूप से अपायों को दूर कर मनोरथों की पूरक हैं। अर्हदभक्ति के सदृश पंचपरमेष्ठी, जिनचैत्य (बिम्ब), जिनचैत्यालय, जिनवचन और जिनधर्म में भी आपका अनुराग होना चाहिए, क्योंकि परमेष्ठी के गुणों में अनुराग करने वाला ही आत्मगुणों में अनुराग करेगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। अनुराग तो बन्ध का कारण है, फिर पंचपरमेष्ठी का अनुराग मोक्ष का कारण इसलिए कहा गया है कि वीतराग अर्हन्तादि के प्रति होने वाला अनुराग विषय, कषाय, शरीर एवं धनधान्यादि के प्रति होने वाले अनुराग से अत्यन्त भिन्न है अर्थात् यह अनुराग समस्त परवस्तुओं के रागभाव का अभाव कराकर वीतरागरूप निजभाव में स्थिति करा देने वाला है, अतः जब तक ध्यान, ध्याता और ध्येय की एकता नहीं होती तब तक परमात्मा आदि में अनुराग करना चाहिए। जो पुरुष चारों आराधनाओं के अधिनायक पंच परमेष्ठियों में भक्ति नहीं करता, वह उत्कृष्ट संयम धारण करते हुए भी मानो ऊसर भूमि में धान्य बोता है, क्योंकि जैसे ऊसर भूमि में डाला गया बीज नष्ट हो जाता है, वैसे ही भक्ति बिना संयमादि गुण नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष आराधनाओं के धारक पंच परमेष्ठियों में भक्ति किये बिना ही अपनी आराधना की सिद्धि चाहता है, वह मानो बीज बिना धान्य की और मेघ बिना वर्षा की इच्छा करता है। जैसे वर्षा बिना धान्य नहीं होता, वैसे ही पंचपरमेष्ठी की भक्ति बिना चारों आराधनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। अतः आपको इस सल्लेखनारूपी सरिता को पार करने के लिए भक्तिरूपी नौका का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

पञ्चोकार मन्त्र के चिन्तन का उपदेश

पंच नमस्कार मन्त्र का चिन्तन कषायों की मन्दता और आराधना की सफलता कराने वाला है; संसार का छेद करने में समर्थ है, क्योंकि जैसे सेनापति के बिना चतुरंगसेना कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार सल्लेखना के समय पंच-नमस्कार रूप भाव नमस्कार के बिना चारों आराधनाओं में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे हाथ के बिना ध्वजा का ग्रहण नहीं हो सकता उसी प्रकार पंचनमस्कार मन्त्र की शरण बिना आराधना रूपी पताका का भी ग्रहण नहीं हो सकता। जब इस चमत्कारी मन्त्र के प्रभाव से एक ही भव में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, तब चारों आराधनाओं के सुचारु रीति से पालन करने पर आपका संसारविच्छेद क्यों नहीं

होगा? अवश्य होगा। णमोकार मन्त्र के एक अक्षर का भाव-सहित स्मरण करने से सात सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापों का, भावसहित एक पद के स्मरण से 50 सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापों का, भावसहित सम्पूर्ण मन्त्र के स्मरण से 500 सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापों का नाश हो जाता है तथा भावपूर्वक एक लाख जप करनेवाला तीर्थकर होता है— इसमें सन्देह नहीं है, अतः आपको असंख्य दुःखों का क्षय करने वाले और इस निःकृष्ट पंचम काल में भी कल्पवृक्ष के सदृश मनोरथों को पूर्ण करने वाले इस महामन्त्र का स्मरण निरन्तर करना चाहिए।

ज्ञानोपयोग की महत्ता का उपदेश

स्वतत्त्व और परतत्त्व का प्रकाश करने के लिए सम्यग्ज्ञान, दीपक के सदृश है और चित्तरूप मदोन्मत्त हाथी को वशीभूत करने के लिए अंकुश के समान है। जिस प्रकार सुचारु रूप से सिद्ध की हुई विद्या पिशाचों को भी मनुष्य के अधीन कर देती है, उसी प्रकार भलीप्रकार से आराधित सम्यग्ज्ञान, मन रूपी पिशाच को आत्मा के अधीन कर देता है। आपको भी इस ज्ञानोपयोग की स्थिरता द्वारा अपने मन को क्षुधादि परीषहों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले अशुभ ध्यान से मोड़कर आत्माधीन करना चाहिए। जिस प्रकार विधिपूर्वक आराधित मन्त्र कृष्ण सर्प के क्रोध को उपशमित कर देता है, उसी प्रकार दिगम्बर गुरुजनों से आराधित ज्ञान, मन रूपी कृष्ण सर्प की भयंकरता को उपशमित कर देता है। जैसे गजबन्धनी के द्वारा मदोन्मत्त हाथी को बाँधकर पुरजन-परिजन की रक्षा की जाती है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान रूपी वरत्रों से मन रूपी हाथी को बाँधकर आत्मा के गुणों की रक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार बन्दर एक क्षण भी निर्विकार स्थित रहने में असमर्थ है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियों के विषय के बिना यह मन एक क्षण भी निर्विकार स्थित रहने में असमर्थ है, अतः इसे परमागम में इस प्रकार रमण कराना चाहिए, जिससे वह सल्लेखना रूपी महायज्ञ में विघ्न उपस्थित न कर सके। सूर्य आदि सभी उद्योतों से ज्ञान का उद्योत सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इस उद्योत को न कोई रोक सकता है, न नष्ट कर सकता है, न हरण कर सकता है और न मलिन कर सकता है। यह ज्ञान रूप उद्योत सम्पूर्ण लोक-अलोक को प्रकाशित करने में समर्थ है। आपके पास बहुत ज्ञान है, अतः आप उस ज्ञान के बल से अपनी समाधि के अनुष्ठान को सफल बनाने का प्रयत्न करो।

चारित्राराधना की शुद्धि का उपदेश

आपको गुरु द्वारा प्रदत्त पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधिवत् पालन करके चारित्र की विशुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि चारित्र की विशुद्धि ही कर्मों का संवर और निर्जरा कराकर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है।

चारित्ररूपी महारत्न के ऊपर प्रमाद रूपी चोरों की दृष्टि लगी हुई है। अब रात्रि प्रायः समाप्त होने को है (जीवन कुछ क्षणों का है), ऐसा न हो कि तुम्हारी गाढ़ (मोह) निद्रा, इन चोरों को रत्न चुराने का अवसर प्रदान कर दे। आपके द्वारा दीर्घकाल में संचित किया हुआ मनुष्यपर्याय का सारभूत पदार्थ (संयम या चारित्र) उपसर्ग, परीषह, रोग आदि की तीव्र वेदना और कषाय आदि के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, अतः इसकी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हुए इसकी वृद्धि में प्रयत्नशील रहो। इस समाधि रूपी सम्बल के द्वारा संयम की पूर्णता कर लेनी चाहिए, किन्तु यदि पूर्णता न कर सको तो कम से कम चारित्र की जितनी विशुद्धि है उसे मत छोड़ो।

तपाराधना की शुद्धि का उपदेश

आत्मकल्याण के लिए चित्त-संकलेश, दुर्ध्यान, दुर्लेश्या, आलस्य, सुखों में आसक्तता, शरीर का सुखियापना तथा आस्रव के और भी अन्य कारणों को रोककर आपको बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तपों की परमविशुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि मायाचाररहित उज्ज्वल परिणामों से किया हुआ तप उभयलोक में विविध प्रकार की ऋद्धि को प्रदान करने वाला है। वटवृक्ष के बीज की भाँति अल्प भी तप असंख्यकाल के अगणित कर्मों का नाश करने वाला है जैसे विवेकपूर्वक दी हुई शक्तिवान् औषधि भीषण रोगों का नाश करती है, वैसे ही शक्तिप्रमाण किया हुआ अल्प भी सम्यक् तप, जन्म-मरण रूपी रोग को नष्ट करने वाला है; संसार की महादाह को शान्त करने के लिए शीतल गृह है; कामनापूर्ति के लिए कामधेनु है; वांछित फल प्रदान करने के लिए चिन्तामणि रत्न है, उत्तम मंगलभूत है; सच्चा शरण है और कर्म रूपी तृणों को दग्ध करने के लिए दावानल है। जैसे अपने प्रयोजन को सिद्ध करने वाला स्वामी, वेदना से पीड़ित नौकर पर दया न करते हुए उसे अपने कार्य में प्रेरित किये रहता है, वैसे ही संसार-ग्रहण से जीर्ण-शीर्ण हुए तथा रोगादि वेदना से युक्त इस शरीर रूपी नौकर पर दयादृष्टि न करते हुए मात्र अपने प्रयोजन (समाधिसिद्धि) की सिद्धि में ही प्रयत्नशील रहो।

धर्मध्यान में रत रहने का उपदेश

इस जीव को आज तक वेदनारहित, स्वाधीन अविनाशी, अन्तरहित, अप्रमाण और निराकुल लक्षण वाले आत्मिक सुख का अनुभव नहीं हुआ, इसीलिए यह जीव दीनहीनों के सदृश विषयसुखों की इच्छा से यत्र-तत्र भटक रहा है। इन क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए निरन्तर क्लेश के कारण आर्तरीद ध्यानों में निमग्न रहता है। आपने अति धीरतापूर्वक संस्तर ग्रहण किया है अतः अब क्षुधादि वेदना या रोगादि की पीड़ा के वशीभूत होकर संतप्त एवं क्लेश रूप नहीं होना चाहिए,

क्योंकि सन्तप्त होना, क्लेश करना, वैयावृत्य में तत्पर साधुजनों से कलह करना, चिन्ता करना, परीषह आदि से खेद रूप होना, षट् आवश्यक आदि क्रियाओं में आलस्य करना, आहार आदि त्याग कर देने का पश्चात्ताप करना, वेदना आदि के कारण हाहाकार करना, शरीर आदि की सुखप्राप्ति के लिए मन में उत्कण्ठा होना, अधिक निद्रा लेना और बेसुध आदि हो जाना ये सब आर्तध्यान के लक्षण हैं, अतः हे सुखार्थी ! शाश्वत सुख के लिए इन आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़कर सतर्कतापूर्वक धर्मध्यान में प्रवृत्ति करो। आर्जव ही धर्मध्यान का लक्षण है, धर्मध्यान में स्थित रहने के लिए मायाचार का सर्वथा त्याग करो, क्योंकि कषायों का निग्रह, इन्द्रिय-दमन, चित्तनिरोध और रत्नत्रय में दृढ़ता आदि लक्षण धर्मध्यान के द्योतक हैं। रत्नत्रय आदि अनेक गुणरत्नों से भरी हुई तुम्हारी नौका, संस्तररूपी (समुद्र) किनारे तक जा चुकी है, अब कहीं यह परीषह आदि झंझावात के झोंकों से डूब न जाय। इसकी रक्षा अति आवश्यक है और वह धर्मध्यान के अवलम्बन से ही हो सकती है, अतः चारों प्रकार के धर्मध्यानों में ही प्रवृत्ति करो।

वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं का उपदेश

संसार, शरीर और भोगों में लगे हुए अपने रागभाव को दूर करने के लिए वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करो। ये द्वादश भावनाएँ वैराग्य की माता हैं, समस्त जीवों का हित करने वाली हैं, दुःख पीड़ित जीवों को शरणभूत हैं, आत्मा को प्रसन्न करनेवाली हैं, परमार्थ मार्ग को दिखाने वाली हैं, तत्त्वों का निश्चय कराने वाली हैं, सम्यक्त्व की रक्षा करने वाली हैं और अशुभध्यानों को नष्ट करने वाली हैं, अतः कल्याण की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए तुम्हें नित्य ही इनका चिन्तन करना चाहिए।

क्षुधावेदना शमन करने का उपदेश

कर्माधीन होकर, इस भव वन में परिभ्रमण करते हुए आपने अनेक सागर पर्यन्त इस सर्वांग-शोषिका क्षुधा वेदना को भोगा है। यह भव आपका कृतार्थ है, जिसमें आहारपरित्यागपूर्वक आपने गुरु के सान्निध्य में सल्लेखना ग्रहण की है। अहो ! धन्य है आपका पुरुषार्थ जो इस क्षुधा वेदना को आमन्त्रित करके बुलाया है। बुद्धिपूर्वक बुलाई हुई यह असह्य वेदना आपकी अतिथि है, अतः परिणामों को संक्लेशित करके अतिथि का निरादर नहीं करना, सोत्साह इसका आदर करो। अर्थात् धैर्यपूर्वक इसे सहन करते हुए अपने आत्मगुणों की सुरक्षा करो। नरक गति में उत्पन्न होने वाली अति दुःसह और सर्वांग-दाहक क्षुधा वेदना का स्मरण करो। यह आत्मा अनन्त बार नरकों में उत्पन्न हुआ, जहाँ स्वभाव से ही इतनी अधिक भूख लगती है कि संसार का समस्त अन्न खा लेने पर भी शान्त नहीं हो सकती

किन्तु हाय ! एक कण की भी प्राप्ति वहाँ दुर्लभ है। कर्मों के वशीभूत होकर जब आपने सागरों पर्यन्त मेरु सदृश महान् कष्ट भोगा है तब यह अल्पकाल का और सरसों सदृश अति अल्प कष्ट क्या कोई कष्ट है? अर्थात् कुछ भी नहीं है, इसे आप शानितपूर्वक सहन करो। क्षुधा वेदना से उत्पन्न होने वाली इस दीनता और कायरता का त्याग करो तथा सन्तोषामृत रूपी भोजन से अपनी आत्मा को तृप्त करो। इसी प्रकार तिर्यग्गतितज्ज्य अनेक पर्यायों में अनेक प्रकार से असह्य भूख की पीड़ा सहन की है। मनुष्य पर्याय में भी बन्दीगृह आदि में तथा नीच, दरिद्र आदि खोटे कुलों में तथा दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर भूख से आकुल-व्याकुल होते अति उग्र दुःखों को अनन्त काल तक भोगा है, उसका स्मरण करो, और सन्तोष रूप आहार से इस तपोजनित क्षुधा वेदना की ज्वाला को दृढ़तापूर्वक शान्त करो। छिद्रयुक्त पात्र के सदृश इस शरीर को जीवन भर अनेक प्रकार के भोजन-पान से भरा है किन्तु यह कभी पूर्ण नहीं भरा गया, तत्काल खाली होता गया क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है इसलिए अब सल्लेखना की सिद्धि के लिए रागभाव का विनाश कर अपने मन को ज्ञानामृत से तृप्त करो। जिस प्रकार जल के सिंचन से चमड़ा दुर्गन्ध ही छोड़ता है, उसी प्रकार अन्नपानादि देने से यह शरीररूप चमड़ा भी विष्टा आदि मल के द्वारा दुर्गन्ध ही छोड़ता है अतः तब आपका उपयोग मल की वृद्धि करने वाले शरीर के सिंचन की ओर कदापि न जाना चाहिए प्रत्युत् दुष्कर तर्प रूपी अग्नि के द्वारा इसे सुखाना ही चाहिए। तपों से भली प्रकार सुखाया हुआ यह शरीर भी मल-मूत्र आदि विकारों को छोड़कर निर्मल बन जाता है। आपके शरीर में मात्र चमड़ी और हड्डी ही अवशेष है अतः आप अपनी धीर-वीरता से इस क्षुधावेदना रूपी जगद्विजयी शक्ति को नष्ट करने में समर्थ हो, अपनी अपूर्व शक्ति को जाग्रत करो और इस क्षुधाशत्रु का मूलोच्छेद कर अनन्त सुख के भाजन बनो। उदर में जो जटराग्नि प्रज्वलित हो रही है उसे अपने उपयोग में लेकर ऐसा विचार मत करो कि यह वेदना दुःसह्य है, यह काल निकृष्ट है, मेरा सहनन हीन और आयु अभी बहुत दिखाई देती है, उस स्थिति में मैं इस क्षुधा वेदना रूपी तस्कर से अपने सल्लेखना रूपी रत्न की रक्षा करने में असमर्थ हूँ, कायर हूँ इत्यादि। इस भयंकर परिस्थिति में आप अपने स्वरूप का बार-बार स्पर्श करो, दृष्टि अन्तर्मुखी करके अपने सहज स्वाभाविक सुख का अनुभव करो। जड़ शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली यह क्षुधा वेदना आपके त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को स्पर्श नहीं कर सकती। इस क्षुधादि वेदना के पड़ोसी बनकर इस शरीर के माध्यम से उत्पन्न होने वाले समस्त दृश्यों के मात्र ज्ञाता द्रष्टा बनो और संयम रूपी कुम्भ में धारण किये हुए धैर्य रूपी अमृत से क्षुधा रूप अग्नि को शान्त कर आत्मोत्थ सुख का रसास्वादन करो।

तृषावेदना शमन करने का उपदेश

कर्म शत्रुओं से युद्ध करने वाले आपको बाह्याभ्यन्तर शरीर को शुष्क कर देने वाली जो यह तृषावेदना उत्पन्न हुई है, यह आपके ज्ञायक स्वभाव को स्पर्श नहीं कर सकती। आप आत्मस्वभाव के अवलम्बन से इस पर विजय प्राप्त करो। नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने सागरों पर्यन्त प्यास की भयंकर वेदना भोगी है। स्मरण करो नरकों की उस वेदना को जो दावानल की ज्वाला के सदृश निरन्तर जलाती थी। विश्व के समस्त जलाशयों के जल से भी जो शान्त होने वाली नहीं थी। मरण प्राप्त करा देने वाली वेदना होते हुए भी जहाँ मरण नहीं होता था, वहाँ क्या कोई भी हितचिन्तक तुम्हें एक बूँद भी जल पिला सका अथवा अन्य कोई शीतोपचार कर सका? नहीं। तब यहाँ तो उतनी भयंकर वेदना भी नहीं है और संघस्थ साधु एवं श्रावकगण शीतोपचार आदि के साधन भी जुटा रहे हैं। इतना ही नहीं, पूर्वोपार्जित पुण्योदय से निरन्तर शीतल ज्ञानामृत का पान भी कराया जा रहा है, इससे सन्तोष प्राप्त करो। समय को पहिचानो, यह समय गाफिल होने का नहीं है किन्तु सावधानीपूर्वक अपने संयमादि गुणों की रक्षा का है। यदि आपने कर्माधीन होकर कुगतियों में प्यास के अनन्त दुःखों को सहन किया है, तो फिर आज स्ववश होकर कर्मबन्धन से छूटने के लिए प्यास के इस अल्प से दुःख को शान्तिपूर्वक सहन नहीं करना चाहिए क्या? अवश्य ही करना चाहिए। आप तो वसतिका की शीतल छाया में लेटे हुए हो। साधुगण आपको धर्मामृत का निरन्तर पान करा रहे हैं, आपके अनुकूल वैयावृत्य में तत्पर हैं, यथायोग्य बाह्य उपचार भी किये जा रहे हैं, किन्तु बेचारे दीन-हीन उन पशुओं का विचार करो, जिन्होंने गुरुओं के उपदेश से एकदेश संयम धारण कर अन्त में समाधिमरण ग्रहण किया और अन्त तक उसका सुचारुरीत्या निर्वाह किया। धन्य है उन पशुओं की समता को जो बेला, तेला आदि उपवासों के द्वारा अपने शरीर को कृश कर लेते हैं, उपवासों के बाद जिनकी पारणा को कोई साधक नहीं। प्यास से प्राण व्याकुल हो रहे हैं किन्तु शरीर में इतनी शक्ति नहीं कि सरोवर तक जा सकें। यदि किसी प्रकार वहाँ पहुँच भी गये तो सरोवर में पैर रखते ही विकट कीचड़ में फँस गये। सामने जल दिखाई दे रहा है किन्तु कीचड़ में फँस जाने से पी नहीं सकते। शक्तिहीन होने के कारण न निकल पाते हैं, न बैठ पाते हैं और न लेट पाते हैं, कई-कई दिनों तक वैसे ही फँसे रहते हैं, ऊपर से गर्मी-सर्दी की वेदना सहन करते हैं फिर भी अपनी समता नहीं छोड़ते, ग्रहण किये हुए संयम एवं सम्यक्त्व का विधात नहीं करते। वहाँ कौन उन्हें सम्बोधन देने वाला है? कौन धर्म में स्थिर करने वाला है? कौन आत्मस्वरूप की चर्चा करने वाला है? कौन उनके शरीर को संभालने

वाला है? कौन बाह्य उपचार करने वाला है और कौन उनकी सल्लेखना का निस्तरण कराने वाला है? वे अपने ही श्रद्धा ज्ञान के बल पर उस संकटकालीन अवस्था में अपनी समता नहीं छोड़ते और स्वर्ग के भाजन बनते हैं, तो क्या हम उनसे भी अधिक कायर हैं? कमजोर हैं? या ज्ञानहीन हैं? नहीं। नहीं। अनन्त धन के धनी, ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण, वैराग्य रस से भरी हुई भेदविज्ञान रूपी रंग में रंगी हुई हमारी आत्मा को यह तृषा आदि की वेदना चलायमान नहीं कर सकती। इस प्रकार आत्मशक्ति के अवलम्बन से धैर्य रूपी घड़े में ध्यान रूपी शीतल एवं सुगन्धित जल से तृषा रूपी अग्नि की शिखा को बुझाकर शान्त करो और अपने उसी धैर्य रूपी गृह में विवेक रूपी दीपक के उद्योत से निजस्वरूप का अवलोकन करते हुए अपने संयमादि गुणों की रक्षा करो। समाधिमरण के सर्वोत्तम समय को प्राप्त करके आराधनासहित मरण के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यह अवसर जब अनन्त भवों में भी नहीं मिलेगा। देखो ! श्यालनी द्वारा तीन-दिन तक खाये जाने पर भी सुकुमाल महामुनि ने आराधनाएँ नहीं छोड़ीं, फिर आपके शरीर में ऐसा कौन-सा कष्ट है जो आप आकुलित हो रहे हैं।

कल्पना करो कि यदि कोई पशु शरीर का मांस निकाल-निकाल कर खा रहा हो तो उससे जिस प्रकार के कष्ट का अनुभव होगा क्या वैसा ही कष्ट वर्तमान में आपको है? यदि नहीं है तो विचार करो कि मैं दर्शनज्ञान-उपयोग लक्षण वाला हूँ, एक हूँ, सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा और मृत्यु से रहित हूँ, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अनन्त गुणों का भण्डार हूँ। यह शरीर अचेतन है, निन्ध है, क्षणक्षयी है तथा मलमूत्र आदि का आधार होने से दुःखों का स्थान है, इसलिए इस शरीर के माध्यम से उत्पन्न होने वाले अल्प कष्टों के वशीभूत होकर विरकाल से भावित आराधनाओं का विनाश मुझे नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार समाधिमरण के प्रभाव से सप्त धातुमयी महान् अशुचि और विनाशीक देह का परित्याग कर दिव्यवैक्रियिक शरीर को प्राप्त होते हुए नाना प्रकार की सुख-सम्पदाओं के स्वामी हुए, उसीप्रकार आप भी इस मृत्यु नामक कल्पवृक्ष को प्राप्त करके अपने आत्मकल्याण में ही पुरुषार्थ करो। देखो ! समाधिमरण के सदृश इस जीव का उपकार करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस देह के सम्पर्क से असंख्यात और अनन्त काल पर्यन्त महान् दुःख भोगते हुए तथा जन्म-मरण रूप अनन्त परिवर्तन पूर्ण करते हुए इस जीव की रक्षा करने में आज तक कोई समर्थ नहीं हुआ, न कोई शरणदाता ही मिला। किसी विशेष पुण्योदय से मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रियों की पूर्णता, सत्पुरुषों का समागम तथा भगवान् जिनेन्द्र के परमागम का उपदेश प्राप्त हुआ है अतः अब श्रद्धान, ज्ञान, योग एवं संयम आदि के अवलम्बन से देह से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का

अनुभव करते हुए भय रहित चारों आराधनाओं का शरण ग्रहण करो क्योंकि त्रैलोक्य में जीव का हित करने वाला अन्य कोई नहीं है। संसारपरिभ्रमण से छुड़ाने का सामर्थ्य समाधिभ्रमण में ही है।

यदि तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाय तो वेदना का शतांश दुःख भी आपके शरीर में नहीं है, और पूर्वोपार्जित पापोदय से यदि कुछ वेदना है भी तो आपको उसमें अपने उपयोग की सलग्नता नहीं करनी चाहिए। आपको तो निरन्तर अपनी आत्मा के विषय में यह चिन्तन करना चाहिए कि मैं सिद्ध हूँ, निरंजन हूँ, निर्विकार हूँ, महान् हूँ, अरूपी हूँ, अतीन्द्रिय हूँ, सर्वविद् हूँ, सर्वदर्शी हूँ, परमात्मा हूँ, प्रसिद्ध हूँ और स्वसंवेदनगम्य हूँ। द्रव्यदृष्टि से जब मेरा स्वभाव इस प्रकार का है तब मुझे कर्मजन्य वेदना आदि के द्वारा क्या दुःख दिया जा सकता है? मेरे शुद्ध स्वभावी गढ़ के भीतर किसी भी प्रकार की आकुलता आदि का प्रवेश नहीं हो सकता। इसी आत्मचिन्तन की शक्ति से अपने संयमादि गुणों की रक्षा करो। असाताकर्मोदय से उत्पन्न होने वाले क्षुद्र रोगों से अपने चित्त को आकुलित मत करो। प्रायः देखा जाता है कि कष्ट एवं रोगादि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्ति अपनी श्रद्धा से च्युत हो जाते हैं। सागादिक विकारों से रहित, त्रैकालिक शुद्ध, प्रचण्ड तेज के धारक अपने ज्ञायक स्वभाव की अटल श्रद्धा के बल पर इस जड़ शरीर के माध्यम से सल्लेखना रूपी महायज्ञ को सफल बनाकर अपनी आत्मा का उत्थान और धर्म की प्रभावना करो।

इस मनुष्यपर्याय में समाधिभ्रमण का संयोग साक्षात् कल्पवृक्ष है, जो भी वाञ्छित पदार्थ लेना चाहो, इससे ले सकते हो। जो भेदविज्ञानसहित निज स्वभाव को ग्रहण करके आराधना सहित भ्रमण करोगे तो स्वर्ग के इन्द्रादि पदों का भोग करने के पश्चात् तीर्थकर तथा चक्रवर्ती आदि होकर निर्वाण प्राप्त करोगे। त्रैलोक्य में समाधिभ्रमण जैसा अन्य कोई दाता नहीं। ऐसे दाता को प्राप्त करके भी यदि विषयकषाय के वशीभूत रहोगे तो नरक-निगोद में पड़ोगे। शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना आदि के कारण यदि समाधिरूपी कल्पवृक्ष का नाश करोगे तो ज्ञानादि गुण रूपी अक्षय निधान से रहित होते हुए संसार रूपी कर्दम में डूबोगे, इसलिए अपूर्व धैर्य को जागृत करो और अपने ग्रहण किये हुए इस व्रत का निरतिचार निस्तरण करो। दुःखों की खान स्वरूप संसारावास में यही सच्चा शरण है, इसके बिना चारों गतियों में महात्रास है। यदि आप उस महात्रास से बचना चाहते हो तो विषय-कषायों का शमन कर तथा शरीर से विरक्त होकर ग्रहण किये हुए समाधिभ्रमण से निस्तरण का पूर्ण प्रयत्न करो, जिससे आपकी दुर्गति न हो और धर्म एवं संघ का अपयश न हो। कर्मरूपी मगरमच्छों से भरे हुए संसार-समुद्र में त्रिभुवनविजयी कषायें ही भ्रमण करा रही हैं। ये कषायें अत्यन्त बलवान् और

दुर्जेय हैं, अतः सल्लेखना की सिद्धि के लिए ये कषायें सदा कृश करने योग्य हैं। देखो ! यद्यपि आपके सर्वांग अत्यन्त कृश हो गये हैं, मात्र हाड़ और चाम ही अवशेष रहा है, तथापि आत्मा के हितार्थ सत्त्व और साहस— इन दो को उत्पन्न करो, क्योंकि इन दो गुणों के द्वारा ही आपके तप, संन्यास और संयम आदि की पूर्णता हो सकती है। शारीरिक और मानसिक दुःखों पर विजय प्राप्त करने के लिए आपको भी ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैं देहस्वरूप नहीं हूँ। न मुझे कोई रोग है, न पीड़ा है और न मेरा मरण है। ये सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। मैं शरीर से भिन्न, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण, एक शुद्ध आत्मा हूँ, सुख ही मेरा स्वभाव है, जन्म-मरण मेरी अवस्थाएँ नहीं हैं। इस समाधिमरण और उत्तम ध्यान के अवलंबन से मैं भी अपनी आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर सकता हूँ जिस प्रकार कोई म्यान से तलवार को पृथक् कर लेता है।

मनुष्य का मन ही सर्व अनर्थों की जड़ है, जिन पुरुषों ने इस मन रूपी कलम को ज्ञान रूपी सुदृढ़ साँकलों से नहीं बाँधा वे पुरुष दुःख भोगते हुए इस संसार रूपी अटवी में ही भटकते रहते हैं, किन्तु जो महापुरुष इस मन को वश में करने की कला सीख लेते हैं, उनके रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं और रागद्वेष नष्ट हो जाने से साम्य भाव की प्राप्ति हो जाती है, आप भी अपने मन रूपी वृक्ष में मोह रूपी जल का सिंचन करना बन्द कर दो ताकि यह फल देने में असमर्थ हो जाय और आपका कल्याण हो जाय। जिस सल्लेखना को आपने आज तक कभी धारण नहीं किया था, उसे धारण करने का सुअवसर आपको आज प्राप्त हुआ है, अतः अब ऐसा पुरुषार्थ करो जिससे इस आत्महितकारी सल्लेखना में कोई दोष न आ पावे, आप परीषहों के कष्टों से मत घबराओ, वे आपकी आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। अपने पूर्व संचित कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करने के लिए आप सल्लेखनाजन्म कष्टों को उसी धीरता एवं सहनशीलता से सहन करो जिस प्रकार धन्य नाम के मुनिराज ने सहन किये थे। चिन्तन से आत्मदृढ़ता बढ़ती है और शरीर से मोह छूटता है, अतः भेदविज्ञान की भावना अवश्य भाते रहना चाहिए।

वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीव ही आत्मध्यान से विचलित नहीं होते। जिसके भय से विचलित होकर तीनों लोकों के प्राणी मार्ग छोड़ देते हैं, वज्र के पड़ने पर भी वे स्वाभाविक निर्भयता से सभी प्रकार की शंकाओं को छोड़कर स्वयं अपने आपको अखण्ड ज्ञानमय जानते हुए आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होते। आज कर्मादय से उत्पन्न होने वाले क्षुधातृषा आदि के अल्प से ताप भी हमसे शान्तिपूर्वक सहन नहीं किये जाते। यह संसार एक विशाल समुद्र के सदृश है, क्योंकि यह भयंकर दुःखसमूह रूपी जल से भरा है, दुर्गति रूपी बड़वानल से भयंकर है, दुःसाध्य रोग

रूपी मगरमच्छों से व्याप्त है, क्रोध रूपी विशाल वृक्षों से युक्त है, अत्यन्त क्रूर अहंकार रूपी नक्रों के समूह से दुर्लभ्य है, माया रूपी जलचर जीवों से भरा हुआ है, उभरती हुई लोभ रूपी शैवाल से मलिन है और रागद्वेष रूपी लहरों से संयुक्त है, अतः इसका किनारा प्राप्त करना कठिन है। आराधना रूपी नाव पर बैठकर क्षपक ही इसे पार करने में समर्थ होते हैं, आपको भी इन चारों आराधनाओं का भली प्रकार आराधन करना चाहिए। आपको भी रागद्वेष को भेदकर, विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों को छेदकर और शारीरिक कष्टों को नगण्य गिनते हुए स्वकीय आत्मा का और पंच परमेष्ठियों का ध्यान करना चाहिए।

आगम में उल्लेख है कि अनेक मुनिराजों पर उपसर्ग हुए हैं, जो उस तीव्र वेदना में भी अन्य की सहायता से रहित, एकाकी थे, जिनकी वेदना का कोई उपचार नहीं था, कोई वैयावृत्त्य करने वाला नहीं था, कोई उपदेशदाता नहीं था, और कोई सान्त्वना देने वाला भी नहीं था। जो पूर्व भव के बैरियों द्वारा अग्नि में दग्ध किये गये शस्त्रों से विदारे गये, जल में डुबोये गये, पर्वतों से गिराये गये, बाणों से छेदे गये, आहार आदि से वंचित किये गये और गड़ढे आदि में डाले गये, तो भी अपने साम्य भाव से विचलित नहीं हुए उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा, वे प्राण रहित हो गये किन्तु उन्होंने आराधनाओं में शिथिलता नहीं आने दी। आप पर कोई उपसर्ग आदि का भी कष्ट नहीं है तथा और अन्य सर्व बाह्य साधन भी अनुकूल हैं, अतः आपको अपनी आराधनाओं में शिथिल नहीं होना चाहिए, कायरता छोड़नी चाहिए, अपने आपको संभालना चाहिए तथा देव, शास्त्र, गुरु और सर्व संघ की साक्षीपूर्वक ग्रहण किये हुए इस सल्लेखना रूपी महान् व्रत् का उत्साहपूर्वक निर्वाह करना चाहिए।

सल्लेखनाजब्य अतिचारों के त्याग का उपदेश

सम्यग्दर्शनादि गुणों से सम्पन्न गुणवानों के द्वारा आचर्यमाण इस सल्लेखना की प्राप्ति तुम्हें अनादिकाल से अभी तक नहीं हुई थी। समुद्र में गिरी हुई राई की प्राप्ति के सदृश महान् पुण्योदय से इस भव में इसकी प्राप्ति हुई है, अतएव अतिचार रूपी पिशाचों से इस दुष्प्राप्य समाधिमरण की रक्षा करो। ये अतिचार पाँच प्रकार के हैं—

जीविताशंसा— प्रत्यक्ष में सुखानुभव कराने वाली, आचार्य आदि के द्वारा की गई इस परिचर्या में तथा लोकपूजादि में आसक्त होकर जीवन को रिथर बनाये रखने की इच्छा मत करो, क्योंकि ये सब वस्तुएँ भ्रान्ति से रम्य प्रतिभासित होती हैं। यथार्थ में विचार करने पर कदली तरु के सदृश असार हैं। जीवन की इच्छा करने से इस लोक में हास्य का पात्र बनना पड़ता है, और परलोक भी बिगड़ता है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक अपनी आत्मा को इस अतिचार से बचाओ।

मरणाशंसा— दुःसह क्षुधादि की वेदना के भय से शीघ्र मरने की इच्छा भी मत करो, क्योंकि इस वेदना से अनन्तगुणी वेदना तुम अनन्त भवों में भोग चुके हो, किन्तु वे सब परवशतापूर्वक तथा संक्लेश परिणामों से भोगी हैं, अतः कर्मक्षय का कारण न होकर संसार का ही कारण बनीं। इस शुभ अवसर पर बुद्धिपूर्वक आमन्त्रित की हुई इन वेदनाओं को यदि साम्य परिणामों में सहन कर लोगे तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्मों का नाश होगा और नवीन आस्रव का निरोध होगा, किन्तु यदि आपके हृदय में शीघ्रमरण की इच्छा बनी रही तो आप आत्मघाती होते हुए दीर्घ संसारी होंगे, इसलिए आपको अपने हृदय से शीघ्रमरण की इच्छा का परिहार कर देना चाहिए।

मित्रानुराग— बाल्यावस्था में एक साथ धूल में खेलने वाले अपने मित्रों की स्मृति मत करो, उनसे स्नेह मत करो और उनसे मिलने की अभिलाषा मत करो अर्थात् अपनी आत्मा को मित्रों के साथ अनुरंजित मत करो। पूर्व में अनेक बार अनुभव में आये हुए और मोह कर्म के विपाक से दुर्ललित ऐसे मित्रानुराग से परलोक की यात्रा में उद्यत आपको कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

सुखानुबन्ध— इस समय आप गृहस्थावस्था में अनुभूत पंचेन्द्रियों के विषयों में से किसी भी विषय का अनुराग मत करो। मेरी इस प्रकार की सुन्दर स्त्री थी, सुन्दर शय्या थी तथा मैंने अतिमनोज्ञ भोगों को भोगा था—ऐसा चिन्तन भी मत करो, क्योंकि पंचेन्द्रियों के सुखों के द्वारा आकृष्ट हुआ प्राणी अनन्तकाल तक संसार रूपी वनों में परिभ्रमण करता रहता है।

निदान— ज्वर आदि रोग, व्याधि, इष्टवियोग और शोक आदि के समान भविष्यत् काल में अत्यन्त दुःख देने वाले चक्रवर्ती आदि के भोगों की वांछा मत करो अर्थात् इस तप के महात्म्य से मैं इन्द्र, धरणेन्द्र आदि के पद प्राप्त करूँ— ऐसी भावना हृदय में उत्पन्न मत होने दो, क्योंकि ऐसा कौन मनुष्य है जो इच्छित वरदान को देने वाले इष्टदेव की आराधना करके कालकूट विष की प्रार्थना कोई नहीं करेगा।

निर्यापकाचार्य का अक्षिप्त कर्तव्य

इस प्रकार सम्बोधन देते हुए जब क्षपक की शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाय, उठने, बैठने एवं बोलने आदि की भी शक्ति न रहे तब केवल आत्मचिन्तन अथवा पंचपरमेष्ठियों के चिन्तन में क्षपक के उपयोग को लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद जब क्षपक के प्राणों का अन्त होने को हो तब से मृत्यु होने तक मधुर वाणी में धीरे-धीरे कानों में णमोकार मन्त्र सुनाते रहना चाहिए।

समाधिमरण का फल

यदि तद्भवमोक्षगामी जीव समाधि की साधना करता है तो समाधिमरण का साक्षात् फल तो मोक्ष है, क्योंकि उत्कृष्ट आराधना का फल मोक्ष भी है। यदि मध्यम

आराधना की साधना की तो जीव तीसरे भव में कर्मरज से रहित होकर मुक्ति प्राप्त करता है और यदि जघन्य आराधना की साधना हुई तो वह जीव सातवें भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। लोक में जितने भी सारभूत पद हैं, सुख व अभ्युदय के स्थान हैं अर्थात् देवेन्द्र का वैभव, चक्रवर्ती की सम्पदा, स्वर्गीय ऋद्धियों, सर्वार्थसिद्धि के सुख और लोकान्तिक देवों का ब्रह्मर्षि पद, ये सब स्थान चार आराधनाओं से प्राप्त होते हैं। संस्तरगत सर्वक्षपकों की आराधना एक सदृश नहीं होती, क्योंकि अन्त समय में क्षपक का जैसा परिणाम रहता है वैसी ही आराधना कहलाती है। जो मुनि या श्रावक समाधिमरण की इस साधना में मन-वचन-काय से सहयोग देते हैं, समाधि के समय उपरिथत होकर आचार्य का उपदेश सुनते हैं, आराधना के समय क्षपक की सेवा करते हैं, उसकी भक्ति एवं वन्दना करते हैं, वे सभी जीव नियम से चार आराधनाओं को प्राप्त कर अपना जन्म सफल करते हैं।

क्षपक जहाँ आराधनाओं की साधना करता है वह वसतिका स्थान कहलाता है, जहाँ उसके शरीर की अन्तिम क्रिया होती है वह निषीधिका स्थान कहलाता है, ये दोनों स्थान तीर्थ बन जाते हैं। इन स्थानों की वन्दना से भी आत्मा पवित्र होती है।

क्षपक के शव का अन्तिम संस्कार हो चुकने के बाद चार आराधनाओं की वांछा से समस्त संघ को एक कायोत्सर्ग करना चाहिए। सामान्य मुनि की समाधि होने पर उनके शरीर के दाहसंस्कार के समय सिद्ध, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करनी चाहिए। आचार्य की समाधि होने पर सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शान्ति और समाधि भक्ति बोलनी चाहिए। अपने गण के मुनि का मरण होने पर उस दिन सर्व संघ को उपवास करना चाहिए और उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए तथा परगण के मुनि का मरण होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, उपवास भजनीय है।

जो शूरवीर और ज्ञानवान् साधक चतुर्विध संघ के समक्ष प्रतिज्ञापूर्वक चार प्रकार की आराधना रूपी पताका को ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं, क्योंकि अनन्त काल में भी प्राप्त न होने वाली आराधना के लाभ से त्रैलोक्य में और कोई महान् लाभ नहीं है।

निर्यापकाचार्य तथा त्रियोगशुद्धिपूर्वक सर्वशक्ति लगाकर वैयावृत्य कराने वाले साधुगण भी धन्य हैं तथा वे भी धन्य हैं जो क्षपक के दर्शन करते हैं, क्योंकि इससे प्रचुर पुण्यबन्ध होता है।

जो भद्र एक पर्याय में समाधिमरणपूर्वक मरण करता है वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नहीं करता, तथा सल्लेखनाधारक क्षपक का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है अतः सभी को मन-वचन-काय से सल्लेखना का आदर करना चाहिए।

—('समाधि दीपक' से साभार) ❖❖

समाधिमरण-पाठ

पं. दौलतराम कासलीवाल

17वीं शती के महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल की यह कृति मूलतः ढूँढाड़ी (राजरथानी) भाषा में लिखित है, परन्तु यहाँ सर्वजनलाभाय आधुनिक राष्ट्रभाषा में रूपान्तर प्रकाशित किया जा रहा है।
—सम्पादक

समाधि नाम निःकषाय शान्त परिणामों का जानना। ऐसा इसका स्वरूप है। जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, उनका यह स्वभाव सहज ही होता है कि वे समाधिमरण को ही चाहते हैं। वे निरन्तर ऐसी भावना भाते हैं कि जब भी मरण का अवसर आवे तब मैं ऐसा सावधान रहूँ जैसे किसी सोते हुए सिंह को किसी महापुरुष ने ललकारा कि हे सिंह ! उठो, अपना पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करो। देखो ! आपके ऊपर बैरियों की फौज आ पहुँची है। शीघ्र ही गुफा से बाहर निकलो ! और जब तक बैरियों का समूह कुछ दूर है तब तक तुम उसे जीतने का कुछ उपाय कर लो, क्योंकि महापुरुषों की यही रीति है। महापुरुष के वचन सुनकर शार्दूल शीघ्र ही उठा, और गुफा के बाहर आकर ऐसी गुँजार लगाई मानो आसाढ़ मास में इन्द्र का ही धड़का हुआ हो। सिंह की भयंकर गर्जना सुनकर बैरियों की फौज के हाथी, घोड़े और मनुष्य आदि कम्पायमान हो गये और सिंह को जीतने में असमर्थ होता हुआ हाथियों का सरदार आगे पैर भी नहीं रख सका। हाथियों के हृदय में सिंह का भय बैठ गया। इससे वे धीरज छोड़ बैठे अर्थात् सिंह का पराक्रम सहन नहीं कर सके।

इसीप्रकार सिंह स्थानीय सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण-समय में अपने पास आने वाली कर्म रूपी बैरियों की सेना को जीतने का विशेष उद्यम करता है। कर्मों का आक्रमण जानकर सम्यग्ज्ञानी पुरुष सिंह के सदृश कायरता का दूर से ही परित्याग करता हुआ सावधान रहता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष के हृदय में आत्मा का स्वरूप देदीप्यमान प्रगट प्रतिभासित होता है। कैसा है उसका प्रतिभास? ज्ञानज्योति से प्राप्त होने वाले आनन्द रस से भरा हुआ, साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्तिक चैतन्य

धातु का पिण्ड, अनन्त गुणों से युक्त चैतन्यदेव आपको जानता है, अतः इसके अतिशय से परद्रव्यों में अंश मात्र भी रंजित अर्थात् रागी नहीं होता। रागी क्यों नहीं होता? क्योंकि वह अपने निज स्वरूप को वीतराग, ज्ञाता-द्रष्टा, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है तथा परद्रव्य का स्वभाव पूरण, गलन, क्षणभंगुर, विनाशीक और अपने स्वभाव से भिन्न जानता है। तब सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण से क्यों डरेगा? अर्थात् नहीं डरेगा।

सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण का अवसर आने पर भावना भाता है कि अब इस शरीर से सम्बन्धित आयु एवं बल आदि दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहे हैं। मरण चिह्न प्रगट हो रहे हैं, इसलिए अब मुझे सावधान रहना उचित है, ढील करना उचित नहीं। जैसे सुभट रणभेरी बजने के बाद तुरन्त शत्रु सेना पर चढ़ाई कर देता है, क्षण मात्र भी विलम्ब नहीं करता। वाद्यध्वनि सुनते ही उसे ऐसा वीररस चढ़ जाता है कि कब जाकर बैरियों से भिड़ूँ और उन्हें जीतूँ। इसीप्रकार अब मेरा भी इस काल को जीतने का अभिप्राय है। अतः हे कुटुम्बी जनो ! तुम सुनो ! अहो ! देखो ! इस पुद्गल पर्याय का चरित्र, घह आँखों देखते-देखते ही उत्पन्न हुआ और अब आँखों देखते-देखते ही विलय को प्राप्त हो जायगा। मैं तो पहले ही इसका यह विनाशीक स्वभाव भली प्रकार जानता था, जो इस समय यह आकर अब उपस्थित हुआ है। अब इस शरीर को स्थिर रखने वाली आयु अति अल्प रही है, उसमें भी समय-प्रतिसमय गलती जा रही है, अतः अब मैं इसका ज्ञाता-द्रष्टा होकर मात्र इसे देखता हूँ। मैं अब इसका मात्र पड़ोसी हूँ, स्वामी एवं कर्ता नहीं हूँ, मैं तो अब केवल यह देख रहा हूँ कि इस शरीर का आयु और बल कैसे पूर्ण (समाप्त) होता है और कैसे इस शरीर का नाश होता है? मैं केवल तमाशगीर बनकर इसका चरित्र देख रहा हूँ कि पुद्गल के अनन्त परमाणुओं ने मिलकर इसकी रचना की थी, और उनका विघटन ही अब इसे मार रहा है। शरीर पुद्गल से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, और वह मेरा स्वरूप भी नहीं है। मेरा स्वभाव तो एक चैतन्य धातुमय, शाश्वत और अविनाशी है तथा इसकी महिमा अद्भुत है सो मैं किससे कहूँ? देखो ! देखो !! इस पुद्गल पर्याय का माहात्म्य, जो इन अनन्त पुद्गल-परमाणुओं का एक सदृश परिणमन इतने दिनों तक रहा, सो यह बड़ा ही आश्चर्य है, इन परमाणुओं का अब भिन्न-भिन्न अन्य-अन्य रूप जो यह परिणमन हो रहा है उसमें आश्चर्य नहीं। जैसे लाखों मनुष्य मिलकर एक मेला नामक पर्याय की रचना करते हैं, अब यदि वे दीर्घकाल पर्यन्त उस मेला नामक पर्याय को शाश्वत रखते हैं तो इसका आश्चर्य है क्योंकि इतने दिनों तक लाखों मनुष्यों का परिणमन एक सदृश रहा— इस बात पर आश्चर्य अवश्य होता है, किन्तु जब वे लाखों मनुष्य दसों दिशाओं में भिन्न-

भिन्न गमन कर जाते हैं, तब मेला का नाश हो जाता है और लाखों मनुष्यों का भिन्न-भिन्न परिणमन होना तो स्वभाव ही है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार जब इस शरीर का परिणमन अन्य-अन्य प्रकार से होने लगा है, तब यह स्थिर कैसे रह सकता है? अब इस शरीर नामक पर्याय को बनाये रखने में कोई समर्थ नहीं है। इसे स्थिर रखने में कोई समर्थ क्यों नहीं है? क्योंकि त्रैलोक्य में जितने भी पदार्थ हैं, उनका परिणमन अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ही होता है, कोई किसी को परिणमन नहीं कराता, कोई किसी का कर्ता नहीं है, और न कोई किसी का भोक्ता ही है। शरीर के परमाणु स्वयमेव आते हैं; स्वयमेव जाते हैं। स्वयमेव मिलते हैं, स्वयमेव बिछुड़ते हैं, स्वयमेव गलते हैं, और स्वयमेव पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब मेरा आत्मा इस शरीर का कर्ता, भोक्ता कैसे? मेरे द्वारा सम्हाल किये जाने पर भी यह शरीर रह नहीं सकता और मेरे द्वारा दूर किये जाने पर भी दूर नहीं हो सकता क्योंकि यह मेरी आत्मा का कर्तव्य नहीं है। मैंने तो झूठा ही कर्तव्य मान रखा है, इसीलिए अनादि काल से खेदखिन्न एवं आकुल-व्याकुल होता हुआ महादुःख पा रहा हूँ। सो यह दुःखों की प्राप्ति न्यायसंगत ही है, क्योंकि जिसमें अपना उद्यम चलने वाला ही नहीं है ऐसे परद्रव्य का कर्ता बनकर उस परद्रव्य का अपने स्वभाव के अनुरूप परिणमन करना चाहता हूँ, अतः दुःख होगा ही होगा। अब मैं इस दुःख से छुटकारा पाने के लिए अपने आत्मतत्त्व की श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ। मैं अपने एक ज्ञायक स्वभाव का कर्ता हूँ, उसी का भोक्ता हूँ, उसी की वन्दना करता हूँ और उसी का अनुभव करता हूँ, इसीलिए शरीर के नाश से मेरी कुछ हानि नहीं और शरीर के सुरक्षित रहने से मेरा कुछ सुधार (लाभ) नहीं। यह तो प्रत्यक्ष अचेतन द्रव्य है। जैसे-काष्ठ, पाषाण हैं, वैसे ही अचेतन मेरा शरीर है। काष्ठ आदि की जड़ता में और इसकी जड़ता में कोई अन्तर नहीं है। इस शरीर के भीतर जो यह ज्ञान (जाननपने) का चमत्कार है, वह तो मेरा स्वभाव है, शरीर का स्वभाव नहीं है। शरीर तो प्रत्यक्ष में मुर्दा है। शरीर में से मेरे (आत्मा के) निकलते ही इसे मुर्दा समझकर दग्ध कर दिया जाएगा। यह जगत मेरे कारण ही शरीर का इतना आदर कर रहा है। जगत को इस बात का बोध नहीं है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है, इसीलिए यह अज्ञानी जगत भ्रम से इस शरीर को ही आत्मा समझकर इससे ममत्व कर रहा है। इसके नाश होने से बहुत झूरता है और बहुत-बहुत शोक करता है। कैसा शोक करता है? हाय ! हाय ! मेरा प्यारा पुत्र ! तू कहीं चला गया। हाय ! हाय ! मेरे पति, मेरी पुत्री, मेरी माता, मेरे पिता और मेरे प्यारे भ्राता ! तू कहीं चला गया, इत्यादि। अज्ञानी जन इस वर्तमान पर्याय को सत्य और अपनी समझकर उसके विनाश में अनेक प्रकार के विलाप कर-करके

मरते हैं और महाक्लेश को प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो ! इस जगत में कौन किसका पति, कौन पुत्र, कौन माता, कौन पिता, किसकी हवेली, किसका मन्दिर, किसका धन, किसका वैभव, किसके वस्त्र और किसके आभूषण? यह समस्त सामग्री झूठी है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। जैसे—स्वप्न में प्राप्त हुआ राज्य, इन्द्रजाल का खेल, भूतों की माया और आकाश में प्राप्त हुई बादलों की शोभा रमणीक सदृश दिखाई दे रही हैं, किन्तु वस्तु-स्वभाव का विचार करने पर यह कोई चीज ही नहीं है। यदि ये स्वभाव से वस्तुपने को प्राप्त होतीं तो शाश्वत रहतीं, नाश को प्राप्त क्यों होतीं? ऐसा जानकर अब मैं त्रैलोक्य में स्थित पुद्गल की समस्त पर्यायों (वस्तुओं) से ममत्व छोड़ता हूँ, और इन वस्तुओं के ही सदृश शरीर में भी ममत्व छोड़ता हूँ। इस शरीर के नाश से मेरे परिणामों में अंश मात्र भी खेद नहीं है। इन शरीरादि पर द्वयों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह रहे तो रहे और जाय तो जाय, इससे मेरा कोई मतलब नहीं है। अहो ! देखो ! मोह का स्वभाव, कि जो यह सर्व सामग्री प्रत्यक्ष ही पर है, विनाशीक है और उभयलोक में दुखदाई है तो भी यह संसारी जीव इसे अपनी मानता है और निरन्तर इसे अपने पास बनाये रखने की इच्छा करता है। मैंने इसका यह चरित्र खूब देखा है अतः मैं ज्ञाता-द्रष्टा होता हुआ मात्र अपने ज्ञान स्वभाव का ही अवलोकन करता हूँ। काल का आगमन देखकर भी मैं डरता नहीं हूँ क्योंकि काल का प्रभाव तो इस शरीर के ऊपर है, मेरे ऊपर नहीं। जैसे मक्खी दौड़-दौड़ कर विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं पर ही जाकर बैठती है, अग्नि पर कदापि नहीं बैठती, वैसे ही यह काल दौड़-दौड़कर शरीर को ही ग्रसित करता है और मुझे दूर-दूर ही भागता है, मुझे कभी ग्रसित नहीं कर सकता क्योंकि मैं तो अनादि अविनाशी चैतन्य देव और त्रैलोक्य पूज्य हूँ अतः ऐसे उत्कृष्ट पदार्थ पर काल का वश नहीं चलता। इस स्थिति में कौन मरे, कौन जन्म ले और कौन मरण का भय करे। मुझे तो मरण दिखाई नहीं देता क्योंकि जो मरता है वह तो पहिले से ही मरा हुआ है और जीवित है वह पहिले ही जीवित था। जो मरता है वह जीता नहीं है और जीता है वह मरता नहीं है, केवल मोह दृष्टि से अन्यथा प्रतिभासित होता है। मेरे मोह का विलय हो चुका है, अतः जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही मुझे प्रतिभासित हो रहा है। इस यथार्थ प्रतिभास में जन्म, मरण, सुख और दुःख आदि कुछ भी नहीं है, तब मैं किस बात का सोच करूँ या शोक आदि करूँ? मैं तो एक चैतन्यधातुमय अमूर्तिक और शाश्वत हूँ, अतः उसी का अवलोकन करता हूँ तब मुझे मरण आदि का दुःख कैसे व्याप सकता है? कैसा हूँ मैं? ज्ञानानन्द निज रस से पूर्ण भरा हुआ हूँ और शुद्धोपयोगी होता हुआ ज्ञानरस को प्राप्त करता हूँ तथा ज्ञान-

अंजुलि से आत्म-अमृत को पीता हूँ। यह आत्म-अमृत मेरे ही स्वभाव से उत्पन्न हुआ है अतः स्वाधीन है, पराधीन नहीं है, इसलिए उसके भोग से मुझे खेद नहीं है। कैसा हूँ मैं? अपने निज स्वभाव में स्थित हूँ, अडोल हूँ, अकम्प हूँ, अपने निज रस से अतिशय परिपूर्ण हूँ और ज्वलन्त अर्थात् देदीप्यमान ज्ञान ज्योति से प्रगट अपने ही निज स्वभाव में स्थित हूँ।

देखो ! अद्भुत चैतन्य स्वरूप की महिमा ! इसके ज्ञान स्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन नहीं करता और ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान में विकल्प का अंश भी नहीं आता, इसलिए निर्विकल्प, अभोग, अतीन्द्रिय, अनुपम और बाधा रहित अखण्ड सुख उत्पन्न होता है, सो यह सुख संसार में नहीं है। संसार में तो दुःख ही है। अज्ञानी जीवों को सुख का आभास जैसा होता है। कैसा हूँ मैं? ज्ञानादि गुणों से पूर्ण भरा हुआ हूँ, ज्ञानादि गुणमय एक वस्तु होता हुआ भी मैं अनन्त गुणों की खान हूँ। मेरा चैतन्य स्वरूप जहाँ-तहाँ चैतन्य ही चैतन्य रस से व्याप्त है। जैसे नमक की डली के सर्वांग में क्षार रस व्याप्त है अथवा जैसे शक्कर की डली का पिण्ड सर्वांग मिष्टं अर्थात् अमृत रस से व्याप्त रहता है, उसी प्रकार मैं एक मात्र ज्ञानमय पिण्ड हूँ, सर्वांग ज्ञान रस से व्याप्त हूँ। मेरे इस शरीर का जितना आकार है, उतना ही आकार मेरा है। वस्तु-स्वरूप का विचार करते हुए मेरा आकार तीन लोक प्रमाण है। अवगाहन शक्ति के कारण लोक में यह आकार समा गया है। एक-एक प्रदेश में असंख्यात-असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न स्थित हैं और सर्वज्ञ देव उन्हें भिन्न-भिन्न ही देखते हैं। इस आत्मा में संकोच-विस्तार शक्ति है। आगे कैसा है, मेरा निज स्वभाव अनन्त आत्मिक सुख का भोक्ता है, एक सुख की ही मूर्ति है, चैतन्यमय और पुरुषाकार है। जैसे मिट्टी के साँचे में एक शुद्ध रूपामय धातु के बिम्ब को निर्मापित करते हैं, वैसे ही आत्मा का स्वभाव इस शरीर के मध्य में जानना चाहिए। जैसे मिट्टी के साँचे के गल जाने पर, जल जाने पर या उसके हट जाने पर बिम्ब ज्यों-का-त्यों रहता है और सबों को प्रत्यक्ष दिखाई देता है। साँचे का विनाश होने पर वस्तु का विनाश नहीं होता, क्योंकि वस्तु पहिले ही भिन्न थी, तब एक का नाश होने पर दूसरी वस्तु का नाश कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार काल को प्राप्त करके यह शरीर गलता है तो गले। मेरे स्वभाव का तो विनाश है नहीं, मैं क्यों सोच करूँ? कैसा है मेरा यह चैतन्य स्वरूप? आकाश की निर्मलता से भी अधिक निर्मल है। जैसे आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह एक स्वच्छता का पिण्ड मात्र है, वैसे ही मेरी आत्मा है। कोई यदि तलवार से आकाश को छेदना चाहे, भेदना चाहे, अग्नि में जलाना

चाहे और पानी में गलाना चाहे तो वह आकाश कैसे छिदे, कैसे भिदे, कैसे जले और कैसे गले? कदाचित् भी उसका विनाश नहीं होता। जैसे कोई आकाश को पकड़ना चाहे या तोड़ना चाहे, तो वह कैसे पकड़ा जाय और कैसे टूटे? उसी प्रकार मैं भी आकाश की निर्मलता से भी अधिक निर्मल, निर्विकार और मात्र निर्मलता का पिण्ड हूँ। मेरा नाश किसी भी प्रकार नहीं होता — यह अटल सिद्धान्त है। यदि आकाश का नाश हो तो मेरा भी नाश होगा? सो है नहीं, किन्तु आकाश के स्वभाव में और मेरे स्वभाव में इतना विशेष है कि आकाश जड़ और अमूर्तिक पदार्थ है और मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूँ। जब मैं चैतन्य हूँ तभी तो ऐसा विचार कर सका कि यह आकाश जड़ है और मैं चैतन्य हूँ। मेरा जानपना प्रत्यक्ष ही विद्यमान दिखाई दे रहा है, किन्तु यह ज्ञातृपना आकाश में दिखाई नहीं देता, अतः मैं एक चैतन्य पदार्थ हूँ, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। फिर भी मैं कैसा हूँ? जैसे शीशा, मात्र एक स्वच्छ शक्ति का ही पिण्ड है और उस स्वच्छ शक्ति में स्वयमेव ही घट-पटादि पदार्थ झलकते रहते हैं। दर्पण अपनी स्वच्छ शक्ति से तन्मय है तथा व्याप्य-व्यापक भाव से व्याप्त है, इसी प्रकार मैं भी एक स्वच्छ शक्तिमय हूँ। मेरी स्वच्छ शक्ति में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव ही झलकते हैं। मैं ऐसी स्वच्छ शक्ति से तादात्म्य व्याप्य-व्यापक भाव से अपने स्वभाव में स्थित हूँ। मेरे सर्वांग में एक स्वच्छता ही भर रही है। ऐसा ज्ञात हो रहा है मानो ये समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वच्छतामय हो गये हैं। फिर भी स्वच्छता भिन्न है और ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं, सो यह स्वच्छ शक्ति का स्वभाव ही ऐसा है जिसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब आता ही है। आगे कैसा हूँ मैं? अत्यन्त अतिशय कर निर्मल साक्षात् प्रगट ज्ञान के पुंज से ही बना हूँ। अत्यन्त शान्ति रूप स्व-रस से पूर्ण भरा हूँ। एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ। कैसा है मेरा चैतन्य स्वरूप? अपनी अनन्त महिमा से विराजमान है, उसे किसी के सहारे की अभिलाषा नहीं है। असहाय स्वभाव को धारण किये हुए है। स्वयम्भू है। एक अखण्ड ज्ञानमूर्ति, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी परम देव यही है। इससे उपरान्त अन्य उत्कृष्ट देव किसे मानूँ। जो त्रिलोक और त्रिकाल में अन्य कोई होय तो मानूँ, जब कोई है ही नहीं तब यही मेरा उत्कृष्ट देव है और कैसा है मेरा ज्ञान स्वभाव? अन्य ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन नहीं करता और अपने निज स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। जैसे समुद्र जलसमूह से पूर्ण भरा है परन्तु अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, तरंगावलि रूप लहरों से अपने ही स्वभाव में भ्रमण करता है, उसी प्रकार यह ज्ञान-समुद्र शुद्ध परिणति रूप तरंगावली से सहित अपने सहज स्वभाव में ही भ्रमण करता है। ऐसी अद्भुत महिमा से विराजमान मेरा स्वरूप परम देव इस शरीर से भिन्न अनादि काल से अवस्थित है। मेरा इस शरीर

से पड़ोसी का-सा सम्बन्ध है, क्योंकि मेरा स्वभाव भिन्न प्रकार, इसका स्वभाव भिन्न प्रकार है। मेरा परिणमन भिन्न प्रकार है और इसका परिणमन भिन्न प्रकार है। इस समय यह शरीर गलन स्वभाव रूप परिणमन कर रहा है, इसमें मैं क्यों शोक करूँ और क्यों दुःख करूँ? मैं तो तमाशागीर तथा पड़ोसी बनकर स्थित हूँ। इस शरीर से मेरा राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि राग-द्वेष जगत में निन्द्य है और परलोक में महा दुःखदाई है। ये राग-द्वेष मोह से ही उत्पन्न होते हैं, अतः जिसका मोह विलय को प्राप्त हो गया उसका राग-द्वेष भी नाश हो गया। मोह से परद्रव्य में अहंकार-ममकार उत्पन्न होता है, जो यह द्रव्य है वही मैं हूँ— ऐसे अध्यवसान का नाम अहंकार है, और यह द्रव्य मेरा है— ऐसे अध्यवसान का नाम ममकार है। यह सामग्री न तो इच्छानुसार प्राप्त होती है और न इच्छानुसार छोड़ी जाती है, इसीलिए यह आत्मा खेदखिन्न होता है। यदि सर्व सामग्री पर ही ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाय तो उसके आने-जाने का विकल्प ही क्यों उत्पन्न हो? मेरा मोह पहिले ही विलय को प्राप्त हो चुका है, और पहिले ही मैं शरीरादि सर्व सामग्री को पर जान चुका हूँ, तब क्या इस शरीर के जाने का विकल्प मुझे अब उत्पन्न हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि मैं विकल्प उत्पन्न करनेवाले का पहिले ही भलीभाँति नाश कर चुका हूँ। अब मैं निर्विकल्प आनन्दमयी निज स्वरूप को बारम्बार सँभालता हुआ उसी भव में स्थित रहने का प्रयास करता हूँ।

यहाँ कोई कहे कि यह शरीर तुम्हारा नहीं है— यह बात तो सत्य है, किन्तु यह शरीर ही मुनिपर्याय में शुद्धोपयोग का साधन है, अतः इसका यह उपकार जानकर तो कम से कम इसे सुरक्षित रखने का उद्यम करना उचित है। इसमें तो आपका कोई घाटा नहीं है? इसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई ! आपने जो बात कही, वह मैं भी जानता हूँ कि शुद्धोपयोग का और ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों की वृद्धि का कारण यह मनुष्य शरीर ही है, इस शरीर के न होने से अन्य पर्यायों में इन गुणों की प्राप्ति दुर्लभ है, किन्तु अपने संयमादि गुणों के रहते यदि शरीर रहता है तो रहे और न रहे तो जाय। इससे मेरा कोई बैर तो है नहीं, जो मैं इसे साधक होते हुए भी नाश करूँ, किन्तु अपने संयमादि गुण जब तक निर्विघ्न पलेंगे तब तक ही इसकी रक्षा करूँगा, इसके बाद तो इसे अवश्य ही छोड़ूँगा। शरीर रक्षा के लिए संयमादि गुणों में दूषण कदापि न लगाऊँगा। जैसे कोई रत्नों का व्यापारी रत्नट्टीप में फूस की झोंपड़ी बनाकर रहता है और उस झोंपड़ी में रत्न ला-लाकर इकट्ठे करता है, यदि अचानक उस झोंपड़ी में आग लग जाय तो वह विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करता है कि किसी भी प्रकार इस अग्नि को शान्त करके रत्नों सहित झोंपड़ी की रक्षा करनी चाहिए। यदि यह झोंपड़ी सुरक्षित रह जायगी तो इसके

सहारे और भी बहुत से रत्न इकट्ठे कर सकूँगा। यदि वह पुरुष अग्नि को शान्त करने में सफल होता है तो रत्नों के साथ-साथ झोंपड़ी की रक्षा कर लेता है और यदि उसे यह दिखाई देता है कि रत्नों को नष्ट करके झोंपड़ी की रक्षा होगी तो वह कदाचित् भी झोंपड़ी की रक्षा में उद्यम नहीं करता। झोंपड़ी को तो जलने देता है और आप अपने सर्व रत्न लेकर अपने देश चला जाता है। वहाँ जाकर एक-दो रत्न बेचकर अनेक प्रकार की विभूति को भोगता है, और अनेक प्रकार के रजत एवं स्वर्णमय महल और हवेलियाँ बनवाकर तथा बाग-बगीचों का निर्माण करवाकर राग-रंग पूर्वक उनमें आनन्द से क्रीड़ा करता है, तथा निर्भय होता हुआ सुख से रहता है। इसी प्रकार भेदविज्ञानी पुरुष शरीर के लिए अपने संयमादि गुणों में अतिचार भी नहीं लगाता और ऐसा विचार करता है कि जो संयमादि गुण रहेंगे तो मैं नवीन देव पर्याय धारण कर वहाँ से विदेह (संयमादि गुणों को सुरक्षित रखने वाला स्वर्ग जाकर ही विदेह जा सकता है, क्योंकि संयमी विदेह नहीं जाता और मनुष्यायु का बन्ध करनेवाला संयम ग्रहण नहीं कर पाता) आदि क्षेत्रों में जन्म लेकर सीमन्धर आदि तीर्थकरों का, अनेक केवली भगवन्तों का और अनेक मुनिराजों का दर्शन करके जन्म-जन्म के संचित पापों का नाश करूँगा। अनेक प्रकार का संयम ग्रहण कर तपश्चरण करूँगा। तीर्थकर और केवली भगवन्तों के चरणारविन्दों में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करूँगा। अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तरों द्वारा तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर संसार के कारणभूत राग-द्वेष का जड़ मूल से नाश करूँगा, और श्री परमदयाल आनन्दमय अरिहन्त देव के दर्शनरूपी अमृत को पी-पीकर उनके आदेशानुसार आचरण करूँगा। उस आचरण से मेरा कर्म-कलंक धुल जायगा और मैं पवित्र हो जाऊँगा। श्री तीर्थकर देव के निकट दीक्षा ग्रहण कर नाना प्रकार के दुर्द्धर तपश्चरण करूँगा, जिसकी अतिशयता से अत्यन्त निर्मल शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी, जिससे अपने आत्मस्वरूप में अत्यन्त स्थिर होकर क्षपक श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होऊँगा, पश्चात् क्रीड़ा (क्षण) मात्र में कर्मरूपी शत्रुओं को जड़-मूल से नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करूँगा, तब एक ही समय में समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ मुझे भी दिखाई देने लगेंगे और यह अनुपम स्वभाव फिर अनन्तकाल पर्यन्त शाश्वत रहेगा। इसप्रकार जब मैं ऐसी अपूर्व लक्ष्मी का स्वामी हूँ, तब मुझे इस शरीर से कैसे ममत्व उत्पन्न होगा? सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसी ही भावना में अवरिथत रहता है। वह पुनः सोचता है कि मुझे तो दोनों ओर से आनन्द ही आनन्द है, यदि यह शरीर रहेगा तो भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा और यदि नाश हो जायेगा तो परलोक में जाकर भी शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा। इस प्रकार मुझे तो शुद्धोपयोग की आराधना में कोई विघ्न

दिखाई देता नहीं है तब भला फिर मेरे परिणामों में संक्लेश उत्पन्न क्यों होगा? मेरा परिणाम शुद्ध स्वरूप में अत्यन्त आसक्त है। इस आसक्ति को दूर करने में एक मात्र मोह कर्म समर्थ था, सो उसे मैंने पहिले जीत लिया है। अब त्रैलोक्य में कोई मेरा बैरी रहा नहीं और मोह बैरी बिना त्रैलोक्य और तीन काल में कोई दुःख देने वाला है नहीं, तब मुझे मरण भय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता, इसीलिए आज मैं सर्वप्रकार से निर्भय हुआ हूँ, यह बात तुम भली प्रकार जानो और इसमें किसी प्रकार का सन्देह मत करो।

इसप्रकार शुद्धोपयोग की आराधना करनेवाला महापुरुष अपने शरीर की स्थिति को पूर्ण जानकर उपर्युक्त विचारों में आनन्दमय रहता है। किसी प्रकार की आकुलता उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि आकुलता ही संसार का बीज है, इसी बीज से संसार की स्थिति है। आकुलता करने से बहुत काल में संचित किये हुए भी संयम आदि गुण अग्नि में डाले हुए बहुमूल्य पदार्थों के सदृश भस्म हो जाते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को किसी प्रकार की आकुलता नहीं करना चाहिए। निश्चय से अपने एक आत्मस्वरूप का ही बारम्बार विचार करना चाहिए। उसी को बार-बार देखना चाहिए, उसी के गुणों का बार-बार चिन्तन करना, उसी की शुद्ध पर्याय का अविचार एवं वांछा करना और उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। जब अपने शुद्धस्वरूप से चलायमान हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह संसार अनित्य है, इसमें कुछ भी सार नहीं है, यदि सार होता तो तीर्थकर देह क्यों छोड़ते? इसलिए अब मुझे निश्चय से तो मेरे अपने स्वरूप का ही शरण है और बाह्य में पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रय धर्म शरण है। कदाचित् भी तथा स्वप्न में भी तथा भूलकर भी मेरा अभिप्राय अन्य को शरण मानने का नहीं है। यह मेरा दृढ़ संकल्प है। ऐसा विचार करके पुनः अपने उपयोग को अपने आत्मस्वरूप में ही लगावे, और यदि पुनः वहाँ से उपयोग लौटे तो अरिहन्त, सिद्ध के आत्मस्वरूप का अवलोकन करे, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करे। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करते-करते जब उपयोग निर्मल हो तब फिर उसे अपने स्वरूप में लगावे। अपने स्वरूप सदृश अरिहन्त-सिद्ध का स्वरूप है, और अरिहन्त सिद्ध के स्वरूप सदृश अपना स्वरूप है। किसी भी प्रकार द्रव्यत्व स्वभाव में अन्तर नहीं है, किन्तु पर्याय स्वभाव में तो अन्तर है ही। जो मैं हूँ सो तो द्रव्यत्व स्वभाव का ही ग्राहक हूँ, अतः अरिहन्त का ध्यान करते-करते आत्मा का ध्यान भली-भाँति बन जाता है और आत्मा का ध्यान करते-करते अरिहन्त का ध्यान हो जाता है। अरिहन्त के और आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है, चाहो तो अरिहन्त का ध्यान करो और चाहो तो आत्मा का ध्यान करो।

कुटुम्ब-परिवार से ममत्व छुड़ाने हेतु वह कहता है कि अहो ! इस शरीर के माता-पिता ! तुम भलीभाँति यह जान लो कि वह शरीर जब तक आपका था तब तक था, अब तुम्हारा नहीं है। अब इसका आयु और बल समाप्त हो रहा है सो यह किसी के भी पुरुषार्थ से रह नहीं सकता। इसकी इतनी ही स्थिति थी। अब इसके नाश का समय आ चुका है, अतः अब इससे ममत्व छोड़ो। अब इससे ममत्व करने से क्या? इसकी प्रीति दुःख का ही कारण है। यह शरीर रूप पुद्गल की पर्याय इन्द्रादिक देवों की भी विनाशीक है। जब मरण-समय आता है तब इन्द्रादिक देव भी मुख फाड़े खड़े रहते हैं, सर्व देवों का समूह देखता ही रहता है और काल रूप किंकर उसे (शरीर को) उठाकर ले जाता है। इस समय किसी की भी शक्ति नहीं कि जो काल की दाढ़ में से छुड़ाकर क्षणमात्र भी स्थित रख सके। यह काल रूपी किंकर एक-एक को ले जाकर सर्व को भक्षण कर जायगा। जो अज्ञान से काल के वशीभूत रहेगा उसकी यही गति होगी। आप लोग मोह के वशीभूत होकर दूसरे के शरीर से ममत्व कर रहे हो, और इसे स्थिर रखना चाहते हो। मोह के कारण आपको संसार का चरित्र विपरीत मालूम नहीं होता। दूसरे के शरीर को बनाए रखना तो दूर है, आप पहिले अपने शरीर को तो सुरक्षित रख लो। पीछे दूसरों के शरीर को सुरक्षित रखने का उपाय करो। आपकी जो यह भ्रमबुद्धि है वह वृथा ही दुःख का कारण है। क्या आपको यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रहा है कि इस संसार में काल ने जब पहिले भी किसी को नहीं छोड़ा तब अब किसी को कैसे छोड़ देगा? जो हाय-हाय करते हुए दुःखी होते हो। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आप निर्भय होकर स्थित क्यों नहीं रहते? आपका यह कौन-सा अज्ञान है तथा आपकी कैसी हौनहार है? यह मुझे कुछ समझ में नहीं आता। मैं आपसे पूछता हूँ कि आपको आपा-पर की भी कुछ खबर है या नहीं? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ और इस पर्याय को छोड़कर अब कहाँ जाऊँगा? जिन पुत्र आदि से मैं प्रीति करता हूँ वे कौन हैं? यदि ये यथार्थ में मेरे पुत्र आदि हैं तो शाश्वत मेरे पास क्यों नहीं रहे? जन्म से पहिले ये कहाँ थे? अब तुम्हें उन जीवों में पुत्र आदि की बुद्धि उत्पन्न हुई है, और उनके वियोग में शोक उत्पन्न होता है। अब आप से यही कहना है कि आप चित्त को सावधान करके विचार करो। भ्रम रूप बुद्धि के अधीन मत रहो। आप तो अपने कार्य का विचार करेंगे तो सुख पाओगे। पर के कार्य-अकार्य पर के हाथ हैं, उसमें आपका कर्तव्य कुछ भी नहीं चलेगा। आप लोग वृथा ही खेदखिन्न क्यों होते हो? तथा अपने-आपको मोह के अधीन कर संसार-समुद्र में क्यों डूबते हो? इस संसार में नरकादि के दुःख आपको ही सहने पड़ेंगे। ये कुटुम्बीजन कोई नहीं सहेंगे, क्योंकि जैनधर्म का ऐसा उपदेश नहीं

है कि कोई पाप करे और अन्य कोई उसका फल भोगे। आप लोगों की अज्ञानता को देखकर मुझे बहुत दया आती है, इसलिए आप मेरा उपदेश ग्रहण करो, ग्रहण करो ! मेरा उपदेश आपको बहुत सुखदाई है। मेरा उपदेश सुखदाई क्यों है, क्योंकि मैंने जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है और आप जैनधर्म से अत्यन्त विमुख हो, इसलिए आप लोगों को दुष्ट मोह दुःख दे रहा है और मैंने मोह को जैनधर्म के प्रताप से सुलभतापूर्वक जीत लिया है, इसलिए मैं एक जैनधर्म को ही विशेष जानता हूँ, और आपको भी जैनधर्म के स्वरूप का विचार करना ही कार्यकारी है। देखो ! आपकी आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता द्रष्टा-स्वभाव वाली है, और ये शरीरादि पर वस्तुएँ हैं, और अपने स्वभाव रूप स्वयमेव परिणमन करती हैं, किसी के द्वारा भी रक्षित नहीं रह सकतीं। भोले जीव भ्रम में पड़े हुए हैं, इसलिए हे भाई ! भ्रम बुद्धि छोड़ो और एक आपा-पर की ही पहिचान करो, इसी से अपना हित-साधन होगा। जिसमें अपना हित हो वही कार्य करना, यही विलक्षण पुरुषों की रीति है, वे मात्र अपने हित को ही चाहते हैं, बिना प्रयोजन एक पय भी नहीं रखते। तुम मुझसे जितना अधिक ममत्व करोगे वह सब दुःख का ही कारण होगा। उससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होना नहीं है। इस जीव ने अनन्त पर्यायों में अनन्त बार भिन्न-भिन्न माता-पिता प्राप्त किये थे, सो इस समय वे सब कहाँ चले गये? इस जीव को अनन्त बार स्त्री, पुत्र एवं पुत्री आदि का संयोग मिला है सो वे सब अब कहाँ गये? प्रत्येक पर्याय-पर्याय में भ्राता, कुटुम्ब और परिवार आदि की प्राप्ति हुई है सो वह कहाँ गये? इन संसारी जीवों की पर्याय बुद्धि है, इससे वे जिस पर्याय में जाते हैं, उसी को अपना मानकर उससे तन्मय होते हुए तदरूप ही परिणमन करते हैं। यह नहीं जानते कि पर्याय विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य, शाश्वत अविनाशी है। ऐसा विचार उत्पन्न ही नहीं होता, इसमें आपका कोई दोष नहीं, यह तो सब मोह का ही माहात्म्य है, जो प्रत्यक्ष सत्यार्थ वस्तु को झूठी दिखाता है और झूठी वस्तु को सत्यार्थ दिखाता है। जो भेदविज्ञानी पुरुष हैं, जिनका मोह गल गया है वे पर्याय को अपना कैसे मानेंगे और कैसे संयोग को सत्य जानेंगे? वे महापुरुष क्या किसी के द्वारा चलायमान किये जा सकेंगे? कदापि नहीं। अब इस समय मुझे ज्ञान भाव रूप पदार्थ की दृढ़ प्रतीति उत्पन्न हुई है। आपा-पर का समीचीन ज्ञान हुआ है अतः अब मुझे उगने में कोई भी समर्थ नहीं है। अनादि काल से प्रत्येक पर्यायों में अनेक बार ठगाया गया, इसीकारण भव-भव में जन्म-जन्म के भयंकर दुःख सहन किये हैं, इसलिए अब मैंने भली प्रकार जान लिया है कि आपका और मेरा मात्र इस पर्याय का संयोग था, सो अब समाप्त हो रहा है, अतः अब आपको भी आत्मकार्य ही करना उचित है, मोह करना उचित नहीं है। आपका

अपना निज आत्मस्वरूप भी शाश्वत है, अतः निरन्तर उसकी सम्हाल करते रहो ! उसकी सम्हाल में किसी प्रकार का खेद नहीं, किसी के पास जाकर कुछ याचना करना नहीं, अपने ही घर में महा अमूल्य निधि है, यदि एक भी बार उस निधि की सम्हाल कर ली जाय तो जन्म-जन्म का दुःख नाश हो जाये। इस संसार में जितना भी दुःख है वह केवल आत्मस्वभाव को न जानने से ही है, इसलिए एक आत्मज्ञान की ही आराधना करो, क्योंकि जो ज्ञान स्वभाव है वह अपना ही स्वभाव है, उसको प्राप्त करके जीव महासुखी हो जाता है, और उसकी प्राप्ति न होने से महादुःखी रहता है। प्रत्यक्ष देखने-जानने स्वभाव वाला ज्ञायक महापुरुष शरीर से भिन्न है, ऐसे अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी बात में प्रीति उत्पन्न नहीं करता।

स्त्री से ममत्व छुड़ाने हेतु वह कहता है— अहो ! इस शरीर की स्त्री ! तू अब इस शरीर से ममत्व छोड़। तेरा मेरे इस शरीर से इतना ही सम्बन्ध था सो अब पूर्ण हुआ। इस शरीर से तेरा हित-साधन होगा नहीं, इससे अब तू मोह छोड़। बिना प्रयोजन खेद मत कर। यदि तू इस शरीर को रख सकती है तो रख ले, मैं मना करता नहीं और यदि तू इसे रखने में असमर्थ है तो अब बोल—इसमें मैं क्या करूँ? हे रमणी ! तू विचार कर देख कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ, स्त्री-पुरुष तो पर्याय है जो विनाशीक है, इसमें कैसी प्रीति? यह जड़ और आत्मा चैतन्य, ऊँट बैल का-सा जोड़ा—सो यह संयोग कैसे बने। यह मेरी पर्याय भी चंचल है— ऐसा विश्वास करके तू अपने हित की बात क्यों नहीं सोचती। हे देवि ! इतने दिनों भोग किया सो बतला तो सही कि उससे क्या सिद्धि हुई? यदि नहीं हुई तो और कुछ दिन भोग भोग लेने से क्या सिद्धि हो जायगी? भोग-भोगकर वृथा ही आत्मा को संसार-समुद्र में डुबोया और सिर पर नाचने वाले इस मरण के समय को नहीं जाना। मरने के बाद यह तीन लोक की सम्पदा मेरे लिए तो झूठी ही है, क्योंकि अगली पर्याय में तो तू मेरी सम्हाल करेगी नहीं। यदि यथार्थ में तू मेरी प्यारी स्त्री है तो मुझे धर्म का उपदेश दे, तेरे लिए यह स्वर्ण का समय मिला है और यदि तू स्वार्थ की सगी है तो तेरी तू जान। मैं तेरे डिगाये नहीं डिगूँगा। मैंने तो तुझ पर दया करके तुझे उपदेश दिया है, मानो तो ठीक है, न मानो तो तुम्हारा जैसा होनहार होना होगा सो होगा, मेरा तुमसे अब कोई मतलब नहीं। अब तू मेरे पास से जा और परिणामों में शान्ति रख, आकुलता मत कर, क्योंकि आकुलता ही संसार का बीज है। तू भी निराकुल हो आत्मसाधना कर यही हितकर है।

कुटुम्ब परिवार को समझाते हुए कहता है— अहो कुटुम्बी जनो ! अब इस शरीर की आयु क्षय हो रही है, मेरा परलोक निकट है, इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि आप मुझसे किसी बात का राग नहीं करना। मेरा और आपका चार दिन

का मिलाप था, अधिक समय का नहीं। जैसे सराय में राहगीर दो-चार रात्रि को एकत्रित रहें और पीछे बिछुरते समय शोक करें तो यह कहाँ की बुद्धिमानी है? अब मेरा आप सबके ऊपर क्षमा भाव है। आप सब आनन्द से रहो। अनुक्रम से सबकी यही गति होनी है, संसार का ऐसा चरित्र जानकर कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो इससे प्रीति करेगा?

पुत्र को समझाते हुए कहता है— अहो पुत्र ! तुम समझदार हो, मुझसे किसी प्रकार का मोह नहीं करना। एक जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित धर्म का आराधन करना। धर्म सुख देने वाला है, माता-पिता कोई सुख देने वाले नहीं हैं। जो माता-पिता को सुख का कर्ता मानते हैं यह सब एक मोह का ही माहात्म्य है, कोई किसी का कर्ता नहीं है और न कोई किसी का भोक्ता है। सर्व ही पदार्थ अपने स्वभाव के कर्ता भोक्ता हैं, इसीलिए मैं आप से कहता हूँ कि आप व्यवहार मात्र से मेरी आज्ञा मानते हो। यदि आप यथार्थ में आज्ञाकारी हो तो जो मैं कहूँ सो करो। देखो ! प्रथम तो देव, गुरु, धर्म की अवगाढ प्रतीति करो, साधर्मियों से मित्रता रखो, दान, तप, शील और संयम से अनुराग करो, स्व-पर का भेदविज्ञान निरन्तर बना रहे— ऐसा उपाय करो और संसारी जीवों से प्रीति मत करो, क्योंकि ये तीव्र संसार में सरागी जीवों की संगति से ही महादुःख भोग रहे हैं, इसलिए सरागी जीवों की संगति अवश्य छोड़ना, धर्मात्मा पुरुषों की संगति करना, क्योंकि धर्मात्माओं की संगति से उभयलोको में सुख की प्राप्ति होती है। इस लोफ में तो महानिराकुलता रूप सुख की प्राप्ति होती है और यश भी होता है तथा परलोक में स्वर्गादिक सुख भी मिलते ही हैं, किन्तु अनपाय मोक्ष में जाकर शिव रमणी का भर्ता भी हो जाता है तथा निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधरहित, शाश्वत और अविनाशी सुख का रसास्वादन करता हुआ अनन्त काल तक अपने आप में ही तृप्त रहता है, इसीलिए हे पुत्र ! आपको यदि मेरे वचन समीचीन मालूम होते हों तथा इस शिक्षा में आपको अपनी कुछ भलाई दिखाई देती हो तो मेरी शिक्षा अवश्य अंगीकार करो और यदि आपको मेरे वचन झूठ दिखाई देते हों तथा इसमें आपको अपनी भलाई दिखाई न देती हो तो मेरे वचन स्वीकार मत करो। मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। दया बुद्धि से आपको उपदेश दिया है मानो तो मानो और न मानो तो आपकी आप जानो।

इसप्रकार समाधि के सम्मुख हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब अपनी आयु अल्प जानता है तब जो कुछ दान-पुण्य करना होता है वह सब स्वयं अपने हाथ से करता है, पश्चात् जिन-जिन पुरुषों को जो कोई भी बात बतलानी होती है उसे कहकर निःशल्य हो जाता है। कार्य करने वाले सभी स्त्री-पुरुषों को जो कुछ देना है वह देकर विदा कर देता है तथा धार्मिक कार्यों में सहयोग देने वाले पुरुषों को बुलाकर

अपने समीप रखता है। अपनी आयु की पूर्णता जानकर सर्व परिग्रह पुत्रों को सौंपता है और आप जीवन पर्यन्त के लिए सर्व परिग्रह का और चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है और यदि आयु पूर्ण होने में सन्देह दिखाई देता है तो परिग्रह एवं आहार आदि का दो-चार घड़ी को नियम रूप से त्याग करता हुआ निःशक्त्य होने की चेष्टा करता है। पलंग से नीचे उतरकर सिंह के सदृश उसी प्रकार निर्भय तिष्ठता है, जैसे बैरियों को जीतने के लिए सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में स्थित होता है। किसी प्रकार की अंश मात्र भी आकुलता उत्पन्न न करता हुआ शुद्धोपयोग का अभिलाषी सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षलक्ष्मी के पाणिग्रहण की वांछा करता हुआ उसमें ऐसा अनुरागी होता है मानो शीघ्र ही उसे वरण करना चाहता है। उसके हृदय में मोक्ष लक्ष्मी का आकार टाँकी से उत्कीर्ण किये हुए के सदृश स्थित रहता है। वह उसे शीघ्र ही वरण करना चाहता है, इसीलिए अपनी परिणति में राग-भाव का स्थान नहीं देता। उसे इस बात का भय है कि कदाचित् मेरे स्वभाव में रागांश आकर दोष उत्पन्न कर देंगे तो जो मोक्षलक्ष्मी मुझे वरण करने के सन्मुख हुई है वह पीछे मुड़ जायगी, इसलिए मैं इस राग-परिणति को दूर ही से छोड़ता हूँ। ऐसे विचार करता हुआ वह सम्यग्दृष्टि जीव अपना काल पूर्ण करता है। उसके परिणामों में निरन्तर निराकुल आनन्द रस प्राप्त करने की, शान्त रस से तृप्त होने की और आत्मिक सुख की वांछा रहती है। एक अतीन्द्रिय सुख की ही वांछा उसे रहती है अन्य किसी वस्तु की वांछा नहीं रहती। यद्यपि उसके पास अभी धर्मात्मा जनों का संयोग है, तथापि वह उस संयोग को भी पराधीन और आकुलता रूप ही समझता है। निश्चय नय से वह विचार करता है कि ये सब संयोग सुख के कारण नहीं हैं, सुख का कारण तो मेरा एक आत्म तत्त्व है सो मेरा मेरे पास है, इसलिए स्वाधीन है। इसप्रकार शान्त परिणामों से युक्त होता हुआ वह अपना समाधिमरण करता है जिसके फल से स्वर्ग में इन्द्रादिक की विभूति प्राप्त करता है। वहाँ से चय कर राजा होकर दीर्घकाल तक राजविभूति को भोगकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर तपश्चरण करता है। पश्चात् क्षपक श्रेणी पर चढ़कर चार घातिया कर्मों को नाश करके केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करता है। समस्त लोकालोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थ एक समय में स्वयमेव झलकते हैं, उस सुख की महिमा वचन-अगोचर है।



“जन्म जनम मुनि यतन कराहीं। अन्तकाल मुख आवत नाहीं।।”

जन्म जन्मान्तरों से मुनिगण प्रयत्न करते हैं, फिर भी अन्त समय में भगवान का नाम मुख से नहीं निकलता है। —रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड, 9/2

समाचार-दर्शन

संयम-वर्ष में समर्पित आचार्य विद्यानन्द-पुरस्कार

15 जनवरी, 2004 को भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली द्वारा प्रवर्तित शौरसेनी, प्राकृभाषा एवं साहित्य विषयक आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार 2000 एवं 2001 कुन्दकुन्द भारती के तत्त्वावधान में केन्द्रीय विद्यालय संगठन सभागार, नई दिल्ली में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में प्रो. लालचन्द्र जैन (भुवनेश्वर) और डॉ. ऋषभचन्द्र जैन (वैशाली) को प्रदान किये गये।

इस अवसर पर आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने कहा कि— विद्वानों के सम्मान की परम्परा राजा विक्रमादित्य, राजा भोज के समय से चली आ रही प्राचीन भारतीय परम्परा है। प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों का आज भी अनुपालन होना चाहिये। जैनधर्म संस्कृति, आगमों की रक्षा एवं प्रचार-प्रसार में हमारे मनीषी विद्वानों का अथक परिश्रम एवं पुरुषार्थ दीप ज्योति की भाँति सदैव हमारा मार्ग प्रकाशित करता रहेगा।

सभा की अध्यक्षता करते हुए पद्मश्री महामहोपाध्याय डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने बताया कि इण्डोनेशिया और लाओस में कलिंग के नाम पर आधारित जातियाँ आज भी अस्तित्व में हैं। वे लोग कलिंग से वहाँ गए थे और अपनी पुरानी रूढ़ियों और मान्यताओं का आज भी पालन कर रहे हैं।

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय ने विद्यापीठ में प्राकृत और जैनदर्शन के साथ-साथ ब्राह्मी लिपि के अध्ययन-अध्यापन हेतु जैन चेयर की स्थापना पर जोर देते हुए जैन समाज से इस कार्य में योगदान के लिये अपील की।

साहू (डॉ.) रमेश चन्द्र जैन ने प्राकृत शोध संस्थान वैशाली के केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिग्रहण किये जाने की आवश्यकता बतलाते हुए उसके विकास पर जोर दिया।

विद्वानों का परिचय कुन्दकुन्द भारती के निदेशक प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन ने दिया। प्राकृत विद्या के प्रबन्ध सम्पादक डॉ. सत्यप्रकाश जैन ने प्रशस्तियों का वाचन किया। मंच संचालन श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने किया।

प्रो. लालचन्द्र जैन ने अपने सम्मान के लिये आभार व्यक्त करते हुए खारवेल के हस्तिगुफा शिलालेख पर प्रकाश डाला।

16 जनवरी 2004 को श्री कुन्दकुन्द भारती एवं श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के संयुक्त सौजन्य से आचार्य कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला का नवम एवं दशम सत्र का आयोजन किया गया। प्रमुख वक्ता प्रो. लालचन्द्र जैन भुवनेश्वर एवं डॉ. ऋषभचन्द्र जैन वैशाली थे। सभा की अध्यक्षता एवं धन्यवाद ज्ञापन कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय ने किया।

मन्दिर आत्मा के बीमा स्थल हैं : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली। जैनसमाज, वसन्त कुन्ज के द्वारा 13 अप्रैल से 20 अप्रैल तक पंचकल्याण समारोह का भव्य आयोजन किया गया। 21 अप्रैल को चारित्र्यचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज के 131वें जन्म-जयन्ती वर्ष में संयम-वर्ष समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ। 22 अप्रैल को सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का 80वाँ जन्म-जयन्ती समारोह भव्यता एवं गरिमापूर्ण सम्पन्न हुआ। 18 अप्रैल को पूज्य उपाध्यायश्री श्रुतसागर जी का पिच्छी परिवर्तन हुआ।

धर्म-सभा को सम्बोधित करते हुए परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा— आज सब जीवन बीमा की बात करते हैं परन्तु हमारे आचार्यों ने आत्मा के बीमा के लिए मन्दिर निर्माण की बात कही है। आचार्यश्री ने आगे कहा— चारित्र्य और ज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं। जहाँ ज्ञान है वहाँ जीव है और जहाँ जीव है वहाँ ज्ञान है। ज्ञान ही जिनका शरीर है ऐसी शुद्ध आत्माएँ सिद्धालय में विराजमान हैं।

धर्मसभाओं को पूज्य उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी, उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी, आर्यिका श्री बाहुबली माताजी, मूढबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी, तमिलनाडु के भट्टारक श्री धवलकीर्ति जी ने भी सम्बोधित किया।

पं. विजयकुमार शारन्त्री इन्दौर प्रतिष्ठाचार्य थे। सह-प्रतिष्ठाचार्य दक्षिण के पं. सुकुमार उपाध्येय सौदत्ती रहे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अनेक विद्वानों ने सभा को सम्बोधित किया।

इस अवसर पर श्री नानगराम जौहरी द्वारा नव-निर्मित पन्ना की 21 इंच पद्मासन प्रतिमा के साथ-साथ अन्य रत्नों की 20 प्रतिमाओं एवं एक सोने की प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी सम्पन्न हुई। उक्त सभी प्रतिमाएँ परमपूज्य आचार्यरत्नश्री देशभूषण जी महाराज की प्रेरणा से निर्मित क्षेत्र चूलगिरि, जयपुर में विराजमान होंगी।

पंचकल्याणक के प्रथम दिन 14 अप्रैल को दिन में 2 बजे से श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की साधारण सभा की बैठक आयोजित की गई। सभा में विभिन्न प्रान्तों से पधारे 60 से भी अधिक विद्वानों ने भाग लिया। सभा लगभग 4 घण्टे चली। इसमें कुछ प्रस्ताव भी पारित किए गये।

वसन्त कुन्ज जैन समाज ने तन, मन, धन एवं एकजुटता से इस भव्य समारोह को सफल बना कर एक आदर्श प्रस्तुत किया है। महिलाएँ जहाँ उत्साही रहीं वहीं

उन्होंने व्यवस्थाओं में पूर्ण सहयोग प्रदान कर अपनी सक्रियता को रेखांकित किया है। समारोह की विशेषता यही रही कि यहाँ कोई प्रदर्शन नहीं। अपितु इस अवसर पर 'पुरुदेव-प्रतिष्ठा' नामक एक ऐसी संग्रहणीय स्मारिका का प्रकाशन किया गया जिसमें शोधपूर्ण लेख हैं।

इस क्षेत्र में जब मन्दिर-निर्माण की बात आरम्भ हुई उस समय इस क्षेत्र में मात्र सात या आठ परिवार ही थे, परन्तु जब से मन्दिर-निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने तक लगभग एक सौ पचास परिवार स्थाई रूप से रह रहे हैं।

प्रतिदिन प्रातः देवपूजा, मंगल-प्रवचन एवं रात्रि में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत पंचकल्याणक क्रियाओं को सुन्दर और आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया गया। श्री प्रदीप जैन एवं उनके सहयोगियों ने भक्ति संगीत प्रस्तुत कर श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर दिया। रात्रि में प्रतिदिन डॉ. वीरसागर जैन के पंचकल्याणक सम्बन्धी विशेष प्रवचन हुये। ♦♦

आगम चक्षु है : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली। कुन्दकुन्द भारती में श्रुतपंचमी के पुनीत पर्व पर आयोजित दो दिवसीय कार्यक्रम का शुभारम्भ करते हुए पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा— श्रुत अथवा स्मृति रूप में चली आ रही तीर्थकरों की वाणी-जिनवाणी को जिस दिन लिपिबद्ध करने के पश्चात उसकी प्रतिष्ठा पूजा की गई वह ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी का दिन था। उस दिन से इसको श्रुतपंचमी के नाम से जाना गया। आज का दिन सम्पूर्ण भारत में पर्व के रूप में मनाया जाता है।

आचार्यश्री ने आगे कहा— मूर्ति की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कर वेदी पर विराजमान कर देना प्रतिष्ठा नहीं है। सतत भगवान के गुणों का चिंतन करना स्मरण करना प्रतिष्ठा है। आगम चक्षु हैं और पुस्तकालय ज्ञानमन्दिर। आज हमें स्वाध्याय, आगम-संरक्षण और ज्ञानमन्दिरों के निर्माण की महती आवश्यकता है।

प्रो. (डॉ.) वाचस्पति उपाध्याय ने कहा— गति और निरन्तरता कभी अपवित्र नहीं होती। ज्ञान इसलिए ही पवित्र है कि वह निरन्तर गतिशील है। राग-द्वेष से रहित जो जीव आत्मा है वही सच्ची जिनवाणी है। हमने जो सुना है उसको गुने भी श्रुतपंचमी जैसे पवित्र पर्व की सार्थकता तभी है। केवल सुनते रहें, गुने नहीं, तो सुनना अर्थहीन हो जायेगा।

डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने कहा— जब स्मरण शक्ति कम होने लगी तो ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता पड़ी। जब ग्रन्थ लिपिबद्ध होने लगे तो उनकी सुरक्षा के लिए ग्रन्थालय अथवा पुस्तकालय का निर्माण होने लगा। श्रुत, विद्या का पर्यायवाची शब्द है। ऐसा लगता है कि सबसे पहले लिखने के लिए पाषाण का

प्रयोग किया गया होगा, क्योंकि उसका नाम पाण्डुलिपि है, बाद में भोजपत्र, ताड़पत्र, काष्ठ पट्टिक, ताम्रपत्र आदि का उपयोग होने लगा। सबसे अधिक उपयोग भोजपत्र और ताड़पत्र का हुआ है, ऐसा ग्रन्थों से उल्लेखित होता है।

घटनाक्रम का उल्लेख करते हुए शास्त्री जी ने कहा— इस देश का नाम सम्राट खारवेल द्वारा निर्मित हस्तिगुफा से प्राप्त शिलालेख भगवान महावीर के निर्वाण के 84 वर्ष के पश्चात का मिलता है, जो जैन शिलालेख है।

डॉ. नलिन शास्त्री ने आगम-संरक्षण और पुस्तकालय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा— हमारे आचार्यों ने आगमों की रचना कर तीर्थंकरों की वाणी को लिपिबद्ध किया। हमारे पूर्वजों ने उनका संरक्षण कर आज की पीढ़ी को अतुल आगम भण्डार सौंपा है। उनके संरक्षण के लिए कुछ विशेष प्रकार के तेलों का उपयोग करना पड़ता था परन्तु आज इस वैज्ञानिक युग में सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की रक्षा करते हुए हजारों-हजारों वर्षों के लिए आगमों को सुरक्षित किया जा सकता है। हमें अपने आगमों के संरक्षण के लिए इस आधुनिक प्रणाली का उपयोग करना चाहिए।

डॉ. रमेश चन्द्र चतुर्वेदी ने कहा— भारतीय ज्ञान-परम्परा और भाषा को किसी एक धर्म के साथ जोड़ देना भाषा के साथ अन्याय है। भाषा तो अपने विचारों को लोक में फैलाने का माध्यम है। धर्म चिन्तन और विचारों के सम्प्रेषण के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत, विशेष तौर पर शौरसेनी प्राकृत की और विद्वानों को आकर्षित किया है।

दो दिवसीय कार्यक्रम में डॉ. वीरसागर जैन, डॉ. सुरेश चन्द्र जैन, डॉ. अशोक शास्त्री आदि विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये। सभा संचालन श्री सतीश जैन आकाशवाणी, गोष्ठी के संयोजक डॉ. सत्यप्रकाश जैन और उपसंहार डॉ. रमेशचन्द्र जैन विजनौर ने किया।



अहिंसक संस्कृति ने ही देश को महान बनाया : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली। सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कुन्दकुन्द भारती में एक विशाल सभा में चातुर्मास की स्थापना करते हुए कहा कि— संसार में केवल एक ही धर्म है वह है अहिंसा धर्म। सभी मनुष्य, पशु, पक्षियों को जीने का समान अधिकार है। आत्मानुशासन, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह का पालन करने से ही विश्व में सुख-शान्ति स्थापित हो सकती है।

आचार्यश्री ने आगे कहा— चातुर्मास सत्संग, स्वाध्याय और धर्म-ध्यान के लिए उत्तम समय है। स्वाध्याय से असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है। आलस्य दूर होता है, प्रसन्नता द्विगुणित होती है। वीतराग भगवान की वाणी यदि मन को छू जाए तो आत्मकल्याण अवश्य होगा। आचार्यश्री ने मांगलिक क्रियाओं के साथ

दिशाबन्धन किया और चातुर्मास में संयममय जीवन की प्रेरणा दी।

मूडबिंदी के भट्टारक पूज्य श्री चारुकीर्ति स्वामी जी के मंगलाचरण से धर्म सभा का शुभारम्भ हुआ।

साहू (डॉ.) रमेश चन्द्र जैन ने पावन दिवस निरूपित करते हुए कहा— जैन संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन में आचार्यश्री के अनुपम योगदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। श्रीमती सरयू दफ्तरी के जीवन से सम्बन्धित प्रेरणास्पद प्रसंगों को सुनाया, और उन्होंने सुश्री निर्मला ताई देशपाण्डे को गाँधी जी के आश्रम व्यवस्था की जीवन्त प्रतीक बताया।

साहू जी ने सामयिक परिस्थिति गिरनार जी पर असामाजिक व्यक्तियों द्वारा अतिक्रमण किए जाने का उल्लेख करते हुए कहा कि भविष्य में हमें शाश्वत तीर्थ सम्मेलनशिखर जी की तरह व्यापक आन्दोलन छेड़ना पड़ सकता है। पुनः समाज को एकजुटता दिखाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

इस अवसर पर लाल बहादुर शास्त्री विद्यापीठ के कुलपति प्रो. (डॉ.) वाचस्पति उपाध्याय ने गुरु महिमा की चर्चा करते हुए कहा— गुरु की दयादृष्टि हो तो वर्षा न होने पर अन्तस्तल सिन्धु हो जाता है। यह मणिकंचन संयोग ही है कि वर्षायोग स्थापना और ताई का अभिनन्दन हो रहा है। शक्तिसंचय गुरु के आशीर्वाद से ही होता है जो विकास के लिए अमूल्य पूंजी का कार्य करती है।

सुश्री निर्मला ताई देशपाण्डे ने आचार्यश्री को इस युग के महान् दूरदृष्टा आचार्य बताते हुए कहा— पूज्य आचार्यश्री के दर्शनों और आशीर्वाद का अवसर मुझे सरयू ताई के कारण मिला। आचार्यश्री इस युग के महान् आचार्य हैं। सरयू ताई से जब भेंट होती थी तो हम लोग यही चर्चा करते थे कि इस देश और दुनिया को हम कैसे सन्मार्ग पर ले जा सकते हैं। अब से पन्द्रह-बीस साल पहले हम लोग जब शाकाहार के विषय पर चर्चा करते थे तो लोगों को विश्वास ही नहीं होता था, परन्तु आज सारा विश्व शाकाहार की ओर अग्रसर हो रहा है।

कुन्दकुन्द भारती प्रांगण में आयोजित वर्षायोग स्थापना कार्यक्रम के अन्तर्गत पद्मश्री से सम्मानित श्रीमती सरयू दफ्तरी मुम्बई का अभिनन्दन समरोह प्रसिद्ध गाँधीवादी समाजसेविका निर्मला देशपाण्डे सदस्य राज्यसभा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने ताईजी श्रीमती सरयू दफ्तरी का परिचय और अवदानों को रेखांकित करते हुए कई मर्मस्पर्शी संस्मरणों से उपस्थित विशाल जनसमुदाय को अवगत कराया। श्री सतीश जैन ने मातेश्वरी श्रीमती ललिताबाई लालचन्द्र दोशी को विनयांजलि अर्पित करते हुए कहा— वे धन्य हैं जिन्होंने ऐसी कन्या रत्न को जन्म देकर समाज और देश पर उपकार किया है।

सतीश जी ने कहा— सरयू ताई को उनके मानवीय गुणों से स्नेहिल व्यवहार और सामाजिक, औद्योगिक उपलब्धियों को रेखांकित करने के लिए महामहिम

राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम द्वारा पद्मश्री से अलंकृत किया गया है। इससे सम्पूर्ण नारी जगत् को प्रेरणा मिलेगी और समाज भी गौरव की अनुभूति कर रहा है। आज का यह सम्मान समारोह समाज की कृतज्ञता स्वरूप है।

इस अवसर पर सुश्री निर्मला देशपाण्डे ने शॉल उढ़ाकर एवं श्रीमती सुधा जैन, श्रीमती सुषमा जैन, श्रीमती कुसुम जैन, श्रीमती सुशीला जैन ने पुष्पगुच्छ भेंट कर श्रीमती सरयू दफ्तरी का सम्मान किया।

प्राचीन श्री अग्रवाल पंचायत के प्रधान श्री चक्रेश जैन, महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार सेठी, त्रिलोक उच्चस्तरीय संस्थान के अध्यक्ष श्री त्रिलोकचन्द्र कोठारी, श्री गुलाबचन्द एवं श्री पी.सी. जैन इन्दौर, श्री अशोक शाह मुम्बई, पद्मश्री ओमप्रकाश जैन दिल्ली, कुन्दकुन्द भारती के अध्यक्ष एवं सभी न्यासियों ने एवं जस्टिस श्री रमेश चन्द्र जैन, डॉ. नलिन शास्त्री, आदि दिल्ली एवं बाहर से पधारे अनेक समाज के गण्यमान्य बन्धुओं ने ताई को पुष्पगुच्छ भेंट करके उनका अभिनन्दन किया।

अन्त में श्रीमती सरयू ताई दफ्तरी ने आभार व्यक्त करते हुए कहा— मैंने परमपूज्य आचार्यश्री के पहली बार दर्शन इन्दौर चार्तुमास के समय (1979) में किये थे, उसके बाद 1980 में मुम्बई में। मैं उनके त्याग, ज्ञान, तपश्चर्या से इतनी अभिभूति हुई। पूज्य आचार्यश्री भारत की नहीं विश्व की सम्पत्ति हैं। मैंने आचार्यश्री की मातृभाव से सेवा करने का मन बना लिया। इस काम में मुझे मेरे पति, माता, पिता एवं परिवार से सहयोग एवं समर्थन मिला। मेरे पूर्वजन्म का कौन सा पुण्य है जिसके कारण मुझे ऐसे महान् सन्त का सान्निध्य मिला। महाराजश्री ने हमें जो ज्ञान दिया है उसको मैं कभी भूल नहीं सकती। इस जन्म में पुण्य प्राप्त कर अगले जन्म में आर्यिका बन सकूँ— ऐसी मेरी भावना है। आप सभी से मुझे जो स्नेह, सहयोग और सम्मान मिला है उसके लिए मैं आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। ♦♦

आत्मानुशासन से ही शासन में पवित्रता सम्भव : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली 25 जुलाई, आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती में आयोजित एक भव्य समारोह में केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मन्त्री अर्जुन सिंह ने वर्ष 2004 का चारित्र्यचक्रवर्ती पुरस्कार प्राचीन मराठी जैन साहित्य के वरिष्ठ विद्वान् डॉ. सुभाष चन्द्र अक्कोळे (महाराष्ट्र) को प्रदान किया।

इस अवसर पर आचार्यश्री ने अपने आशीर्चन में कहा— यदि भगवान् महावीर के आत्मानुशासन अनेकान्त, अहिंसा, अपरिग्रह एवं स्याद्वाद् जैसे मूलभूत एवं सार्वकालिक सिद्धान्तों का जीवन में पालन किया जाए तो देश निश्चित रूप से उन्नति करेगा। आज शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति आ रही है भावी पीढ़ी के लिए नए आयाम खुल रहे हैं। सत्य का उद्घाटन करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। शिक्षा

के क्षेत्र में प्रामाणिकता ही सर्वोपरि होती है। ज्ञान के मामले में मिलावट नहीं चलती। आचार्यश्री ने आगे कहा कि— अपरिग्रह आचरण से ही सत्य को सुरक्षित रखा जा सकता है तथा इसी से शासन और जनसामान्य में पवित्रता का संचार हो सकता है। सर्वाधिक प्राचीन ब्राह्मी लिपि के महत्त्व की चर्चा करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि इस लिपि का अध्ययन अध्यापन भी विश्वविद्यालयों में होना चाहिए। आचार्यश्री ने श्री अर्जुन सिंह को देश के विश्वविद्यालयों में ब्राह्मी लिपि की पढाई शुरू करने की प्रेरणा भी दी। पूज्य उपाध्यायश्री निर्णय सागर और संघस्थ साधुओं ने समारोह को गरिमा प्रदान की।

श्री अर्जुन सिंह ने आचार्यश्री को विनयांजलि अर्पित करते हुए कहा— मुझे आज भी वे सभी महत्त्वपूर्ण क्षणों का स्मरण है जब मुझे आचार्यश्री की प्रेरणा और आशीर्वाद मिला है। आज व्यक्तिगत मूल्यों पर लोगों का ज्यादा ध्यान है और इसीलिए सामाजिक मूल्यों के प्रति जो चेतना होनी चाहिए वह नहीं है। सामाजिक मूल्यों की स्थापना के बिना वैयक्तिक मूल्य सारहीन हो जाते हैं। आचार्यश्री के निर्देशानुसार कार्य करने में व्यक्ति और समाज का कल्याण निहित रहता है। आचार्यश्री प्रेरणा एवं साहस के स्रोत हैं वे भारत के प्राचीन मूल्यों के प्रतीक हैं। आज ऐसे मूल्य पनप रहे हैं जो व्यक्तिपरक हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है— इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया कि ब्राह्मी लिपि के अध्ययन की व्यवस्था विश्वविद्यालय में कराने के लिए प्रयत्न करूंगा।

श्री अर्जुन सिंह एवं श्री सी.पी. कोठारी ने डॉ. सुभाष चन्द्र अक्कोळे को भारतीय प्राच्य विद्या, संस्कृति, साहित्य, दर्शन एवं ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए तिलक, माला, शॉल, गोल्ड मेडल, प्रशस्तिपत्र एवं एक लाख रुपए प्रदान कर सम्मानित किया। प्रशस्तिपत्र-वाचन डॉ. सत्यप्रकाश जैन ने किया।

विशिष्ट अतिथि श्री प्रकाश आवाडे, कपड़ा-उद्योग मन्त्री महाराष्ट्र सरकार ने उत्सव पुरुष डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे को बधाई देते हुए कहा— सौभाग्य से आचार्यश्री शान्तिसागर जी का जन्मस्थान यलगुळ मेरे निर्वाचन क्षेत्र में है और सुभाष जी महाराष्ट्र से सम्बन्धित है। वस्तुतः महाराष्ट्र सन्तों की भूमि है। अक्कोळे साहब ने जैन सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ सामाजिक चेतना को जागृत करने का कार्य भी किया है। आचार्यश्री शान्तिसागर जी के जीवनचरित्र पर भराटी में लिखित पुस्तक निश्चित ही समाज को नई दिशा प्रदान करेगी।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए श्री एन.के. सेठी जयपुर ने कहा— जैन समाज के सभी बड़े आयोजनों में आचार्यश्री का आशीर्वाद एवं प्रेरणा रही है। उन्होंने सरकार से जैनसमाज को अल्पसंख्यक दर्जा देने एवं पाठ्यपुस्तकों में प्रामाणिक संशोधन करने की अपील भी की।

श्री प्रदीप जैन के भजनों से समारोह का शुभारम्भ हुआ। धर्मसभा का मंगलाचरण करते हुए श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के

कुलपति प्रो. (डॉ.) वाचस्पति उपाध्याय ने गुरु की अनन्त महिमा का उल्लेख करते हुए कहा— सूर्य-चन्द्र बाह्य अन्धकार नष्ट कर सकते हैं परन्तु गुरु अन्तस् का अन्धकार दूर कर स्व-पर उपकार में प्रवृत्त कराते हैं। वस्तु तत्त्व का सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य गुरुकृपा के बिना नहीं हो सकता।

समारोह-संयोजक श्री सतीश जैन, आकाशवाणी ने कहा— आज का यह समारोह आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के 42वाँ श्रमण दीक्षा महोत्सव एवं चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी के 131वें जन्म वर्ष पर आयोजित संयम वर्ष का समापन समारोह भी है।

डॉ. सुभाष अक्कोळे ने सम्मान के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा— मुझे खुशी है कि समाज के लिए किए गए कार्यों के लिए भी समाज सम्मान करता है यह सन्तोष का विषय है। आचार्यश्री शान्तिसागर जी गौरव-पुरुष थे, उनके नाम पर मुझे सम्मानित किया गया है यह सम्मान पूरे महाराष्ट्र का है।

पद्मश्री श्रीमती सरयू दपतरी एवं श्रीमती अनीता कोठारी ने पुष्पगुच्छ भेंट कर अतिथियों का स्वागत किया।

श्री पुनीत जैन (प्रकाशक, नवभारत टाइम्स), डॉ. त्रिलोकचन्द्र कोठारी, श्री चक्रेश जैन, श्री निर्मल चन्द्र सेठी, श्री आर.के. जैन मुम्बई, श्री डालचन्द्र जी सागर, पद्मश्री ओमप्रकाश जैन दिल्ली, श्री सुरेशचन्द्र जैन (EIC), श्री सुरेन्द्र कुमार जौहरी, श्री सतीशचन्द्र जैन (SCJ), श्री डी.पी. कोठारी, श्री जिनेन्द्र कुमार जैन एवं श्री महेश जैन एवं दिल्ली के उपनगरों से पधारे जैन मन्दिरों के प्रधानों ने मुख्य अतिथि एवं विशिष्ट अतिथि का स्वागत किया और आचार्यश्री को विनयांजलि अर्पित की।

अन्त में श्री सी.पी. कोठारी ने परमपूज्य आचार्यश्री एवं उपस्थित साधु-संघ के प्रति अपनी विनयांजलि एवं मुख्य अतिथि एवं उपस्थित समुदाय एवं कार्यकर्ताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। कृष्णा नगर जैनसमाज के संयोजन में समस्त उपस्थित समुदाय ने 42 दीपकों से पूज्य आचार्यश्री की आरती की। ♦♦

आध्यात्मिक संगीत भक्ति प्रदान करता है : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली 12 सितम्बर। परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती में आयोजित एक भव्य समारोह में श्री डी.सी. जैन फाउण्डेशन द्वारा प्रवर्तित संगीत समयसार पुरस्कार दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर डॉ. (श्रीमती) उमा गर्ग को प्रदान किया गया। उपराज्यपाल श्री बी.एल. जोशी ने उन्हें शॉल, प्रशस्ति पत्र एवं एक लाख रुपये की राशि प्रदान कर भक्ति संगीत शिरोमणि की उपाधि से अलंकृत किया।

आचार्यश्री ने अपने आशीर्वाचन में कहा— प्राचीन काल से ही संगीत का विशेष महत्त्व है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने अपने पुत्र भरत को संगीत की

शिक्षा दी थी। आध्यात्मिक संगीत से आस्तिकता पैदा होती है तथा टैशन खत्म होती है। महिलाओं को संगीत में विशेष रुचि लेनी चाहिये। आचार्यश्री ने महिलाओं की शिक्षा पर भी विशेष बल दिया।

उपराज्यपाल श्री बी.एल. जोशी ने आचार्यश्री को भावभीनी विनयांजलि अर्पित करते हुए कहा— मुझ पर जैन संस्कारों का बचपन से ही बहुत प्रभाव है। आचार्यश्री अहिंसा की प्रतिमूर्ति हैं यह समारोह संगीत के सम्मान का समारोह है। भक्ति संगीत आत्मकल्याण का मार्ग है, सम्मान को ग्रहण करनेवाले का भी विशेष महत्त्व होता है। धर्म-ज्ञान और संगीत यदि जीवन में धारण कर लिया जाये तो जीवन की समस्याओं का समाधान निकल सकता है।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए सांसद सुश्री निर्मला ताई देशपाण्डे ने कहा— आचार्यश्री संगीत कला के ज्ञाता और अद्भुत प्रेरणास्रोत हैं। आचार्य विनोबा भावे पर भी भक्ति संगीत का प्रभाव अपनी माँ से पड़ा था। संगीत के विषय में एक बार पण्डित नेहरू ने कहा था कि महान् संगीतज्ञ एम.एस. सुब्बालक्ष्मी के विषय में कहा था कि वे संगीत के शिखर पर हैं जबकि मैं तो मात्र प्रधानमन्त्री हूँ। प्रो. वाचस्पति उपाध्याय ने कहा— संगीत वह विद्या है जिससे जीवन मुखरित होता है। साम्प्रदायिक सौहार्द, भाईचारा को बढ़ाने में संगीत का विशेष महत्त्व है।

डॉ. (श्रीमती) उमा गर्ग ने आभार व्यक्त करते हुए कहा— पूज्य आचार्यश्री की कृपा से ही मैं भक्ति संगीत से जुड़ी और उनके आशीर्वाद के कारण ही जैन भक्ति संगीत को जाना और गाया तथा समयसार, द्रव्यसंग्रह, छहढाला एवं महावीर चौपाई की कैसेट तैयार हुए।

डॉ. (श्रीमती) उमा गर्ग ने कई भावपूर्ण भजन प्रस्तुत किये। डॉ. वीरसागर जैन ने मंगलाचरण, डॉ. सत्यप्रकाश जैन ने प्रशस्ति वाचन, श्रीमती सरयू ताई दपतरी, नवभारत टाइम्स के प्रकाशक श्री पुनीत जैन, संयोजक महेन्द्र कुमार जैन एवं श्री डी.सी. जैन फाउण्डेशन के अध्यक्ष श्री राकेश जैन ने आचार्यश्री को विनयांजलि अर्पित की और अतिथियों का स्वागत किया। सभा का सफल संचालन श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने किया। ♦♦

मन बड़ा चंचल है, इसे वश में करो : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली, प्राचीन अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत द्वारा कुन्दकुन्द सभा स्थल परेड ग्राउण्ड में आयोजित दशलक्षण पर्व में उत्तम संयम धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा कि— शरीर रूपी गाड़ी को नियम के ब्रेक से सन्मार्ग पर लगाना ही संयम धर्म का पालन है। संयम से सम्यक् दर्शन पुष्ट होता है। समारोह में कुन्दकुन्द भारती के तत्वावधान में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के विकास में उल्लेखनीय योगदान के लिए

आचार्यश्री विद्यानन्द पुरस्कार श्री महावीर प्रभाचन्द्र शास्त्री शोलापुर को प्रदान किया गया। न्यायमूर्ति श्री आर. सी. जैन दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा प्रशस्ति पत्र, शॉल, स्वर्ण पदक एवं इक्यावन हजार रुपये की राशि प्रदान की गई।

न्यायमूर्ति श्री आर. सी. जैन ने कहा— विद्वानों का सम्मान करना भारतीय संस्कृति की पुरानी परम्परा रही है। इसी अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित आचार्यश्रीशान्तिसागरचरित्रम् का भी लोकार्पण किया गया। ♦♦

समाधि स्वर्ण जयन्ती वर्ष (18 सितम्बर — 2004-2005)

चारित्र्यचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज के समाधि स्वर्ण जयन्ती वर्ष उपलक्ष्य में देश के अनेक नगरों में समारोह आयोजित किये गये।

दिल्ली में सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में वैदवाड़ा दिल्ली में आयोजित एक धर्मसभा में आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर समाधि स्वर्ण जयन्ती वर्ष समारोह का शुभारम्भ करते हुए कहा कि वे आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में महान् तपस्वी प्रभावक सन्त थे। उनका जीवन चरित्र नई पीढ़ी को पता चलना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि सूर्य दिन में तथा चन्द्रमा रात को प्रकाश देता है, लेकिन साधु हर समय ज्ञान का प्रकाश देता है। यदि सन्त न होते तो यह संसार जल जाता।

इस अवसर पर आचार्य शान्तिसागर जी के जीवन पर मराठी भाषा में प्रकाशित पुस्तक 'युगप्रवर्तक तेजो भास्कर' का लोकार्पण भी हुआ।

परेड ग्राउण्ड, न्यू रोहतक रोड, भारत नगर, अशोक विहार, शालीमार बाग, रोहिणी, प्रशान्त विहार, हर्ष विहार, पश्चिम विहार, विकासपुरी, जनकपुरी, पालम गाँव, पालम कालोनी आदि क्षेत्रों में कार्यक्रमों का आयोजन हुआ। सदर बाजार दिल्ली कैंट (सैनिक क्षेत्र) में सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में चारित्र्यचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज पक्षी स्वास्थ्य केन्द्र का शिलान्यास हुआ। ज्ञातव्य है कि आज से 75 वर्ष पूर्व (सन् 1931) में आचार्यश्री शान्तिसागर जी का जब दिल्ली में चातुर्मास हुआ उस समय पूरे विश्व में पहली बार एक धर्मशाला में पक्षियों के अस्पताल का शुभारम्भ किया गया था। आज दिल्ली के लाल मन्दिर में स्थित पक्षियों का अस्पताल उसी का विशाल रूप है, जो जीव दया के लिये विश्वविख्यात है।

जयपुर (राजस्थान) में

पूज्य मुनिश्री ऊर्जर्यन्त सागर जी के सान्निध्य में समाधि स्वर्ण जयन्ती वर्ष का भव्य आयोजन जयपुर में सम्पन्न हुआ। ♦♦

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान

श्री कुन्दकुन्द भारती प्राकृत शोध संस्थान, नई दिल्ली के निदेशक प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन के लिये अमेरिका की विश्वविख्यात ए.बी. इन्स्टीट्यूट ने उनकी विद्वत्तापूर्ण शोध-खोज, प्राचीन अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का सम्पादन-प्रकाशन, प्राकृत एवं जैन-विद्या के प्रचार-प्रसार, दीर्घकालीन शैक्षणिक एवं सामाजिक सेवाओं आदि का मूल्यांकन कर उन्हें सन् 2004 का विशिष्ट विद्वान् (Man of the Year 2004) घोषित किया है। इस अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के सम्मान-पुरस्कार प्राप्ति के लिये डॉ. जैन को हार्दिक बधाइयाँ एवं अनेकशः मंगल-कामनाएँ। ♦♦

प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन स्वयम्भू पुरस्कार से सम्मानित

प्राकृभाषा एवं साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान को सम्मानित करने हेतु जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रवर्तित 'स्वयम्भू पुरस्कार' वर्ष 2003 प्राकृत-अपभ्रंश के मनीषी प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन, उदयपुर को कवि विबुध श्रीधर की कृति सुकुमासामिचरित के सम्पादन हेतु 6 अप्रैल 2004 को श्री एन.के. सेठी की अध्यक्षता की में राजस्थान सरकार में मन्त्री डॉ. किरोड़ीमल मीणा द्वारा भव्य समारोह में समर्पित किया गया। सम्मान में 21,000/- रुपये की राशि, प्रशस्ति पत्र, प्रतीक चिह्न, शॉल आदि भेंट किए गए। पुरस्कृति कृति का शीघ्र ही जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी से प्रकाशित की जायेगी। प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन को हार्दिक बधाई। ♦♦

श्री नरेश कुमार सेठी तीर्थदोत्र कमेटी के अध्यक्ष निर्वाचित

श्री नरेश कुमार सेठी, जयपुर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस उपलक्ष्य में श्रीमहावीरजी में, एक भव्य सम्मान समारोह का आयोजन हुआ जिसकी अध्यक्षता करते हुए ब्र. कमलाबाई ने श्री सेठी को आशीर्वाद देते हुए आशा व्यक्त की कि वे जिस प्रकार श्रीमहावीरजी के अध्यक्ष के रूप में सेवा कर रहे हैं, उससे भी अधिक मेहनत से भारतवर्ष के तीर्थों की सेवा करेंगे। श्री सेठी ने अपने उद्बोधन में कहा कि वे तीर्थों के विकास एवं संरक्षण में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे तथा उसके लिए सरकारी अनुदान से उन्हें कोई परहेज नहीं है। ♦♦

एक स्पष्टीकरण

'प्राकृतविद्या' (जुलाई-दिसम्बर-2003) में पृष्ठ 196 पर डॉ. रत्नचन्द्र अग्रवाल ने लिखा है कि— कक्कुक शिलालेख प्राकृतभाषा में नहीं है। परन्तु मैंने अपने लेख में जो कुछ लिखा था वह प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान् प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन की पुस्तक 'शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं उसके साहित्य का इतिहास' के आधार पर ही लिखा है, जिसमें पृष्ठ 154 पर सम्पूर्ण पाठ दिया हुआ है। जिसे सन्देह हो कृपया वहाँ देख लें।

—प्रो. शशिप्रभा जैन, नई दिल्ली

महावीर का धर्म पुरुषार्थवादी है : आचार्यश्री विद्यानन्द

नई दिल्ली। श्री दिगम्बर जैन महासभा रोहिणी द्वारा आयोजित एक विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा— धर्म को सही रूप में प्रसारित व प्रचारित किया जाये तो वह अमृत है। विचारों में अनेकान्त आहार में अहिंसा वाणी में स्यादवाद और समाज में अपरिग्रह ही सर्वोदय तीर्थ हैं।

इस विशाल भारत देश में अनादिकाल से अनेक महापुरुष होते रहे हैं। वे महापुरुष आगे आने वाली सन्तति के लिये अपने सिद्धान्त रूप सम्पत्ति छोड़कर गये हैं। हमें उनसे सम्पत्ति रूप में अहिंसा, सत्य, सर्वोदय, अनेकान्त आदि सिद्धान्त प्राप्त हुये हैं। भगवान महावीर का सिद्धान्त पुरुषार्थवादी है। उनका कहना है कि पुरुषार्थ से धन, समृद्धि और जीवन में सफलता प्राप्त होती है। दीपावली पर केवल कागज की लक्ष्मी की पूजा करने से धन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस अवसर पर चारित्र्यचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज की समाधि स्वर्ण जयन्ती वर्ष का उल्लेख करते हुए श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने कहा— दो शब्द हैं चक्रवर्ती और चारित्र्यचक्रवर्ती। चक्रवर्ती शब्द जैनागमों में विस्तार से मिलता है परन्तु चारित्र्यचक्रवर्ती उपाधि का उल्लेख 20वीं शताब्दी के प्रथम आचार्यश्री शान्तिसागर जी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। दोनों चक्रवर्तियों के पास अतुल सम्पत्ति है चक्रवर्ती की सम्पत्ति संसार बढ़ाती है और चारित्र्यचक्रवर्ती की सम्पत्ति (तप, त्याग, ध्यान, ज्ञान, क्षमा, समता) संसार को घटाती है, उन्होने अपनी सम्पत्ति को उदारतापूर्वक बाँटा जिसके परिणामस्वरूप आज हमें दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन सुगमता से हो रहे हैं, आज की यह मुनि परम्परा उनकी ही देन है, 20वीं शताब्दी के प्रथम आचार्यश्री शान्तिसागर जी हैं तो 20वीं शताब्दी के प्रथम उपाध्याय श्री विद्यानन्द जी हैं जो आज हमारे समक्ष आचार्य रूप में विराजमान हैं।

मुख्य अतिथि पूर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री रामेश्वर ठाकुर ने कहा— मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मेरा वही क्षेत्र है जो भगवान महावीर का जन्म स्थान है उस क्षेत्र के विकास के लिए मेरा पूर्ण योगदान रहेगा। दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष निर्मल कुमार सेठी ने 4 नवम्बर को वैशाली में होने वाले शिलान्यास समारोह में आने के लिए समाज का आह्वान किया। डॉ. वीरसागर जैन के मंगलाचरण से श्री महेश चन्द्र जी कलकत्ता वालों की अध्यक्षता में सभा शुभारम्भ हुई, दीप प्रज्ज्वलन किया श्री बालचन्द्र जैन ने व श्री सुभाष चन्द्र जैन सैक्टर-15 ने पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी को प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ भेंट किया, श्री मोहन लाल जैन ने अतिथियों का स्वागत किया।

श्री गजेन्द्र बज जैन (महासचिव) ने सभा का सफल संचालन एवं संयोजन किया। इस अवसर पर व्रती श्रावक-श्राविकाओं का अभिनन्दन किया गया और इन्हें प्रशस्ति-पत्र भेंट किए गए।

वैशाली में भगवान महावीर मन्दिर का शिलान्यास समारोह सम्पन्न

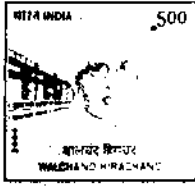
दिनांक 4 नवम्बर, 2004, वैशाली-बासोकुण्ड। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की पावन जन्मभूमि बासोकुण्ड-वैशाली में बनने वाले भव्य जिनालय का शिलान्यास दिल्ली के प्रसिद्ध श्रेष्ठी श्री सुरेन्द्र कुमार जैन जौहरी के सुपुत्र श्री अर्जुन जैन एवं उनके परिवारजनों के शुभ हरतों से विधिविधानपूर्वक सम्पन्न हुआ। समारोह की अध्यक्षता करते हुए भारत सरकार के ग्रामीण विकास मन्त्री डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह ने अपने प्रभावी उद्बोधन में वेद, पुराण, साहित्य एवं धर्मग्रन्थों के उद्धरण देकर बासोकुण्ड स्थित अहल्य भूमि को भगवान महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करते हुए भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा लगाए गए पावन शिलापट्ट का उल्लेख किया। आज आतंकवाद का मुकाबला भगवान महावीर के अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाकर ही किया जा सकता है। आपने बताया कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भगवान महावीर के सिद्धान्तों पर चलकर ही देश को आजाद कराया और मोहनदास कर्मचन्द गाँधी से महात्मा गाँधी बन गए। आपने जैन समाज से अनुरोध किया और कहा— भव्य मन्दिर के निर्माण के साथ-साथ समाज को लोकोपयोगी शैक्षणिक कार्य हाथ में लेकर स्थानीय लोगों को लाभान्वित करने की दिशा में सजगतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। आपने प्राकृत विद्यापीठ को शीघ्र ही मानित विश्वविद्यालय बनाने की पहल करने की चर्चा की।

तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री एन.के. सेठी (जयपुर) ने भगवान महावीर जन्मभूमि पर बनने वाले विशाल जिन मन्दिर के निर्माण की योजना पर विस्तार से प्रकाश डाला और भगवान महावीर के लोक कल्याणकारी सन्देश एवं बहुप्रतिक्षित जिनमन्दिर के निर्माण को द्रुत गति से पूर्ण करने की आशा व्यक्त की।

जैनकाशी के रूप में विख्यात मूडबिद्री के भट्टारक स्वस्तिश्री चारुकीर्तिजी के मंगल सान्निध्य में एवं मार्गदर्शन में विधि-विधानपूर्वक शिलान्यास विधि सम्पन्न हुई, उन्होंने अपने उद्बोधन में सन्तों के मन्दिर निर्माण हेतु प्राप्त आशीर्वाद का उल्लेख करते हुए विशाल मन्दिर के निर्माण कार्य को शीघ्र सम्पन्न होने की कामना की और इस कार्य में लगे कार्यकर्त्ताओं को अपना मंगल आशीर्वाद प्रदान किया।

समारोह प्रातः 8 बजे प्राकृत शोध संस्थान के प्रांगण से निकाली गई भव्य शोभा यात्रा के साथ प्रारम्भ हुआ। अहल्य भूमि पर दिल्ली के ही श्री नरेन्द्र कुमार जैन एवं उनके परिवार द्वारा ध्वजारोहण किया गया। कार्यक्रम का शुभारम्भ दिल्ली से पधारने श्री प्रदीप जैन के मंगलाचरण से हुआ। सभा का संचालन श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) दिल्ली ने किया। सम्पूर्ण विधि विधान जयपुर से पधारने पं. निर्मल कुमार बोहरा द्वारा किया गया। छात्र-छात्राओं द्वारा मनमोहक लोक-नृत्य एवं भजन प्रस्तुत किए गए। श्री कैलाश चन्द्र पाण्डिया पटना ने उपस्थित समुदाय एवं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान करनेवालों महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त किया। ♦♦

वालचन्द हीराचन्द पर डाक टिकट जारी



नई दिल्ली, दिनांक 23.11.04। प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने नई दिल्ली में आयोजित एक समारोह में स्वर्गीय सेठ वालचन्द हीराचन्द के सम्मान में डाक टिकट जारी किया। डॉ. सिंह ने कहा कि वालचन्द हीराचन्द ने राह में आने वाली बाधाओं की न कभी परवाह की और न कभी किसी रियासत की उपेक्षा की। उन्होंने सिर्फ काम किया, बड़ा सपना देखा

और उसे पूरा किया। इस अवसर पर केन्द्रीय कृषि मन्त्री शरद पवार, पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर, अरुण शौरी, अर्थशास्त्री प्रो. जगदीश भगवती और संचार व सूचना प्रौद्योगिकी राज्यमन्त्री डॉ. शकील अहमद समेत कई विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। उन्होंने आगे कहा कि हमारे देश के आज के दौर में वालचन्द हीराचन्द जैसे व्यापारियों की आवश्यकता है। हीराचन्द जी ने अपने साम्राज्य का सृजन उन उद्यम क्षेत्रों में प्रवेश करके किया जिनमें ब्रिटिश राज का एकाधिकार था। आप पोत निर्माण, वायुयान निर्माण तथा अटोमोटिव निर्माण कम्पनियों की स्थापना कर अपने समय के अग्रणी प्रेरणास्रोतों जे.आर.डी. टाटा और घनश्याम दास बिरला के समक्ष पहुँच गए थे। हीराचन्द ने अपना व्यापार फैलाने के साथ ही देश की आजादी की लड़ाई में सक्रिय भूमिका निभाई थी। एच.सी.सी. के अध्यक्ष व महानिदेशक अजीत गुलाबचन्द ने वालचन्द हीराचन्द की अग्रणी उद्यमशीलता तथा उनकी राष्ट्रीयता के बीच के रिश्तों को रेखांकित किया।

सेठ वालचंद हीराचंद जैन की जिन्दगी वास्तव में मुश्किलों पर उनकी कर्मठता की विजय थी। सरदार वल्लभभाई पटेल के अनुसार आधुनिक भारत का निर्माण करने में जिन लोगों का सहयोग गिनाने लायक है, उनमें सेठ वालचंद हीराचंद का नाम हमेशा सम्मान से लिया जाएगा। लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के बारे में जगजाहिर है कि वह एक-एक शब्द चुनकर बोलते थे। यानि उनकी जुबान से निकला एक-एक शब्द वजन रखता था। इसी लौहपुरुष ने वालचंद हीराचंद जी की प्रशंसा करते हुए कहा था कि 'वालचंद निराशा पर आशा, अविश्वास पर विश्वास और दुर्भाग्य पर सौभाग्य की विजय के प्रतीक हैं।' ये शब्द वालचंद पर बिल्कुल खरे उतरते हैं।

अपने समकालीन उद्यमियों की तरह वालचंद भी कष्ट राष्ट्रभक्त थे। इन्होंने आजादी के पहले और बाद के भारत को औद्योगिक विकास के मार्ग पर डाला। भारत में शिपिंग उद्योग की शुरुआत करने के साथ-साथ बंगलौर में एयरक्राफ्ट कारखाने की नींव डाली। आज की हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड, कल की हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी ही है। इसके अलावा वालचंद जी ने 1947 में 'प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स' की स्थापना करके भारत में पहली बार कार उत्पादन की शुरुआत की। ♦♦

जैन समाज के शीर्ष नेता एवं पत्रकारिता के शिखर पुरुष

साहू रमेशचन्द्र जैन का दुःखद निधन



साहू रमेशचन्द्र जैन

दिगम्बर जैन समाज के शीर्ष नेता श्रीमान् साहू रमेशचन्द्र जैन का दिनांक 22 सितम्बर, 2004 को दुःखद निधन हो गया है। दिनांक 23 सितम्बर को प्रातः 9 बजे बालाश्रम, दिल्ली में उनकी उठावनी रखी गई थी, जिसमें केन्द्रीय मन्त्री, न्यायाधीश, सांसद, विधायक, निगम पार्षद इत्यादि समाज के प्रमुख नेता एवं समाजसेवी उपस्थित थे। श्री लालकृष्ण आडवाणी पूर्व उपप्रधानमन्त्री, डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह केन्द्रीय मन्त्री, श्रीमती शीला दीक्षित मुख्यमन्त्री दिल्ली, डॉ. साहिब सिंह वर्मा पूर्व केन्द्रीय मन्त्री, डॉ. एल.एम. सिंघवी, श्री आर.के. जैन एडवोकेट,

श्री निर्मल कुमार सेठी, श्री नरेश कुमार सेठी, श्री अरविन्द दोशी, श्री वसन्तलाल दोशी, श्री शरद जैन, श्री चक्रेश जैन, डॉ. बिमल जैन आदि ने उनके चित्र पर पुष्प अर्पित किये।

साहू जी का जन्म 15 अगस्त, 1925 को रायबहादुर साहू जुगमन्दर दास के घर नजीबाबाद (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनका विवाह रोहतक के डिस्ट्रिक्ट एवं सेशन जज श्री सुल्तानसिंह की सुपुत्री श्रीमती चन्द्रकान्त जैन से हुआ था। वे अपने पीछे अपनी पत्नी और दो पुत्र श्री अखिलेश जैन एवं श्री शैलेश जैन को छोड़ गये हैं।

आपका शिक्षा, समाजसेवा, धर्मोत्थान एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान रहा है। आप देश के सबसे बड़े समाचारपत्र समूह टाइम्स ऑफ इण्डिया के कार्यकारी निदेशक, टाइम्स ऑफ इण्डिया के प्रबन्ध सम्पादक तथा नवभारत टाइम्स के सम्पादक भी रहे हैं। इसके अतिरिक्त इकोनॉमिक टाइम्स व सान्ध्य टाइम्स के प्रकाशक का दायित्व भी उन्होंने बड़ी कर्मठता से निभाया है। देश की सबसे बड़ी न्यूज एजेंसी टाइम्स ऑफ इण्डिया व इण्डियन न्यूज पेपर सोसायटी तथा भारत सरकार के भारतीय जनसंचार संस्थान के अध्यक्ष भी रहे हैं। इतने दीर्घ अनुभव के कारण ही आपको पत्रकारिता का शिखर पुरुष कहा जाता था। देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा आपकी सुदीर्घ सेवाओं के लिए श्रद्धांजलि समर्पित की गई।

श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने कहा कि श्री रमेश चन्द्र जी व्यक्ति नहीं संस्था थे, उनके निधन से जैन समाज के इतिहास का एक अध्याय पूर्ण हो गया।

कुन्दकुन्द भारती एवं प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से भव्यात्मा को सुगतिगमन, बोधिलाभ की मंगलकामना के साथ विनम्र श्रद्धासुमन समर्पित किये गये। ◆◆

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मन्त्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृथा ऑफसैट प्रा.लि., नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया, फेस-II, नई दिल्ली-110028 में मुद्रित। भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89



डॉ. लालचन्द जैन भुवनेश्वर को आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार वर्ष 2000 ई.
प्रदान करते हुए प्रो. सत्यव्रत शास्त्री



भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार वर्ष 2001 ई.
स्वीकार करते हुए डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, वैशाली



सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज का 80वाँ जन्मजयन्ती समारोह



श्री नानग राम जैन जौहरी द्वारा निर्मित रत्नप्रतिमाओं पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव वसन्त कुंज, नई दिल्ली में संस्कार करते हुए पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ससंघ



'पद्मश्री' से सम्मानित होने के उपलक्ष्य में श्रीमती सरयू दपतरी का कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली में सम्पूर्ण जैन समाज द्वारा अभिनन्दन



श्री निर्मल कुमार जैन फडकुले को चारित्रचक्रवर्ती पुरस्कार प्रदान करते हुए मानव संसाधन विकास मन्त्री श्री अर्जुन सिंह। साथ में हैं- श्री प्रकाश कल्लपा अवाडे



डॉ. (श्रीमती) उमा गर्ग को संगीत-समयसार पुरस्कार प्रदान करते हुए दिल्ली के उपराज्यपाल श्री बी.एल. जोशी



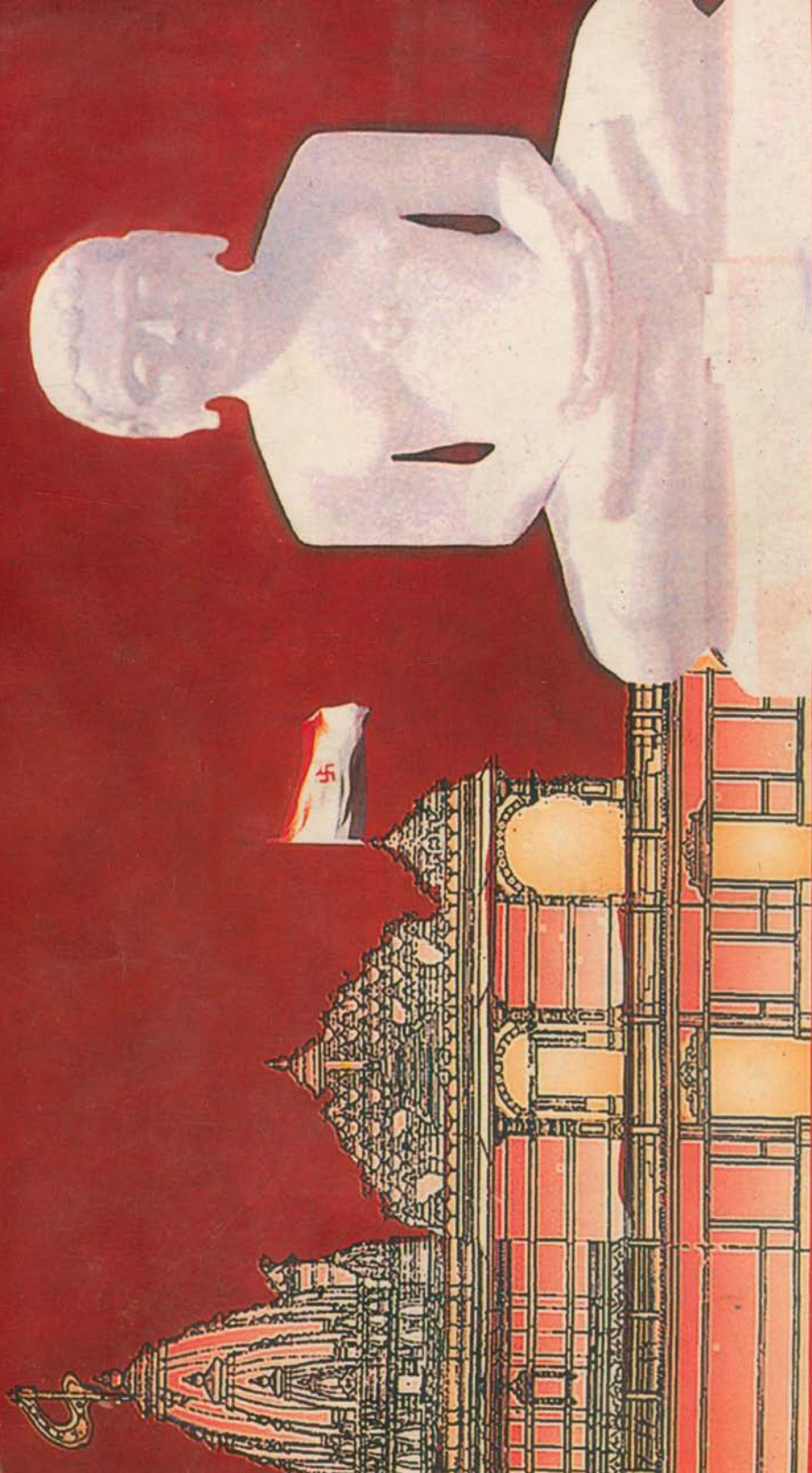
श्री महावीर प्रभाचन्द्र शास्त्री, सोलापुर को आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार वर्ष 2002 ई. प्रदान करते हुए जस्टिस श्री आर.सी. जैन



तीर्थकर वर्द्धमान महावीर की जन्मभूमि विदेह कुण्डपुर में 4 नवम्बर 2004 को आयोजित शिलान्यास-समारोह के पुनीत अवसर पर पूजा करते हुए श्री सुरेन्द्र कुमार जैन जौहरी, दिल्ली के सुपुत्र श्री अर्जुन जैन एवं परिवार।



अहल्य भूमि (वैशाली) में ध्वजारोहण से पूर्व श्री नरेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली का स्वागत करते हुए श्री कैलाश चन्द्र पाण्डिया, पटना



तीर्थकर वर्द्धमान महावीर की जन्मभूमि विदह कुण्डपुर वैशाली बिहार
में प्रस्तावित भगवान महावीर जिनालय एवं भव्य मूर्ति